Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PARISHODH 1976

G. K. V.
LIB.
[illegible]RDWAR

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111502

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

२३१४१६

111502

111502

२३

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम

सम्पादकीय

डॉ० इन्द्रनाथ मदान ३ डॉ० गोविन्दनाथ राजगुरु

शोध निबन्ध

'कृति की राह' का कोलम्बस ७ डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा

अज्ञेय के काव्य में मिथकीय परिवेश १३ डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव

पहाड़ी भाषाओं की क्रिया पद-रचना में समभागी तत्त्व २५ डॉ० देवीदत्त शर्मा

धूमिल का कविता संसार और 'पटकथा' की भूमिका ३८ डॉ० अतुलवीर अरोड़ा

नयी कविता : सामाजिक संसक्ति ४३ डॉ० पे० अ० राजु

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में नायक की स्थिति ४७ डॉ० जगमोहन चोपड़ा

वैशेषिक एवं आधुनिक परमाणुवाद ५२ डॉ० अरुणा गोयल

पारसी रंगमंच और तत्कालीन दर्शन ५७ श्री दर्शनकुमार जैन

अपभ्रंश में कृष्णकाव्य ६० डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस'

तेलुगु लोकगीतों में नारी भावना ७२ स० पशुपति राव

हिन्दी उपन्यास साहित्य को बिहार की देन ८० सुरेशचन्द्र झा 'किंकर'

साहित्य मूल्यांकन के मानदण्ड निर्धारण की समस्या ८७ श्री राकेश प्रेम

आलोचक श्री सी० आर० रेड्डी और उनका 'कवित्व तत्त्व विचारमु' ९४ स० कृष्ण बाबू

हस्तलेख परिचय

विशुद्ध आध्यात्म व दर्शन के महाकवि १०१ श्री वाहिद काजनी

प्रसिद्ध कवि आनन्द का अज्ञात ग्रन्थ रासपंचाध्यायी १०७ डॉ हिम्मतसिंह जैन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

H. L.
PARISHODH
1966
G. K. V.
Lib
HARDWAR

सम्पादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० गोविन्दनाथ राजगुरु
हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

परिशोध परिवार के चिरपरिचित डा० इन्द्रनाथ मदान पहली अप्रैल १९७५ को अपने कार्य-भार से मुक्त हो चुके हैं। "परिशोध" के वे संस्थापक-संपादक रहे हैं। "परिशोध" को गंभीर शोध तथा समीक्षक के क्षेत्र में प्रतिष्ठित कराने का श्रेय डॉ० मदान को ही दिया जा सकता है।

डॉ० मदान की सपाट, दो टूक और बेलाग बात कह सकने की क्षमता उनके लेखन तथा उससे भी अधिक उनके "प्रवचनों" में कहीं भी पाई जा सकती है। डॉ० मदान का यह "सपाटवाद" उनकी शक्ति भी है और साथ ही उनकी सीमा भी। डॉ० मदान अपने लेखन के स्तर पर ईमानदार रहे हैं। जो कुछ समझा अथवा जैसा कुछ सूझा वह सब बड़ी बेबाकी के साथ वे लिखते और कहते रह हैं। मैथिलीशरणगुप्त के कवित्व को दी गई उनकी चुनौती संभवतः आधुनिक युग की सबसे बड़ी चुनौती है। "कामायनी" का "कृति की राह से गुजर" कर एक नया मूल्यांकन कर सकना, डॉ० मदान की लीक से हट कर सोच-लिख और कह सकने की क्षमता का प्रमाण है।

हिन्दी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय के वे आदि पुरुष हैं। इस विभाग को अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त शोध के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रतिष्ठा उन्हीं के कारण मिली है। वस्तुतः पंजाब को हिन्दी के मानचित्र पर प्रतिष्ठित करने में डॉ० मदान का नाम हमेशा आदर के साथ लिया जा सकेगा। इस विभाग के साथ डॉ० मदान मानसिक रूप में इतना लगाव महसूस करते हैं कि आज भी वे आंशिक रूप से—एक विशेष योजना के अन्तर्गत, इस विभाग के साथ संबद्ध हैं।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान इस विभाग के सभी सदस्यों के प्रेम तथा कभी कभी सहानुभूति के भी पात्र रहे हैं। "नारीकेल-सदृश" उनके बहिरंग के अंतराल में किसी सूक्ष्म-स्तर पर बहते हुए कोमल भावनाओं के स्रोत का साक्षात्कार प्रायः हम सभी ने समय समय पर किया है। छात्रों, विशेषतः शोध-छात्रों तथा विभाग के सभी सहयोगियों के साथ उनका निश्छल व्यवहार, कटुता-"कोटेड" उनका मधुर आलाप तथा सदाशयता से भरपूर उनका पैना पत्र-व्यवहार हम में से अनेक व्यक्तियों को देखने-सुनने और झेलने को मिलता रहा है। उनके स्वास्थ्य तथा उनकी सक्रियता को देख कर हम आश्वस्त हैं कि उनका चिंतन और मनन, विशेषतः लेखन, अपने लिए नए आयाम खोज सकेगा। तथास्तु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध निबन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा
हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।

'कृति की राह' का कोलम्बस

व्यक्तिगत

'परिशोध' के सम्पादक महोदय की ओर से जब आलोचक इन्द्रनाथ मदान पर 'कुछ' लिख देने का आग्रहपूर्ण निमन्त्रण मुझे मिला तो हैरानी के साथ परेशानी भी हुई। हैरानी इस लिए कि लगभग चौदह वर्षों से डॉ० मदान के छात्र, सहयोगी और कभी-कभी विरोधी की भूमिकाएँ निभाते हुए भी मैंने कभी इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि उनके 'आलोचक' पर मैं भी कुछ लिख सकता हूँ। परेशानी इसलिए हुई कि मदान 'आधुनिक' हैं। कम से कम मदान खुद इस बात को मानते हैं और मैं ठहरा ठेठ परम्परा-प्रेमी! आधुनिकता और परम्परा में वैसे ही कोई ताल-मेल नहीं है और फिर मेरा तो 'डिसिप्लिन' ही (बकौल इन्द्रनाथ मदान) बिल्कुल अलग है। अतः 'आधुनिक' को समझने के लिए 'पारंपरिक' को कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, इसका अनुमान केवल भक्त भोगी ही लगा सकता है। मेरी परेशानी का बायस भी यही रहा है। अब, जबकि ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, मैं अपने भावी पाठक से इस बात की अपेक्षा निश्चित रूप से किये हुए हूँ कि वह इस लेख को पढ़ते समय (या पढ़कर) मेरी सीमाओं और परेशानियों का अन्दाजा लगाता हुआ मेरे प्रति मौखिक या मानसिक सहानुभूति अवश्य प्रकट करे।

जैसा कि पहले ही कह चुका हूँ, मुझे अध्यापक मदान का छात्र और आलोचक मदान का अदना-अनजाना सा पाठक होने का अधिकार प्राप्त है। उनके द्वारा लिखित आलोचना-साहित्य को परखने के लिए एक विशेषज्ञ की दृष्टि मेरे पास नहीं है। इसलिए इन पृष्ठों के माध्यम से जो कुछ भी आलोचक मदान के बारे में कहने-लिखने जा रहा हूँ वह सब विशुद्धतः एक साधारण पाठक की प्रतिक्रिया है। अलबत्ता इस प्रतिक्रिया के थोड़ी सी रंगीन हो जाने की संभावना को इस लिए भी नहीं नकारा जा सकता कि मैंने आलोचक के साथ ही 'व्यक्ति' मदान को भी काफी करीब से जाना पहचाना है। मेरे 'व्यक्ति' के पास 'व्यक्ति' मदान के सम्बन्ध में बहुत से कड़वे-मीठे अनुभव भी हैं। कड़वे अधिक और मीठे कम! अतः आलोचक मदान की चर्चा करते समय यदि अवचेतनतः चर्चा का रूप 'सब्जेक्टिव' हो गया प्रतीत हो तो इसे इन्हीं अनुभवों का प्रभाव मानना चाहिए जिनके लिए लेखक और लेखनायक समान रूप से उत्तरदायी हैं।

इस हल्फिया बयान के बाद अब आलोचक मदान सम्बन्धी चर्चा का आरम्भ किया जाता है।

\+ \+ \+

शायद यह बात बहुत से आधुनिक और आधुनिक कहलाने वाले लोगों को नागावार गुजरे लेकिन यह एक ठोस (इसके विरोधियों के लिए कटु) सत्य है कि हिन्दी आलोचना का केन्द्रबिन्दु स्व० पंडित रामचन्द्र शुक्ल हैं। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति के स्थान एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन करते समय यदि पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह रहित दृष्टि अपनाई जाय, तो यह देखना नितान्त आवश्यक एवं समीचीन होता है कि विवेच्य व्यक्ति (या आलोचक) किस सीमा तक शुक्ल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा प्रतिपादित आलोचना के 'स्कूल' का पक्षधर या विरोधी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी में समष्टिवादी आलोचना का प्रवर्तन या सूत्रपात शुक्ल जी के द्वारा ही हुआ था। यह बात दूसरी है कि शुक्ल जी का समष्टि-चिन्तन 'लोकमंगल' के आदर्शों में ही घुट कर रह गया। परन्तु इस आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात करके शुक्ल जी हिन्दी में आलोचना की एक महीयसी परम्परा का प्रवर्तन कर गये। शुक्ल जी के बाद उनके सुयोग्य शिष्यों, विशेषतया नन्द दुलारे वाजयेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और कृष्ण शंकर शुक्ल आदि ने उनके द्वारा प्रतिपादित समीक्षा शैली में यथा-शक्ति यथेष्ठ एवं सार्थक परिवर्धन किये। किन्तु इस समय तक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में कुछ नई समीक्षा-शैलियों का सूत्रपात भी हो गया था। इन्हें मार्क्सवादी, रोमांटिक और मानवतावादी शैलियों के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। इन समीक्षा शैलियों के पक्षधर आलोचकों का शुक्ल-प्रवर्तित समीक्षा सम्प्रदाय के साथ प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध नहीं था। इनकी डफलियों के स्वर उनके मृदंग से पूर्णतः भिन्न और लगभग विपरीत थे। अतः इन आलोचना शैलियों के प्रस्तोता आलोचकों को सुविधा के लिए शुक्ल जी के 'अशिष्य भंडल' के आलोचक कहा जा सकता है।

इस प्रकार आलोचक इन्द्रनाथ मदान के आलोचना के अखाड़े में प्रविष्ट होने के समय तक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में शुक्लीय और अशुक्लीय आलोचना के दो खेमे भलीभाँति स्थापित हो चुके थे। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में मदान का प्रवेश सन् 1938 से माना जा सकता है जबकि उन्होंने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वेक्षण' नामक विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से 'डाक्टरेट' प्राप्त की। मदान की इस आरंभिक शोधपरक समीक्षा कृति में उनके आलोचक की एक विचित्र सी झलक मिलती है। इस आधार पर सबसे पहली रेखांकित करने योग्य बात यह उभरती है कि 'आधुनिक' शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य के संदर्भों में करने वालों में मदान सबसे पहले हैं। इसे कालान्तर में उनके द्वारा बहुकथित एवं व्याख्यायित 'आधुनिकता' के बीज रूप में स्वीकारा जा सकता है। इसी प्रसंग में कुछ और बातें भी विचारणीय हैं। उनकी इस आरम्भिक कृति (जो कि अब लगभग दुष्प्राप्य है) के माध्यम से यह भी आभासित होता है कि यद्यपि मदान शुक्ल जी की अशिष्य परम्परा के आलोचकों की कोटि में आते हैं परन्तु उनकी तत्कालीन चिन्तना पर शुक्ल जी के विचारों (संस्कारों की तो कैसे कहें) की गहरी छाप है। किन्तु इस छाप को धूमिल करने में मदान के पाश्चात्य आलोचना एवं साहित्य के अध्ययन की बड़ी अहम भूमिका है। लगता है कि अपनी आरम्भिक आलोचनात्मक कृतियों के लेखन के दौरान, फैशन के रूप में ही सही, मदान ने मार्क्सवादी साहित्य एवं दर्शन को पढ़ा और किसी हद तक समझा अवश्य था। इस अध्ययन एवं चिन्तन का परिणाम यह हुआ कि उनकी आरम्भिक समीक्षा कृतियों में शुक्लीय आलोचना की शब्दावली का प्रयोग तो हुआ है लेकिन बदले हुए अर्थापनों और संदर्भों में! इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मदान की आलोचना के मूल में समष्टि-चिन्तन भी है और समाज भी। किन्तु उनकी आलोचना की परिधि में आकर समाज शब्द 'द्वन्द्वात्मक समाज के तात्पर्य में अनुदित' हो गया है।

शुक्ल जी ने अपनी प्रत्येक आलोचनात्मक कृति में किसी न किसी रूप में लोकमंगल की उपादेयता को अवश्य प्रतिपादित किया और यह प्रतिपादन आमफहमी की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ उस युग की एक समीक्षा रूढ़ि का आभास देने लगा और इसका प्रयोग एक 'रीति' के रूप में होने लगा उस युग का युवा आलोचक मदान वह पहला व्यक्ति है जिसने शुक्लीय संस्कारों से मुक्त रहकर आलोचना की भाषा में नितान्त नये अर्थों और नवीन संदर्भों में 'समाज' और 'सामाजिक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। शुक्लोत्तर आलोचना में इन शब्दों का प्रयोग करने वाले आलोचक उन दिनों इने-गिने ही थे और मदान का नाम इनमें निश्चित रूप से अग्रगण्य था। इस प्रकार आलोचना की संक्रमणशीलता के उस युग में 'मदान ने समाज की अवधारणा में बहुत कुछ परिवर्तन किये,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्हें बाद में अपने काव्यालोचन में उन्होंने इस्तेमाल भी किया।' एक आलोचक के रूप में इसे उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि एवं देन के रूप में आँका जा सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि आलोचक के रूप में शुक्ल जी ने अपने समय में न केवल हिन्दी आलोचना का मार्ग-प्रशस्त किया बल्कि इसके साथ ही एक दिशा-निर्देशक की भूमिका को भी उन्होंने बखूबी निभाया। किन्तु इतना सब करने पर भी शुक्ल जी अपने अन्तर-तरकी एक ग्रंथि से छुटकारा न पा सके। इस ग्रंथी को 'हिन्दू पुनरुत्थानवादी संस्कारों' के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है। इन संस्कारों का प्रभाव उन पर इतना प्रबल है कि कई बार वह उनकी आलोचना में पूर्वाग्रहों का विधायक बन जाता है। वैसे भी हिन्दी आलोचना इन संस्कारों से इतनी आविष्ट रही है कि रवीन्द्रनाथ के मानवतावाद एवं उदार संस्कारों के पक्षधर हजारीप्रसाद द्विवेदी भी कभी-कभार इनसे ग्रस्त होते प्रतीत हैं। शायद यह पश्चिमी साहित्य के अध्ययन का प्रभाव है या अविभाजित भारत के पश्चिमी पंजाब के संस्कारों का कि आलोचक मदान इस प्रकार की कट्टर सँस्कारवादिता से पूर्णतः बरी हैं। उनकी आलोचना शैली की रचना-प्रक्रिया के प्रसंगों में यह तथ्य रेखांकित किया जाना चाहिए।

अब तक इन्द्रनाथ मदान की आलोचना-शैली की विशेषताओं को उसकी रचना-प्रक्रिया एवं ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिप्रेक्ष्यों के माध्यम से समझने का सर्वेक्षणनुमा प्रयास किया गया है। इसके अनन्तर एक आलोचक के रूप में उनकी देन पर विचार अपेक्षित है।

इस प्रसंग में सबसे पहला मुद्दा जोकि आलोचक मदान के अध्येता के सम्मुख उभरता है वह है आलोचना के माध्यम से जीवन-दर्शन की समस्या। यद्यपि शुक्ल युगीन आलोचकों ने विशिष्ट कवियों के संदर्भों में इस समस्या को अक्सर उठाया है परन्तु मदान की आलोचना में इसका रूप कुछ दूसरी तरह का हो गया है। इस सम्बन्ध में मदान की सबसे महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने समूचे समाज का जीवन-दर्शन एक होने की बात को नकारा है। इसीलिए उन्होंने इसके लिए 'जीवन-दर्शन' और 'जीवन-दृष्टि' जैसे दो शब्दों का प्रयोग करते हुए इसे व्यष्टि और समष्टि चित्त के माध्यम से दो पृथक् धरातलों पर रूपायित किया है।

शुक्ल युग से लेकर लगभग आज तक हिन्दी आलोचना आदर्शवाद और पूर्वाग्रह जैसी प्रवृत्तियों से पीड़ित, प्रताड़ित एवं प्रभावित रही है। मदान के आलोचक ने थोथे, कोरे एवं अकारण आदर्शवाद को पूरी तरह से नकारा है और जहां तक हो सका है पूर्वाग्रहों से बचने एवं उनसे ऊपर उठने का ईमानदार प्रयत्न भी किया है। किन्तु कई बार ऐसा करने में उन्हें सफलता नहीं मिली है। क्योंकि मदान ने आदर्श निरूपण के स्थान पर अपना ध्यान अन्तर्विरोधों को उजागर करने की ओर ही अधिक केन्द्रित किया है। किन्तु कई बार ऐसा भी हुआ है कि किसी अन्तर्विरोध को उघाड़ते-उघाड़ते अचानक ही किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर उन्होंने कई नये अन्तर्विरोधों की सृष्टि कर दी है। ऐसी स्थिति में उनके पूर्वाग्रह की भूमिका को देखकर कई बार तो उनके आलोचक की ईमानदारी पर शंका होने लगती है। हंसी भी आती है। गदगुदी भी होती है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। लेकिन यह सब कैसे होता है, इसका उत्तर शायद आलोचक मदान के पास हो। शायद न भी हो।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में चलने वाली अखाड़ेबाजी का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि प्रखर आलोचक मठाधीश बन गया है और नामवरी प्राप्त करने के चक्कर में पड़े हुए उसके अनुचर-चमचे दरबारियों की भूमिका निभाने लगे हैं। इस नई परंपरा के प्रभाववश पारस्परिक एवं अकारण प्रशंसा तथा मठाधीशवादी आतंक की परम्परा का सूत्रपात हुआ है। इस परम्परा का विकास कुछ इस प्रकार से हुआ है कि कई बार आलोचना, आशंसा और आतंक लगभग समानार्थक हो गये प्रतीत होते हैं। मदान के आलोचक की एक विशेषता यह भी है कि उसने स्वयं को मठाधीशोचित आतंक एवं दबदबे से पूर्णतः मुक्त रखते हुए अपनी सहजता, सरलता और स्वच्छन्दता को किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदान के आलोचक की एक ध्यातव्य देन यह है कि उसने 'आलोचना के माध्यम से दिशान्वेषण को साध्य के रूप में स्वीकारा है तथा निष्कर्ष को नये विवाद विन्दु के रूप में पेश किया है।' इस बात को स्पष्ट करने के लिए मदान के आलोचक की समीक्षा-चेतना को समझ लेना श्रेयस्कर है। 'जीवन-दर्शन' तथा 'जीवन-दृष्टि' के माध्यम से मदान की आलोचकीय चेतना व्याख्यायित हुई है। उनके मतानुसार "जीवन दृष्टि एक वैयक्तिक एवं अन्तर्मुखी मन-तरंग है जोकि एक कवि या साहित्यकार की अपनी निजी होती है। अतः एक ही धारा में कई जीवन-दृष्टियाँ हो सकती हैं।" इसके विपरीत "जीवन-दर्शन जीवन तथा जगत् के प्रति एक व्यवस्थित चिन्तन प्रणाली है।" इस प्रकार जीवन-दृष्टि तथा जीवन-दर्शन के संदर्भों के माध्यम से उन्होंने हिन्दी आलोचना को एक नया और मौलिक आयाम प्रदान किया है।

अब मदान की आलोचना शैली के सम्बन्ध में कतिपय छात्रोपयोगी तथ्य! इस तथ्य को शायद मदान के कटु आलोचक और कट्टर विरोधी भी नकारना न चाहें कि उन्होंने आलोचना में सप्रसंग एवं सारपूर्ण लेखन-शैली का सूत्रपात किया है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि अपरूपता, जिसके प्रभाववश समकालीन कृतियों पर लिखी हुई आलोचना भी 'सन्धा भाषा' में लिखित प्रतीत होने लगती है, से अध्येता का बचाव हो जाता है और वह अनपेक्षित विस्तार की कुञ्झटिका में बिना उलझे तथा पारिभाषिक भाषा तन्त्र में बिना दिगभ्रमित हुए अनावश्यक प्राणायामों से बचता हुआ सहज रूप से अपेक्षित तथ्यों को आत्मसात् कर लेता है। आलोचना के शैली तन्त्र के सरलीकरण की इस प्रक्रिया में मदान द्वारा प्रयुक्त 'आलोचना के निवन्ध गुन्फन में स्पष्टता, प्रसंगानुकूलता, संक्षिप्तता एवं सारगर्भिता' की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही है। दूसरा प्रभाव यह हुआ कि मदान की आलोचना वागजाल एवं दुरुहता से पूर्णतः मुक्त है और उनकी लिखी आलोचनाओं का अध्ययन करते समय वार्तालाप की स्थिति की अनुभूति का होना 'इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आलोचक का कार्य, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, केवल आलोच्य विषय की अकारण धज्जियाँ उड़ाने या अ तुकी प्रशंसा करने तक ही सीमित नहीं है। बल्कि उसका वास्तविक कार्य है विषय को अधिकाधिक स्पष्ट करना तथा साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया एवं रचना के उद्देश्यों से पाठक का परिचय करवाना। आलोचक मदान की यह नितान्त निजी विशेषता है कि उन्होंने 'विषय को साफ करने के लिए सम्बन्धित सभी विद्वानों के मतों का सारांश प्रस्तुत करते हुए उनकी उपलब्धियों और न्यूनताओं का संकेत' करते चलने की परिपाटी को अपनाया है।

समकालीन हिन्दी आलोचना को आलोचक मदान की देन को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत आंका जा सकता है—

(क) आधुनिक चेतना या आधुनिकता को कसौटी के रूप में स्वीकार कर समकालीन साहित्य का मूल्यांकन।
(ख) अन्तर्विरोधों का समंजन करने के लिये 'रूपक' का प्रयोग।
(ग) सूत्र-शैली को अपनाना।
(घ) 'कृति की राह' से गुजरने की प्रक्रिया।

आधुनिकता मदान की दृष्टि में 'एक ऐसी चेतना है जो सामन्ती संस्कृति की मान्यताओं के विरोध में उदित तथा विकसित हुई। इसके साथ यह एक प्रक्रिया भी है।" इस प्रक्रिया को एक साहित्यिक मूल्य के रूप में स्वीकारना तथा आलोचना के एक आधार या प्रतिमान के रूप में इसकी स्थापना करने में आलोचक मदान का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है।

आलोचना में रूपक-शैली का प्रयोग अपने आप में कोई बहुत नई बात नहीं है। वर्षों पहले पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी आलोचनाओं में 'धारा' के रूपक का खूब खुलकर प्रयोग किया था। किन्तु शुक्ल जी संभवतया इस रूपक का प्रयोग अपने कथन को स्पष्ट एवं सहज-गम्य बनाने के लिए करते थे। मदान ने भी 'वाद्यवृन्द' (orchestra) तथा 'बाड़े' को रूपक के रूप में प्रयुक्त किया है। परन्तु यहां इस प्रयोग का सम्बन्ध विषय की स्पष्टता के साथ न होकर अन्तर्विरोधों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समंजन के साथ है और इसी में इसकी सार्थकता निहित है।

सूत्र-शैली का प्रयोग भी मदान से बहुत पहले शुक्ल जी द्वारा किया जा चुका है। किन्तु शुक्ल और मदान की सूत्र शैली में एक मूलभूत अन्तर है। शुक्ल का सूत्र प्रायः कथन के सार को प्रस्तुत करता है और उनके एक सूत्र के माध्यम से ही जैसे पाठक सम्पूर्ण विषय की आत्मा को अंगीकार कर लेता है। मदान ने भी संभवतया इसी उद्देश्य से इस शैली को अपनाया है। किन्तु उन्हें इसमें शायद चाह कर भी सफलता नहीं मिली है। इस असफलता का एक कारण शायद यह भी है कि उन्होंने सूत्रों का भाष्य करने की ओर बहुत कम ध्यान दिया है और फलतः ये सूत्र लगभग आप्तवाक्य बन कर रह गये हैं।

आलोचना को मदान की सबसे बड़ी देन आधुनिक बोध के आधार पर 'कृति की राह' से गुजरते हुए साहित्य का वैज्ञानिक ढंग से आलोचन एवं विश्लेषण करना है। इस पद्धति के माध्यम से कृति की रचना-प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया जाता है तथा अनुमान के स्थान पर कृति में वर्णित तथ्यों एवं विवरणों के आधार पर उसे विवेचित किया जाता है। इस प्रकार 'कृति की राह' के रूप में आलोचक मदान ने समकालीन आलोचना को एक ताज़ा और सटीक मुहावरा दिया है। कई लोगों ने इसे एक नारा भी कहा है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि यह मुहावरा (या नारा) समकालीन हिन्दी आलोचना का एक नया प्रतिमान है।

यहां तक आलोचक मदान के शुक्ल-पक्ष को समझने-समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही संक्षेप में उनके आलोचक का कृष्ण-पक्ष भी विचारणीय है।

मदान के आलोचक का सबसे बड़ा दोष उनकी संस्कारहीनता (बेशक यह शब्द दकियानूसी है) है। यद्यपि मदान को परम्परा के प्रति मोह नहीं है परन्तु पुरातनता के प्रति मोह उनके अवचेतन में कहीं न कहीं अवश्य विद्यमान है। इस अनजाने मोह-भाव का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि अवचेतनतः उनकी आलोचना में पुरातनता और आधुनिकता के विचित्र प्रकार के द्वन्द्व का आधान हो गया है। इसके परिणाम स्वरूप उनकी विचारधारा प्रतिबद्धता से रहित और फलतः धुरीहीन हो गई है।

सफल आलोचक का एक गुण यह भी होता है कि वह पूर्वप्रतिष्ठापित तथ्यों का भी आवश्यकता पड़ने पर नया अर्थापन करता है। परन्तु मदान ने अर्थापन को व्याख्या में अनूदित करके स्वयं ही अपने आलोचक को असफलता की ओर बढ़ाया है।

सूत्र शैली को अपनाने में भी उन्होंने शुक्ल जी का असफल ढंग से अनुसरण किया है। आवश्यक भाष्य के अभाव में ये सूत्र कई बार गणित शास्त्रीय समीकरण बन गये प्रतीत होते हैं।

वैसे तो इस सम्बन्ध में भाषाशास्त्री ही अधिक बता सकेंगे लेकिन कई बार ऐसा अनुभव होता कि उनकी भाषा का संरचनात्मक संगठन सहज होते हुए भी शिथिल है। इससे भाषा तो शिथिल हुई ही है, इसके साथ ही कथ्य में भी (बकौल डॉ० मदान) दरारें पड़ गई हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'आधुनिकता' को साहित्यिक मूल्य के रूप मान्यता दे—दिलवाकर मदान जी ने एक ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। यद्यपि आधुनिकता को उन्होंने एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकारा है लेकिन 'कृति की राह' के चक्कर में पड़कर आधुनिकता प्रक्रिया के स्थान पर Commodity या 'परिमाण वाचक' बन गई प्रतीत होती है।

आलोचक के साथ मदान का एक दूसरा रूप व्यंग्य-कार का भी है। अपने इसी दूसरे रूप के प्रभावाधीन कई बार उनकी आलोचना व्यंग्यधर्मी भी हो जाती है। परन्तु कई बार व्यंग्य का आधिक्य आलोचना की गम्भीरता एवं गरिमा को आघात भी पहुँचाता है।

आलोचक होने के साथ-ही-साथ डॉ० मदान ने एक विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष के कार्यभार को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी चिरकाल पर्यन्त सम्हाला है। कई लोगों ने उनके व्यवसाय के साथ उनकी आलोचना को जोड़ते हुए उन्हें 'अकॉदमिक आलोचक' भी कहा है। लेकिन, विभागाध्यक्ष के पद से निवृत्त हो जाने के बाद अब वह शुद्धतः आलोचक मदान हैं—कर्मरत, निर्लिप्त, सदानन्द और लेखन रत !

कहते हैं आदमी का बच्चा साठे पर पाठा होता है। पैंसठवर्षीय मदान इस दृष्टि से सच्चे अर्थों में युवक हैं। उनकी कलम अभी थकी नहीं है, थकनी भी नहीं चाहिए। विश्वास है कि 'कृति की राह' का यह कोलम्बस समकालीन हिन्दी आलोचना को अभी बहुत कुछ देगा। 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः !'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञेय के काव्य में मिथकीय परिवेश

डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उत्तर प्रदेश)

ओ आस्था के अरुण !
हाँक ला
उस ज्वलन्त के घोड़े !
खूंद डालने दे
तीखी आलोक-कशा के तले तिलमिलाते पैरों को
नभ का कच्चा आँगन !
बढ़ आ, जयी !
सँभाल चक्रमण्डल यह अपना ![1]

सुदूर प्रागैतिहासिक युग के किसी अनाम कालखण्ड में किसी द्रष्टा ने, किसी ऋषि ने, किसी आद्य अनुभव-कर्त्ता ने प्रातःकालीन आद्य अरुणिमा को सूर्य-सारथी के रूप में जाना-समझा था। कहना कठिन है कि ऐसा उसने धर्मभाव से किया था अथवा कविजनोचित स्वतः स्फूर्त दिगन्तव्यापिनी कल्पना के दबाव से। इतना तो निर्विवाद है कि कवि-कल्पना ने उसे अपनी एक विशिष्ट धरोहर के रूप में आज तक सहेजा-सँवारा है। आकस्मिक नहीं है यह कि आत्मदान के लिए पर्युत्सुक अज्ञेय उसे ही अपना माध्यम, निकटतम सहकारी मानकर उसके आगे प्रार्थी बन उठते हैं। आत्मदान अज्ञेय के समग्र काव्य-चिन्तन का केन्द्रीय सत्य है। इस आत्यन्तिक उदात्त भाव-स्तर पर विराट्, असीम, निर्व्यास और अनादि से जुड़ना उनकी नियति भी रही है और उपलब्धि भी। विराट् में चुपचाप डूबने या उसे अपने में समो लेने के महाभाव से हमारा साक्षात्कार उनके काव्य-संसार में पग-पग पर होता रहता है।[2] प्यार, एक सर्वथा वैयक्तिक सहज कोमल राग-बन्ध, अज्ञेय के लिए 'एक यज्ञ का चरण' है जिसमें वे स्वयं को 'मेध्य' मानते हैं।[3] और गहरे उतरने पर यह सारा संविधानक उनके लिए अद्वय आत्मानुभव बन जाता है—

ओ मेरी सहधर्मा,
छू दे यह मेरा कर : आहुति दे दूं—
हमीं याजक हैं, हमीं यज्ञ,
जिसमें हुत हमीं परस्परेष्टि।[4]

कवि के इस आत्मबोध को हम कौन-सा कटघरा देंगे—दर्शन का धर्म का अथवा काव्यात्मक औदात्य का ? इस प्रश्न को इस रूप में उठाना शायद अधिक प्रासंगिक हो कि यह बोध विविक्त विज्ञानवादी बौद्धिक युग की देन है या कि सनातन मानवीयता के परम्परागत सामूहिक संस्कार का महनीय ऋक्थ ? अज्ञेय के आगे अक्सर कुछ वैसी ही बोधात्मक समस्याएँ सिर उठाती रही हैं जिनसे कि सभ्यता के आदि प्रहर में संवेदनशील मानव-समूह टकराता रहता था। किसी सत्य को सहसा पा लेने पर

१. कितनी नावों में कितनी बार : प्रातः संकल्प।

२. चुपचाप चुपचाप
हम पुलकित विराट् में डूबें—
पर विराट् हममें मिल जाय
चुप-चाप चुप-चा ऽ ऽ प·········।
[सुनहले शैवाल : चुपचाप]

३. क्योंकि मैं उसे० ९ प्यार।

४. कितनी नावों में कितनी बार : ओ निस्संग ममेतर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे प्रखर संवेदना वाले प्रागैतिहासिक मानव की ही भाँति अभिव्यक्ति की समस्या से घिर जाते हैं।[1] प्रायः ही वे अपने भावानुचिन्तन में उसी युग की मानसिकता से सम्बद्धता और अंतरंगता अनुभव करने लगते हैं।[2] उनकी कल्पनाओं में कई बार मिथकधर्मी वैचित्र्य, विराटता और सामान्यानुभव-सापेक्षता देखने को मिलेगी।[3] अव्याख्येय विराट् सौन्दर्य के आगे नतमस्तक हो जाने की भी आदिम प्रवृत्ति उनमें अप्राप्य नहीं—

इस रहस्य के आगे आदर से नतमस्तक रे कवि।[4]

यह नहीं कि अज्ञेय सामयिक बदलाव को नहीं समझते या कि वे उसके प्रति उपेक्षाशील हैं, वरन् यह कि उनका कवि-मन स्वभावतः ही आद्य और सनातन भावबोध से जुड़ जाता रहा है। कवि-मानस की सहज मासूमियत को विशिष्ट स्थिति मानकर थोड़ी देर के लिए यदि हम उसके प्रति उपेक्षाशील भी हो जायें और सामान्य मानवीय बोधशीलता की बात पर बल दें, तो भी बात कुछ अधिक नहीं बदलती। मानवशास्त्र के अध्ययनक्रम में अब विशेषज्ञों को यह मानने के लिए विवश होना पड़ा है कि मानवीय संरचना में एक तात्विक एकता है और वह बौद्धिक विचार अस्वाभाविक और असंगत है जो मानवजाति के एक समूह [आदिम] को दूसरे मानवसमूह [आधुनिक] से विभिन्न बताए। इस प्रकार के कृत्रिम विभाजन की निस्सारता को अवैज्ञानिक और अप्रामाणिक सिद्ध करते हुए मूल मानवीय एकता के पक्ष में बड़े सशक्त तर्क दिये जा चुके हैं।[1] विभेदवादी मनोदृष्टि के पीछे कुछ उन विचारकों की स्थापनाएँ काम करती रही हैं जो मिथक को 'धार्मिक अनुभव की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति' बताते आये हैं।[2] इस कोटि के विचारकों ने मिथक पर स्वतंत्र रूप से विचार न करके उसे दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि के सन्दर्भ में ही समझा-समझाया है। मिथकों में निहित कवित्व को मान्यता देते हुए भी उन्होंने 'मिथकीय विचार-पद्धति' और 'मिथकीय युग' पर बल दिया है और इस प्रकार तथाकथित मिथकीय मानव से हमें अलगा दिया है। पेटाजोनी ने अवश्य १९५० में यह बात कही कि 'मिथकशास्त्र को मानववाद की अन्तरात्मा से जीवन्त बनाया जाना चाहिए और मिथक को हमारी मानवीय सत्ता के चिन्ह और दस्तावेज के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए[3]।' अब तो स्थिति बहुत बदल गयी है। इलियादे और गेस्टर ने रूढ़िवादी विचारपद्धति को एक महत्वपूर्ण सीमा तक तोड़ा-झकझोरा है। डच विद्वान् व्रीज ने मान्यताओं के इस बदलाव का संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट विवरण दिया है। जॉकेल, एस्नूल, लांग आदि के मिथकीय संकलनों के माध्यम से मिथक आज सामान्य-जन की रुचि के विषय बन गये हैं। आज बॉल के इस कथन में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं लगती कि मिथक-निर्माताओं और

---

१. यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी कभी
मिलता है :
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं।
प्रश्न यही रहता है :
दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते हैं
मैं कब, कैसे उनके अनदेखे
उसमें सेंध लगा दूं।
[अरी ओ करुणा प्रभामय : शब्द और सत्य]

२. अरी ओ करुणा प्रभामय : टेर रहा सागर।

३. यह सूरज का जया-फूल
नैवेद्य चढ़ चला
सागर हाथों
अम्बा तिमिरमयी को।
[सुनहले शैवाल : संध्या-संकल्प]

४. सुनहले शैवाल : सूर्यास्त।

---

१. ए० ई० जैन्सन—मिथ ऐंड कल्ट एमंग प्रिमिटिव पीपुल; पाल राडिन—प्रिमिटिव मैन ऐज फिलास्फर।

२. वाच : द कम्पैरेटिव स्टडी आव् रेलीजन्स, पृ० ६५।

३. पेटाजोनी : एसेज आन द हिस्ट्री आव रेलीजन्स, पृ० ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम आधुनिकों में कोई न कोई तारतम्य अवश्य है।[1] कम से कम आज हम जब यह समझने लगे हैं कि हमारे महान् प्राचीन दार्शनिक मतों की जड़ें हमारी प्राचीन मिथकीय परम्पराओं में हैं, तो प्राचीनता से हमारे अलगाव और विभेद की बात निराधार ही कही जायेगी। इस मान्यता के पीछे कोई तर्क नहीं कि आदिम मानसिकता हमारी मानसिकता से विचित्र और विभिन्न है। मिथक-निर्माताओं और हममें अभिप्रायों का वैशिष्ट्य हो सकता है या कि विषयात्यक अभिरुचि में कुछ मात्रात्मक अन्तर हो सकता है किन्तु इस बात में अब कोई दम नहीं रह गया है कि एक ही मानव-जाति के विभिन्न समूहों में कोई तात्विक संरचनात्मक अन्तर है।[2] काव्य का मिथकीय परिवेश मानव की इसी मूलभूत संरचनात्मक एकता के नाते हमें प्रीतिकर और निजी लगता रहा है। अपने संवेदन में जो कवि जितना ही पैना और सहज होगा, उसकी मिथकवत्ता उतनी ही मर्मग्राहिणी होगी। दूसरी ओर मिथक-तत्व के माध्यम से काव्य में जातीयता का सांस्कृतिक परिसर उभरता है, जिसे वे अपनी प्रयोजनीयता के अनुरूप व्याप्ति और स्थायित्व देते हैं। कोई भी रचनाकार अपने जातीय सन्दर्भों से कटकर बड़ा नहीं बन सकता है। वह प्राचीन अभिप्रायों को नये अर्थ दे सकता है, उनमें निहित व्यंग्य को नयी दिशाएँ दे सकता है और उनके आधार पर नये मिथकों की संरचना भी कर सकता है किन्तु वह उनसे नितान्त असंपृक्त नहीं रह सकता। परम्परा से विरासत के रूप में मिलते चले आये स्वजातीय सामूहिक अवचेतन[3] को हम प्रवृत्या नकार नहीं सकते। और यदि कोई रचनाकार आधुनिकता के नाम पर उसकी उपेक्षा हठपूर्वक करता है तो उसकी नियति पीछे छूट जाने की, उपेक्षित रह जाने की ही होगी। वह सारा साहित्य जिसे हम मानवता की थाती समझते हैं, एक महत्वपूर्ण सीमा तक मिथकाश्रयी है। अज्ञेय का काव्य इसी महनीय शृंखला की एक कड़ी है। कहना न होगा कि यह महनीयता उनके भावबोध और विचारानुभावन के उस सांस्कृतिक औदात्य और औदार्य से उपजी है जिसे केवल 'भारतीय' कहा जा सकता है।

काव्य के मिथकीय प्रयोगों में मिथकीय चरित्रों, अवधारणों तथा घटनाओं की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण हुआ करती है। इनके साक्ष्य इतिहास में नहीं मिलते। यों, बहुत से ऐतिहासिक उपकरण 'मिथ' बन जाते हैं और बनते रहते हैं—यहाँ तक कि सामयिक बहुत सारे आन्दोलनों के अपने-अपने मिथक बनने लगे हैं; किन्तु इसे मूल मिथकवत्ता का सामान्यीकरण ही कहेंगे, जिससे उसकी व्याप्ति तो प्रकट होती है, वास्तविकता नहीं। मिथक-तत्व जिस निष्ठा की माँग करते हैं वह आत्मेतर, अलौकिक तथा निगूढ़ के प्रति ही संभव है, आत्मसदृश, वास्तविक तथा सुपरिज्ञात के प्रति नहीं। कवि उनके बाह्यावरण को भेदकर उनके आन्तरिक सत्य तक पहुँचना और उनकी सूक्ष्म व्यंजनाओं को पकड़ना चाहता है। अनुकथन और पिष्टपेषण करने वाले कवि कम नहीं हैं; किन्तु विशेष महत्व उनका है जो प्राचीन सन्दर्भों को नयी और सामयिक अर्थवत्ता देते रहे हैं। अज्ञेय की सूझ और पकड़ ऐसे प्रसंगों में विशेष सूक्ष्म और गहरी है। 'असाध्य वीणा' में केशकम्बली की अर्थव्यंजना उल्लेखनीय है। अज्ञेय का आत्म-वक्तव्य क्या इससे कुछ भिन्न होगा—

> श्रेय नहीं कुछ मेरा :
> मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
> वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
> सब कुछ को सौंप दिया था—
> सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
> न वीणा का था :
> वह तो सब कुछ की तथता थी—

---

१. के० डब्ल्यू० बॉल : द फ्रीडम आव मैन इन मिथ, पृ० ७।

२. वही, पृ० २२।

३. सामूहिक अवचेतन की धारणा प्रसिद्ध मनःशास्त्री युंग ने प्रस्तुत की थी जिसे मानवशास्त्रियों ने व्यापक रूप से अपनाया।
गिलबर्ट मरे का कहना है कि 'मिथक-कथाएँ या घटनाएँ जाति की स्मृति में गहरी जड़ जमाये हुए हैं और आपाततः अजनबी लगने के बावजूद इनका सामना होते ही हमारे भीतर से रक्त की एक ऐसी पुकार उठती है जो हमें बताती है कि हम इन्हें सदा-सदा से जानते रहे हैं।'
—आर्केटाइपल पैटर्न्स इन पोयट्री : उद् पृ० २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है ।[1]

रचना के अन्त में कवि कहता है कि प्रियंवद केशकम्बली की वीणा के साथ उसकी अपनी वाणी भी मौन हो गयी । यह कवि की मिथकीय चरित्र और परिवेश के माध्यम से आत्म-व्यंजना है । यहाँ औदात्य और महाभाव है । युगाभिव्यक्ति में पैनी व्यंग्यशीलता का वैशिष्ट्य मिलेगा—

मेरे चेहरे में बागड़ियों के झोंपड़ों से झाँकता है एकलव्य
द्रौणाचार्य अभिसन्धि करते हैं
मुनियों की व्याजहीन आँखों में
पोष्य राजहंसमाला नीरक्षीर करती है
लाख-लाख मछलियाँ पेटियाँ उलटकर दम तोड़ देती हैं
मेरे चेहरे में भोले बालकों का भवितव्य का विश्वास है ।[2]

नियतिबद्ध मिथकीय चरित्र मानवीय त्रासदी की व्यंजना द्वारा करुणा का उद्रेक करते हैं । ग्रीक मिथकीय पात्र इदिपस रचनाकारों के लिए एक प्रभावी माध्यम और आधार रहा है । इदिपस स्थितियों की विडम्बना का शिकार होकर प्रताड़ित होता है । अनजाने ही वह अपनी माँ से विवाह कर लेता है और घोर पाप-ताप का भागी होता है ।[3] आज का मनुष्य भी तो उसी प्रकार पाप-शापित है—

···चौराहों पर औचक एक झुटपुटे में
अनपहचाने पितर कभी मिल जाते हैं
···काली आदिम सत्ताएँ नागिन-सी
कुचले सीस उठाती हैं—

१. आँगन के पार द्वार : पृ० ८४ ।
२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० ३३-३४ ।
३. जी० डब्ल्यू० कॉक्स : द माइथोलाजी आव आर्यन नेशन्स, पृ० २४५, ३१२ ।

राही शापों की गुंजलक में बँध जाता है :
फिर—
जिस पाप-कर्म से वह आजीवन भागा था
एकाएक
अनिच्छुक हाथों से सध जाता है ।[1]

एक ही मिथकीय चरित्र कभी नैतिक दृष्टान्त बन जाता है और कभी स्थितियों की विडम्बना का संवाहक और विद्रूप । असुर-संहार के निमित्त अपनी अस्थियों का दान करनेवाले दधीचि इस दृष्टि से एक सशक्त मिथकीय चरित्र हैं जिनसे दोनों अभिप्राय सिद्ध होते हैं—

यह प्रतिज्ञा ही हमारा दाय है लम्बे युगों की
साधना का जिसे हमने धर्म जाना ।
स्वयं अपनी अस्थियाँ देकर हमीं ने असत् पर
सत् की विजय का मर्म जाना ।।[2]

\+ \+ \+

हथौड़ा अभी रहने दो :
आओ, हमारे साथ वह आग जलाओ
जिसमें से हम फिर अपनी अस्थियाँ बीनकर लायेंगे,
तभी हम वह अस्त्र बना पायेंगे ।
जिसके सहारे
हम अपना स्वत्व—बल्कि अपने को पायेंगे ।[3]

मिथकीय घटनाओं में प्रलय सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रभावी है । अज्ञेय ने उसे व्यक्ति की टूटन और उसके पराजय-बोध का व्यंजक माना है ।[4] समुद्र-मंथन और देवासुर-संग्राम भी काव्यप्रयोजन की दृष्टि से बहुप्रयुक्त मिथकीय घटनाएं हैं, जिन्हें समग्रतः या अंशतः नये प्रतीकार्थ दिये जाते रहे हैं ।

कर्मकाण्ड आदिम विश्वास का महत्वपूर्ण क्रियात्मक पहलू है । मिथकीय मनुष्य अलौकिक में आस्था रखता

१. कितनी नावों में० : फोक्स में इदिपस ।
२. बावरा अहेरी : जनवरी छब्बीस ।
३. क्योंकि मैं उसे जानता हूं : हथौड़ा अभी रहने दो ।
४. प्रलयस्वर है वह, या है बस
मेरी लज्जाजनक पराजय !
—इत्यलम्, पूर्वा : मैं वह धनु हूं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था और उसकी व्यावहारिक उद्धरणी के लिए मन्त्रों का सहारा लेता था। मन्त्रोपचार उस युग का बहु-प्रयोजनीय कर्म था। पुरोहित उस युग में यातु-धार्मिक (मैजिको-रेलीजस) शक्ति से सम्पन्न माना जाता था और यह शक्ति मन्त्रों और उनके द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्मकाण्ड में निहित थी। आदिम युग का मनुष्य न केवल मिथकीय (अलौकिक) इतिहास की स्मृति के प्रति श्रद्धावान् था, वरन् उसे अधिकांशतः समय-समय पर पुनर्चरितार्थ (री-इनैक्ट) करने में भी विश्वास करता था। इस प्रकार मिथकों के माध्यम से न केवल हम यह जानते हैं कि चीजें किस प्रकार अस्तित्व में आयीं, वरन् यह भी कि उनके विलुप्त होने पर उन्हें दुबारा किस प्रकार प्रकट कराया जा सकता है[1]। जाहिर है कि मिथक-युग का मनुष्य भविष्य के प्रति आशंकित और निराश नहीं था और अतीत उसकी मुट्ठी में था। यही कारण है कि मिथकों में काल की अखण्डता का अवबोध व्यापक रूप से मिलता है। हिन्दी-काव्य-धारा के अन्तर्गत निर्गुणी सन्तों और साधक भक्तों के बीच दिवंगत महापुरुषों और दैवी शक्तियों से साक्षात्कार की घटनाओं के जो सन्दर्भ मिलते हैं, उनका मूल इस आदिम विश्वास में ही है। अन्तर केवल विधि और उपकरणों का है। मिथकीय मानव जिसे मंत्र और कर्मकाण्ड से सिद्ध करता था, सन्तों और योगियों ने उसे आत्म-साधना से प्रतिफलित किया है। जादुई प्रक्रियाओं में वह बहुत कुछ इच्छाशक्ति की चीज मानी गयी है। कवि को इस अखण्डता का बोध उसकी दूरगामी कल्पना और पारदर्शी संवेदन के माध्यम से हुआ करता है : इसी बोध-क्षण में कवि अपने को अतीत और भविष्य के सेतु के रूप में देखता है और त्रिकाल-व्यापिनी सर्वमयता तथा सार्वत्रिकता का अनुभव करता है—

मैं सेतु हूं—
जो है और जो होगा दोनों को मिलाता हूं—
मैं हूँ, मैं यहां हूं,
पर सेतु हूं, इसलिए
दूर दूर दूर······मैं वहां हूं.!
····················
······मैं वहाँ हूं
तो ऐसा नहीं कि मैं यहां नहीं हूं ;
मैं दूर हूं, जो है और जो होगा, उसके बीच सेतु हूं।[2]

सीमाहीन काल और व्यासहीन देश कवि की अतिप्रिय काव्यभूमि है।[3] उसका प्राण-पोत चेतना की पाल फहराता हुआ दिक्काल-जाल के पार निरवधि निस्सीम की ओर बढ़ता जाता है और निरन्तरता और स्वयं-भावी पुनर्निमिति का महामहिम सत्य पा लेता है।[4] काल की चक्राक गति का यह सत्य मिथकीय बोध का एक सशक्त आयाम है। इतिहास की गति सीधी और अग्रगामी होती है जबकि मिथकीय मानसिकता उसके चक्रकारत्व में आस्था रखती है। चतुर्युग-कल्पना की भित्ति इसी आस्था में है—

१. मर्सिया इलियादे : मिथ ऐंड रियलिटी —पृ० १३-१४।

२. इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये : मैं वहां हूं।

३. ···मैल दोनों का
सीमाहीन काल का, व्यासहीन देश का
माटी में रिसता है, मिसता है,
सोखता ही रहता है।
—इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : हमने पौधे से कहा।

४. दिक्काल-जाल के पार विशद निरवधि सूने में
फहराता पाल चेतना की, बढ़ता जाता है प्राण-पोत।
···············
यों घर—जो पीछे छूटा था—
वह दूर पार फिर बनता है
यों भ्रम—यों सपना—यों चित्-सत्य
लीक-लीक पथ के डोरों से
नया जाल फिर तनता है······।
—कितनी नावों में० : विदा के चौराहे पर, अनुचिन्तन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे ?
हाँ, आगे, पर
उससे आगे सब आयाम
घूम घूम जाते हैं चक्राकार,
उसी तक लौट
समाहित हो जाते हैं ।[1]

इसी अखण्डता और निरन्तरता के बोध-स्तर पर कवि स्वयं को कल्पान्तरजीवी अनुभव करता है और अपने निजी जीवन के किसी विशिष्ट क्षण को अभिमन्त्रित—यानी अलौकिक, दिव्य और अमर मानता है—

वैसा अभिसंचित, अभिमन्त्रित,
सघनतम संगोपन कल्पान्त
दूसरा हमने नहीं जिया ।[2]

अब उसके लिए गान, मन्त्र और नाम एकरूप हो जाते हैं—

गाते हुए गान
गाते हुए मन्त्र
गाते हुए नाम :
सबेरे सबेरे
तुम्हारा नाम ![3]

अखण्डता-बोध के साथ मन्त्रसिद्धि का तन्त्र कितने गहरे जुड़ा हुआ है, कहने की आवश्यकता नहीं । अज्ञेय की भावसाधनात्मक प्रक्रियाएँ अक्सर मन्त्रोपचार-विधि से गहरी समरूपता रखती हुई मिलेंगी। 'असाध्य वीणा' में केशकम्बली असाध्य वीणा को साधने का, उसे झंकृत करने का जो आह्वानात्मक प्रयत्न करता है, उसकी प्रकृति मन्त्रोपचार-विधि जैसी ही है। आद्य-युग में मन्त्रवेत्ता किसी व्यावहारिक उद्देश्य-आखेट, फसल, सन्तान-प्राप्ति, व्याधि-निवारण आदि—की पूर्ति अथवा किसी सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठान की सिद्धि के लिए संदर्भित और उद्दिष्ट वस्तु के उद्भव से सम्बन्धित मन्त्रपाठ करता था । इस प्रक्रिया के मूल में यह विश्वास काम करता था कि 'कोई भी क्रिया तब तक सम्पन्न नहीं की जा सकती, जब तक उसकी उत्पत्ति या कि उसके आदि-स्रोत (ओरिजिन) को न जान लिया जाए। इसका तात्पर्य उस मिथक को जानना होता था जो यह बताये कि पहली बार वह क्रिया किस प्रकार सम्पन्न हुई थी'[4] आदिम विश्वास की यह धरोहर आज भी उन जन-जातियों के बीच सुरक्षित है जो औद्योगिक-वैज्ञानिक सभ्यता के सम्पर्क में नहीं आ सके हैं। इस आस्था की जड़ें इतनी गहरी हैं कि इस बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी हम आधुनिक सभ्यता में रचे-बसे और उसके हिमायती होने के बावजूद उसके संस्कार को एकदम तोड़ नहीं पाते। आज भी हमारे बहुत से अनुष्ठान उन मन्त्रों के पाठ के साथ आरम्भ होते हैं जो प्रस्तुत विषय की 'ओरिजिन' की ओर निर्देश करते हैं। यह और बात है कि हमारी तर्कबुद्धि मन्त्र शक्ति को तब तक स्वीकार करने के पक्ष में न हो, जब तक कि हम उसका भौतिक-वैज्ञानिक परीक्षण न कर लें। कवि-मानस की निर्मिति दूसरे लोगों से कुछ भिन्न और विशिष्ट हुआ करती है। वह अपनी मानसिकता में बहुत कुछ मन्त्रद्रष्टा के सन्निकट हुआ करता है। यही कारण है कि अज्ञेय के अपने व्यक्तित्व का संकेतक केशकम्बली चिरमौन वीणा को मुखरित करने के लिए आवाहनात्मक पद्धति का आश्रय लेता है। वह सीधे उस मन्त्रपूत किरीटी-तरु को सम्बोधित करता है, जिससे वज्र-कीर्ति ने अपना सारा जीवन लगाकर उसे गढ़ा था। उस आद्य-तरु की वह वंदना करता है, उसके प्रति समर्पित होता है और उसी से गाने का प्रार्थनामय अनुरोध करता है क्योंकि वीणा उसी का तो अंग—अपंग अंग—है। फिर वह समस्त ध्वनियों—प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं, पक्षियों, वाद्य-यन्त्रों आदि की ध्वनियों—का आद्य-अनुभव के स्तर पर तल्लीनता-पूर्वक स्मरण करता है। इस स्मरण-क्रम में उसकी वैयक्तिक सत्ता क्रमशः तिरोहित होती जाती है। आत्म तिरोभाव के चरम-क्षण में वह उस तरु को मूल नाद—

१. आँगन के पार द्वार : चक्रान्त शिला १४।
२. सुनहले शैवाल : झील का किनारा।
३. बावरा अहेरी : सबेरेसबेरे तुम्हारा नाम !
४. मर्सिया इलियादे : मिथ एंड रियलिटी : पृ० १७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनहद—से जोड़ देता है और किसी मन्त्रसिद्ध अलौकिक क्षमता-सम्पन्न प्रकृति-नियामक धर्मशास्त की ही तरह उसे अवतरित होने, सत्ताधारी होने और गाने का निर्णयात्मक आदेश देता है। कैसी आविष्ट संकल्पात्मक शक्तिमत्ता है उसके इन शब्दों में—

मैं नहीं, नहीं ! मैं कहीं नहीं !
ओ रे तरु ! ओ वन !
ओ स्वर—सम्भार !
नादमय संसृति !
ओ रस-प्लावन !
मुझे क्षमा कर—भूल अकिंचनता को मेरी—
मुझे ओट दे—ढँक ले—छा ले
ओ शरण्य !
....

तू गा, तू गा—
तू सन्निधि पा—तू खो
तू आ—तू हो —तू गा ! तू-गा !

वीणा सहसा ही झनझना उठती है। केशकम्बली ने उसका भौतिक स्तर पर स्पर्श नहीं किया है, किन्तु उसके नादाह्वान में इतनी शक्ति है कि वह उसे बजने के लिए स्वतः स्फूर्त कर दे ! मन्त्रों से होने वाली भौतिक सिद्धि से यह किसी भी रूप में भिन्न नहीं। किसी अलौकिक घटना की ही तरह संगीत—स्वयंभू संगीत—यहां 'अवतरित' होता है। कवि की अभिप्रेत अर्थव्यंजना शायद यह है कि कविता भी इसी प्रकार स्वतः स्फूर्त होती है, इसे भौतिक प्रयत्न नहीं माना जा सकता। वेदमन्त्रों को अपौरुषेय कहने के मूल में बहुत कुछ यही अभिप्राय है। निराला ने भी तो 'तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ में मैं पाता हूँ सम्मान' कहकर काव्य के इसी स्वतःस्फूर्त की ओर निर्देश किया था। अज्ञेय ने मिथकीय परिवेश के सहारे कवित्व के इस वैशिष्ट्य का एक सशक्त साक्ष्य प्रस्तुत किया है। वास्तविकता तो यह है कि काव्य की रचना-प्रक्रिया स्वयं में एक 'मिथ' है और उसका विश्लेषण करते समय मिथक-तन्त्र का आश्रय किसी-न-किसी रूप में लेना ही पड़ता है। पिछले तीन-चार दशकों में रचना-प्रक्रिया की खोजबीन का प्रयत्न व्यापक स्तर पर हुआ है और इसी बीच मिथक-शास्त्र का भी परिपोषण हुआ है। 'पोएटिक प्रॉसेस' और 'प्रॉसेस आव क्रियेशन' जो कि मिथक-शास्त्र का केन्द्रीय वस्तु-विषय है, किसी बिन्दु पर एकरूप हो जाते हैं। मानसी सर्जना और अंतःप्रज्ञा के स्तर पर दोनों में अभेद है। इसीलिए एक ओर कवि को मनीषी, परिभू और स्वयंभू कहा गया है और दूसरी ओर ब्रह्म को प्रथम कवि, क्योंकि उसने इतना बड़ा सृष्टिरूपी काव्य रच डाला है—पश्य देवस्य काव्यं। रचनाशीलता के स्तर पर वह (प्रॉसेस आव् क्रियेशन) अधिक नहीं, तो निकटतम अप्रस्तुत तो हो ही सकता है। अज्ञेय अपनी अभिव्यक्ति के क्षण को कर्मकाण्डीय आविष्ट 'मूड' से उपमित करते हैं—

मुझको जो कहना है, वह इस धधकते क्षण में—
वाग्देवता की यज्ञज्वाला जब तक अभी
धधकती है मेरी इस आविष्ट जिह्वा पर
तब तक मैं कह लूं :
मेरे ही दाह का हुताशन हो साक्षी मेरा।[1]

रचना के पूरे सन्दर्भ को लिया जाए, तो यहाँ अज्ञेय सचमुच मन्त्रकर्मी की तरह आविष्ट मिलेंगे। अपनी रचना के मूल-धर्म प्यार को वे किसी मन्त्र साधक की ही तरह अपनी ओर खींचते हैं—

तुम्हें मैं दूर बाहर से, प्रान्तर से
देशावर से, कालेतर से
तल से, अतल से, धरा से, सागर से, अन्तरिक्ष से,
निर्व्यास तेजस् के निर्गम्भीर शून्य आकर से
मैं, समाहित, अन्तःपूत,
मन्त्राहूत कर तुम्हें
ओ निस्संग ममेतर,
ओ अभिन्न प्यार,
ओ धनी,
आज फिर एक बार
तुमको बुलाता हूँ।[2]

---

१. कितनी नावों में कितनी बार : ओ निस्संग ममेतर।
२. कितनी नावों में कितनी बार : ओ निस्संग ममेतर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथकशास्त्र का एक अन्य महत्वपूर्ण साहित्यिक प्रदेय अवधारणाओं और प्रतीकों के रूप में उपलब्ध होता है। अवधारणाओं से मेरा तात्पर्य उन प्राकृतिक और पराप्राकृतिक रूपात्मक अथवा अरूपात्मक प्रत्यय-कल्पनाओं से ही है जो किसी व्यापक सत्य या आदर्श का निर्वचन करती है। प्रतीकों से उनका विभेद इस अर्थ में है कि जहाँ प्रतीक अपने सदृश किसी अन्य की ओर संकेत करते हैं, वहां अवधारणाएं किसी विशिष्टता की वाचक हुआ करती है। एक व्यंग्य-प्रधान है, दूसरा अभिधात्मक। एक को शैली कहा जा सकता है, जबकि दूसरा स्वयंवाच्य और अभिप्रायरूप है। प्रतीक प्रदत्त सामग्री के कलात्मक उपलक्षण होते हैं और अवधारणाएं किसी अमूर्त और प्राप्तव्य को रूपायित करती हैं। यों, कल्पना-जीवी कवि जहां प्रतीकों की पुर्नव्याख्या करते हैं, वहां अवधारणाओं को भी नये अर्थ-सन्दर्भ देने का प्रयत्न करते ही हैं, किन्तु इससे दोनों का मौलिक विभेद समाप्त नहीं हो जाता। ऋत, अमृत, हलाहल, अप्सरा, कामधेनु, कल्पवृक्ष, स्वर्ग, मोक्ष, नारायण आदि प्रत्यय अवधारणा के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं और प्रकृति-देवता, वासुकि, शेषनाग, क्षीर-सागर, मन्दराचल, असुर, ताण्डव, वज्र, चक्र आदि प्रतीक-वर्ग में। काव्यभाषा में ये तथा इन्हीं के समान अन्य अनेक शब्द बड़ी सहजता से घुल-मिल जाते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध हमारे अवचेतन से, हमारे युगातिशायी संस्कारों से है। ऋत' की अवधारणा ने अज्ञेय को व्यापक रूप में प्रभावित किया है। अखिल ब्रह्माण्डव्यापी सनातन नियमों की समष्टि ही 'ऋत' है, जिसमें अरूप कामनाएं और रूपात्मक ध्वनियां उदित और विलीन होती रहती है—

एक चिकना मौन
जिसमें मुखर तपती वासनाएं
दाह खोती
लीन होती हैं।
उसी में रवहीन
तेरा
गूंजता है छन्द
ऋत विज्ञप्त होता है :[१]

कवि इसी को 'शिव' की संज्ञा देता है—

······फैली धुन्ध में बांधे हुए हैं अखिल संसृति
नियम में शिव के
यही तो नाम।[२]

यही अदृश्य क्रम सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया का नियामक है।[३] 'ऋत' की ही तरह प्रलय, देवदूत, नारायण, कामधेनु, अप्सरा, अमृत आदि अवधारणाओं का उपयोग अज्ञेय अपनी रचनाओं में बरावर करते रहे हैं और उन्हें नवीन अर्थ-दीप्ति देते रहे हैं। इसे हम पुर्नव्याख्या न कहकर मूल अर्थ की उद्दीप्ति ही कहेंगे, क्योंकि यहां कवि अवधारणाओं के वाच्यार्थ का तिरस्कार नहीं करता। इस रूप में 'प्रलय' प्रणयी युगल और अनंग का एकत्व[४], 'देवदूत' प्राकृतिक सुषमा का उपमान[५], 'नारायण' नर की व्यथा से करुणार्द्र अविनश्वर जीवात्म तत्व[६], 'कामधेनु' सिद्धियों और समृद्धियों से भरे हुए जीवन का रूपकल्पक, 'अमृत' मानवीय प्रतिभा का और 'अप्सरा' प्रातःकाल की नाचती हुई किरणों के लिए सम्मूर्तन का माध्यम बन जाती है। प्रतीक-विधि का आद्य रूप प्रकृतिदेवत्व भी अज्ञेय के अवचेतन में कहीं बहुत गहरे प्रतिष्ठित है। वे सूर्य के आगे आदिम श्रद्धा से ही प्रणत होते हैं। साथ ही अपनी मानसिकता के अनुरूप वे उसे सर्वप्रकाशक ज्ञान की नवीन प्रतीकार्थता भी देते हैं—

---

१. आंगन के पार द्वार : चक्रान्त शिला ५।

२. बावरा अहेरी : वह नाम।

३. एक अदृश्य क्रम नीचे ही नीचे
झरे पत्तों को पचाता है।
अंकुर उगाता है।
—आंगन के पार द्वार : चक्रान्त शिला २।

४. तीन की उस एकता में प्रलय ने ताण्डव किया था।
—सुनहले शैवाल : नाम तेरा।

५. कांटों का किरीट धारे बने देवदूत।
—अरी ओ करुणा प्रभामय : ऋतुराज।

६. नर जिसकी अनझिप आंखों में नारायण की व्यथा भरी है।
—इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : हवाई यात्रा, ऊँची उड़ान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111502

बावरे अहेरी रे !
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है :
एक बस मेरे मन विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायगा ![२]
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खंडर की शिरा शिरा छेद दे
आलोक की अनी से अपनी ![३]

वायु के प्रति उनकी अनुरोधमयी प्रार्थना भी बहुत कुछ आदिम मनोभाव से मिलती-जुलती है ।[४] एक कविता में वे राशियों की पशु-प्रतीकता के प्रति भी उन्मुख हुए हैं।[५] देह-वल्ली को जीवन के चिरन्तन स्वयं-भाव का प्रतीक मानना भी[६] अधिकांशत: आद्य कामोपासना का ही एक अवशेष है । देह-प्रतिमा इसी संदर्भ में कवि के लिए प्रतीकों का निहितार्थ बन जाती है ।[७] 'वासुकि' और 'पाताल लोक' का उल्लेख अज्ञेय ने 'असाध्यवीणा' में कथा-प्रसंग में किया है और उसे रूढ़ रूप में ही रहने दिया है ।[८] वस्तुत: यहाँ कवि उतना प्रतीकधर्मी नहीं है, जितना परिहासधर्मी । प्रतीकों की परिभाषा के लिए उतने बौद्धिक प्रयत्न की अपेक्षा भी नहीं, वह तो आत्मा में अपने से ही खुलती रहती है ।[९] अज्ञेय की आत्मा में इसीलिए असुर, दिति-कन्या आदि आदिम प्रतीक अपने सनातन और सामयिक अर्थ खोल देते हैं।[१०] अज्ञेय का एक अतिप्रिय प्रतीक है 'मछली' । मत्स्यावतार की आदिम कल्पना जिजीविषा का सनातन प्रतीकार्थ लिए हुए है । मत्स्य से सम्बन्धित मिथक प्राय: सभी संस्कृतियों में उपलब्ध होते हैं और सर्वत्र न्यूनाधिक उनसे जिजीविषा की ही व्यंजना होती है । सृष्टि-पूर्व की जलप्रलयावस्था के बीच जीवन-तत्व को मत्स्य के ही रूप में कल्पित किया जा सकता था । अज्ञेय इस प्रतीक को इसी अर्थ में अंगीकार करते हैं क्योंकि इससे वृहत्तर अर्थ उसे नहीं दिया जा

---

१. लो यह हरी भरी धरती—यह सवत्सा कामधेनु
—मैंने तुम्हें दी ।
—सुनहले शैवाल : भीतर जागा दाता ।
यह 'गोरस' : जीवन कामधेनु का अमृतपूत पय ।
—बावरा अहेरी : यह दीप अकेला ।

२. किरण अप्सराएँ भारहीन पैरों से थिरकीं ।
—सुनहले शैवाल : भीतर जागा दाता ।

३. बावरा अहेरी : पृ० ८-९ ।

४. बहो
मीठी हवा, तुम बहती रहो
पगली हवा, गति बढ़े जीवन की ।
—बावरा अहेरी : झरने के लिए ।

५. कवि कह गये कि हाँ, जब सिंह चला जाता है
तब आते हैं—
नहीं ! नहीं, वह मेरा शुक्र
कभी उच्छिष्ट नहीं खाता है ।
—बावरा अहेरी : ऊगा तारा ।

६. बावरा अहेरी : देहवल्ली ।

७. आँगन के पार द्वार : चक्रान्त शिला २२ ।

८. और—सुना है—जड़ उसकी जा पहुंची थी
पाताल-लोक
उसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग
वासुकि सोता था ।
—आँगन के पार द्वार, पृ० ७४ ।

९. यह बीच अधर : मन रहा टटोल
प्रतीकों की परिभाषा
आत्मा में जो अपने ही से
खुलती रहती है ।
—आँगन के पार द्वार : यह महाशून्य का शिविर ।

१०. कौंध में
मैंने पहचाना
मेरे भीतर जो असुर है
रुँधा, छटपटाता
प्रबल पर भोला ।
क्या ठीक उसी क्षण
तुमने भी ओ दिति कन्या
अपने मन की धधकती गुहा का
द्वार खोला ?
—क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : दिति कन्या को ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता।[1]

मिथक-तन्त्र में विनोदात्मक परिहास-वृत्ति (ह्यूमर) का भी सुन्दर उन्मेष देखने को मिलता है। 'ह्यूमर' को विदूषकत्व से नहीं जोड़ना होगा। विदूषकत्व अक्सर निष्प्रयोजन और सतही होता है, जबकि ह्यूमर का सम्बन्ध आत्यन्तिक महत्व वाले वस्तुविषयों से हुआ करता है। परिहासवृत्ति मानवीय चेतना को अस्तव्यस्त नहीं करती, वरन् उसे अकल्पनीय किन्तु अपरिहार्य वास्तविकता की नवीन स्वीकृति की ओर अग्रसर करती है। इसीलिए उसे उस स्मृति के रूप में देखा गया है जो मुक्ति का अहसास दिलानेवाली होती है। तथ्यों को इसमें तोड़ा-मरोड़ा अवश्य जाता है, किन्तु वह निरुद्देश्य नहीं होता। जो हमारी पकड़ से बाहर है और जो हमें निराशा की स्थिति तक पहुँचा सकता है, उसे मुक्तिदायिनी अत्युक्ति (लिबरेटिंग एग्ज़ेजेरेशन) के द्वारा साहसपूर्वक गम्य और स्वीकार्य बनाया जा सकता है। मिथक-निर्माता सृष्टि की मौलिक समस्याओं से टकरा रहे थे, अतः 'ह्यूमर' उनके लिए एक अपरिहार्य शिल्पापेक्षा थी। प्रायः सभी वर्णनात्मक और कथात्मक मिथकों में परिहास की वृत्ति किसी न किसी रूप में प्रकट हुई है। जीन पॉल ने सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में 'ह्यूमर' के चार आधार-तत्व बताये हैं—द्वन्द्व-परिहार (डिमिंग द अपोजिट्स), विपरिणाम (इन्वर्स इफेक्ट), छद्म आत्मपरकता (सब्जेक्टिव रिजर्व्डनेस) तथा किमाकारत्व (द ग्रोटेस्क)। द्वन्द्व-परिहार का तत्व वहाँ होता है जहाँ एक दूसरे के विपरीत आत्यन्तिक रूप में विभिन्न, ओर-छोर पर स्थित दो वस्तुओं को एक साथ रखकर उनके विरोध के परिहार का प्रयत्न होता है। इसमें अतिशय विराट् और अतिशय लघु, उच्चतम और निम्नतम को समता के बिन्दु पर लाया जाता है। 'विपरिणाम' वहाँ होता है जहाँ असत् का प्रतिफलन सत् या अनन्त वरदान के रूप में होता है। छद्म-आत्मपरकता की विशेषता वहाँ मानी जायेगी जहाँ रचनाकार वस्तुनिष्ठ होने का दावा करते हुए भी आत्मनिष्ठ होता जाए। 'किमाकारत्व' परिहास का सर्वाधिक ज्वलन्त रूप है, जिसमें किसी अतिशय असाधारण वस्तु-विषय या रूप-कल्पना का इस प्रकार प्रस्तुतीकरण होता है कि वह सहज और सामान्य प्रतीत हो। इसमें परिमाणगत अतिशयोक्ति अपने सीमान्त तक हो सकती है। ऐसे प्रसंगों में सन्दर्भित वस्तु असम्भव तो लग सकती है, किन्तु अवास्तविक नहीं। परिहास के इन रूपों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। ये बहुधा मिलेजुले रहते हैं और प्रधानता के आधार पर इनके वर्ग का निर्धारण होता है। मिथकों में परिहास के इन रूपों का बहुलता से प्रयोग हुआ है। काव्य में उनका सन्दर्भण तब और भी रोचक बन जाया करता है, जब कवि उन्हें सामयिक स्थितियों के परिपार्श्व में प्रस्तुत करता है। किमाकार का एक उदाहरण लें—

वामन ने तीन डग में त्रिलोक नाप लिया था,
ऊँचे-पूरे बाम्हन की एक ही डकार से
मच गया कहीं ब्रह्माण्ड में हाहाकार ?[2]

एक स्थल पर अज्ञेय ने किमाकारता का विखण्ड करके मिथकीय प्रसंग को आधुनिक सन्दर्भ में व्यंग्यपरक बना दिया है। क्राइस्ट का सलीब ढोना एक दारुण किमाकार है। आज का मनुष्य भी क्राइस्ट ही है, किन्तु सलीब के बिना उसे कोई पहचान नहीं पाता। आज के मानव की नियति यही है। अपनी पहचान के लिए उसे सलीब ढोना ही पड़ता है—

ओ मेरे मसीहा !
आजादी के बीस बरस निकल गये
और तुम्हें कुछ नहीं मिला—
एक कम्बख्त कम से कम पहचाना जा सकने वाला

---

१. उछली हुई मछली
जिसकी मरोड़ी हुई देहवल्ली में
उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।
....

मिट्टी की बनी, पानी से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी
उस अन्तहीन उदीषा को
तू अन्तहीन काल के लिए फलक पर टाँक दे।
—सुनहले शैवाल : बना दे चितेरे।

२. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटियल सलीब भी नहीं :

....

हाय मेरे मसीहा !

बिना सलीब के तुम्हें कोई पहचाने भी तो कैसे ![१]

कहना न होगा कि यहाँ कवि का अभीष्ट त्रासद प्रभाव की निर्मिति है, न कि परिहास का उद्रेक। ऐसा ही करुण प्रभाव कवि विपरिणामी परिहास के माहौल में भी रचना चाहता है—

लौटते हैं दीन निःस्व नंगे जो
वे मानव पितर प्रजापति हैं।
उन्हें कभी कोई विष
डँस नहीं सकता ॥[२]

विसंगतियों और अभावों से जूझता हुआ मनुपुत्र आज यदि एक ओर नंगा हो गया है, तो दूसरी ओर वह ठोस और निर्भ्रान्त भी हो गया है। उसकी असहायता और युग की निर्ममता ने उसे लौहपुरुष बना दिया है। द्वन्द्व-परिहारी परिहास 'असाध्य वीणा' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

और—सुना है—जड़ उसकी जा पहुंची थी पाताल लोक,
उसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था।
जीवित वही किरीटी तरु
जिसकी जड़ वासुकि के फण पर थी आधारित,
जिसके कन्धों पर बादल सोते थे।[३]

यहां आकाश और पाताल की दूरियों को किरीटी तरु के माध्यम से कम किया गया है, क्योंकि उसकी शाखाएं आकाश में है और जड़ें पाताल में। इस द्वन्द्व-परिहार में किमाकार का भी सम्मिश्रण है। द्वन्द्व-परिहार का एक रूप वहां देखा जा सकता है जहां कवि देशकाल की अखण्डता के मिथकीय बोध से परिपूर्ण होकर समस्त फासलों के लिए अपने को सेतु—यानी सर्वकालीन और सर्वव्यापी रूप में प्रस्तुत करता है[४]। छद्म-आत्मपरकता का परिहास-रूप रचनाकार की निजी शैली से सम्बन्ध रखता है, अतः मिथक के सन्दर्भ में उसे मिथकों में ही देखना होगा। मिथक-सन्दर्भी साहित्य में उसका रूप वहां देखने को मिलेगा, जहां साहित्यकार किसी मिथक का हवाला देते-देते आत्मलीन हो जाए। 'असाध्य वीणा' में अज्ञेय अन्त तक मिथकीय परिवेश की कथा कहते रहते हैं, किन्तु समापन में वे आत्मोन्मुख हो जाते हैं। पाठक को सम्बोधित करके उनकी यह उक्ति छद्म-आत्मपरकता का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करती है—

प्रिय पाठक ! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई !

समापन की ये दो पंक्तियाँ पाठक को इस विनोदपूर्ण आभास का आनन्द देती हैं कि कवि वस्तुपरकता के छद्म से मानो आत्मकथा ही कहता रहा है। इसी प्रकार 'वर्षान्त' कविता में अज्ञेय मिथकीय युग के आद्य अनुभव की बात करते-करते अन्त में किसी अत्यन्त निजी सन्दर्भ पर उतर आते हैं—

साथ चले रह सकते हो क्या ?
बोलो साथी है क्या साहस[५] ?

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, परिहास का यह प्रकार रचनाकार की निजी शैली का आन्तरिक गुण होता है, अतः सभी रचनाकारों में इसका रूप देखने को मिलता है। स्वच्छन्दतावादी कवियों और उपन्यासकारों में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक मुखर हुआ करती है। अज्ञेय में स्वच्छन्दतावादी रुझान के साथ मिथकोन्मुखता भी है, अतः उनके काव्य में मिथकीय परिवेश में भी यह विशेषता स्वतः उभरती रही है।

अज्ञेय का काव्य संसार महत् और विराट् है। उनकी अदम्य जिज्ञासा उन्हें अनुभव और ज्ञान के अंधेरे-उजले कोनों में ले गयी है और कुछ-न-कुछ बहुमूल्य वहां से चुन लायी है। अन्वेषण उनकी जीवन

१. क्योंकि मैं उसे जानता हूं : आजादी के बीस बरस।
२. ,, ,, : लौटते हैं जो वे प्रजापति हैं।
३. आंगन के पार द्वार : पृ० ७४, ७६।
४. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : मैं वहां हूं।
५. बावरा अहेरी : पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मिता है[1]—वही मछली वाली जीजीविषा। उनकी जिजीविषा या जिज्ञासा हर रहस्य को खोलना और थहाना चाहती है। मिथकीय रहस्यलोक उनके मन-प्राण को बड़े वेग से खींचता है। सर्जक का मानस सर्जन के आदि-प्रहर से सहजैव जुड़ जाता है और वहां उसे मिलते हैं मन्त्र, प्रतीक, सर्जन-तन्त्र और अखण्ड दिक्काल। इस उपलब्धि को वह अपने युगबोध से मिलाता है और फिर समूचा योगफल समष्टि को सौंप देता है। समष्टि के प्रति आत्मविसर्जन अज्ञेय की नियति भी है और प्रकृति भी। वे यह जानते हैं कि तपस्या आत्मदान का ही पर्याय है और यह आत्मदान ही उसकी परम उपलब्धि है।[2] मिथिकीय परिवेश भी बहुत कुछ ऐसा ही होता है—आत्मविरत, समष्टि और विराट् के प्रति समर्पणशील। इसीलिए तो वे अपनी आधुनिक और यायावरी मानसिकता के बीच रह-रह कर सृष्टि के आद्य क्षणों (प्री-मॉडियल टाइम्स) के प्रति उत्कण्ठातुर हो उठते हैं।[3]

१. जिज्ञासा का उत्तर अन्त नहीं है
जीवन का कौतूहल है अदम्य :
जीवन की आशा नहीं छोड़ सकती अन्वेषण।
—सुनहले शैवाल : वर्षान्त।

२. ....तपस्या
चमक नहीं है,
वह है गलना :
गलकर मिट जाना—मिल जाना—
पाना।
—सुनहले शैवाल : बर्फ़ की झील।

३. कहां गया वह
जिसने सब कुछ को
ऋत के ढांचे में था बैठाया।
—आंगन के पार द्वार : अन्धकार में दीप।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० देवीदत्त शर्मा
रीडर संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

पहाड़ी भाषाओं की क्रिया पद–रचना में समभागी तत्व

मानवीय व्यक्त भाषा में वाक्य यदि उसकी मूल इकाई है तो क्रिया-पद उसका मेरुदण्ड होता है। वाक्य की विधेयता इसी पर निर्भर होने के कारण वाक्य को अथच भाषा को ही 'क्रिया-प्रधान' कहा जाता है। इसके बिना भावसंप्रेषण की किसी भी विधा में अभिव्यंजनीय संकल्पना (concept) की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि संप्रेषणीय संकल्पना से सम्बद्ध क्रिया-विशेष के घटित होने के काल का तथा उसकी प्रकारता का बोध क्रिया-पद के द्वारा ही कराया जा सकना सम्भव हो सकता है। इसीलिए प्राचीन तथा नवीन सभी भाषाशास्त्रियों ने भाव-संप्रेषण की क्रिया में क्रियापद के विशिष्ट महत्व को एक मत से स्वीकारा है।

इसके अतिरिक्त किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन अथवा उसके संरचनात्मक विश्लेषण में भी क्रिया-पदों का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। सामान्यतः देखा जाता है कि भाषा के अन्य अंगों की अपेक्षा उसके क्रिया-रूप भाषाई अन्तरायों (Linguistic interference) से कम से कम प्रभावित होते हैं। बाह्य आदानों में भी क्रिया पदों में सबसे अधिक अवरोध देखा जाता है। भाषा में यही वह तत्व है जोकि अपनी मूल संरचनात्मक प्रवृत्तियों एवं रूपों को बनाये रखने में सर्वाधिक समर्थ होता है। अतः किसी भाषा के मूल स्रोतों एवं पारिवारिक सम्बन्धों का पता लगाने में उसके क्रिया-पदों का अध्ययन विशेष रूप से सहायक हो सकता है।

विभिन्न भाषाओं की क्रियापद-रचना के अतीत एवं वर्तमान पर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि श्लिष्ट-योगात्मक (inflectional) भाषाओं में क्रिया पद सामान्यतः विभिन्न प्रकार के प्रत्ययों के योग से यथास्थिति क्रिया के कर्ता, कर्म या भाव के पुरुष, लिंग तथा वचन के साथ-साथ प्रसंग-प्राप्त क्रिया के काल एवं प्रकारता (Modality) का भी बोध कराते हैं। संश्लेषणात्मक भाषाओं में यह तत्व मूल क्रिया के साथ संश्लिष्ट रूप में रहता है तथा विश्लेषणात्मक भाषाओं में यह उससे पृथक् रहता है। भारतीय आर्य भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर हम देखते हैं कि संस्कृत ने ही अपने ऐतिहासिक विकास के उत्तरवर्ती काल में किसी क्रिया की प्रकारता का बोध कराने के लिए एकाधिक क्रियांशों का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में जिन दो भिन्न-भिन्न क्रियांशों से भावाभिव्यक्ति की जाती थी उन में से प्रथम कृदन्त रूप तथा द्वितीय तिङन्त रूप होता था। इस प्रकार वे दोनों रूप मिलकर एक संयुक्त-क्रिया का रूप धारण कर लेते थे, जिसमें कि मुख्य क्रिया कृदन्त रूप में तथा सहायक क्रिया तिङन्त रूप में होती है—यथा—**गच्छन् अस्ति, कुर्वन् आस्ते, गतः अभूत्** इत्यादि। इस प्रकार की क्रिया-रूप-रचना अधिक अभिव्यंजक एवं सरल होने के कारण मध्यकालीन आर्यभाषाओं में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रचलित हो गई और आधुनिक आर्य-भाषाओं के विकास काल तक आते-आते पूर्ण रूप से स्थिर हो गई। फलतः आधुनिक आर्य भाषाओं में मूल क्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपों के स्थान पर संयुक्त-क्रियापदों का प्रचलन ही प्रमुख हो गया। संयुक्त-क्रियापद रचना की यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ चली कि उसमें सहायक क्रियाओं के प्रयोगों की बाढ़ सी आ गई। कभी कभी तो एक मूल क्रिया के साथ पाँच-पाँच या छह्-छह् सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया जाने लगा, यथा—

वह अपनी ही बात **कहे चला जा रहा था**। वह हाथ में डंडा लेकर **भागा चला जा रहा था**।

धातुमूल—धातुमूलों की दृष्टि से पहाड़ी भाषाओं के धातुओं की हिन्दी के धातुओं के साथ तुलना करने पर उनके तीन रूप सामने आते हैं।

१. वे धातुमूल जो कि हिन्दी के धातुमूलों के साथ पूर्ण साम्य रखते हैं,

२. वे धातुमूल जो कि हिन्दी के धातुमूलों से साथ आंशिक साम्य रखते हैं,

३. वे धातुमूल जो कि हिन्दी के धातुमूलों से सर्वथा भिन्न हैं। प्रथम वर्ग के धातुमूलों की संख्या सबसे अधिक हैं। हिमाचल प्रदेश के राज्य भाषा संस्थान, शिमला द्वारा प्रकाशित हिन्दी-हिमाचली शब्दावली में संगृहीत ३०० के करीब धातुओं में से लगभग २०० ऐसे हैं जो कि धातुमूल की दृष्टि से हिन्दी के धातुमूलों के साथ पूर्ण साम्य रखते हैं। शेष अन्य दो वर्गों में आते हैं।

धातुमूलों के आधार पर हिमाचली विभाषाओं का वर्गीकरण—हिमाचल की सभी विभाषाओं में समान रूप से प्रयुक्त होने वाले धातुमूलों को छोड़कर विशेष रूप से विभाषा विशेष में प्रयुक्त होने वाले धातु-मूलों के आधार पर हिमाचली की प्रमुख विभाषाओं को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक वर्ग में बिलासपुरी, कांगड़ी तथा चम्बियाली को तथा दूसरे वर्ग में सिरमौरी, महासुई एवं कुल्लुई को। मंडियाली की स्थिति मध्यस्थ पायी जाती है। यह किन्हीं रूपों में प्रथम वर्ग के साथ तथा किन्हीं रूपों में द्वितीय वर्ग के साथ साम्य रखती है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इनका यह अन्तर दो रूपों में दिखाई देता है—एक तो धातुमूल के स्वर के रूप में तथा दूसरा स्वतंत्र धातुमूल के रूप में। धातुमूल के स्वर में पाये जाने वाले अन्तर के मुख्य रूप हैं—हिन्दी धातुमूलों में प्राप्त दीर्घ स्वरों—आ, ई, ऊ—का ह्रस्वीकरण, यथा—

प्रथम वर्ग—छिल्, डुब्, लुट्, सिख, छिंक्, टुट्, चट्, थम्, नच्, कुट्, फुल्, बंड्, भुन्, मग्, मन्, लद् आदि।

द्वितीय वर्ग—छील्, डूब्, लूट्, सीख्, छींक, टूट्, चाट्, थाम्, थूक्, नाच्, कूट्, फूल्, बाँट्, भून्, माँग्, मान्, लाद् आदि।

भिन्न धातुमूल—इन दो वर्गों में पाये जाने वाले धातुमूलों की भिन्नता दो रूपों में देखी जाती है—१. आंशिक भिन्नता २. पूर्ण भिन्नता।

आंशिक भिन्नता—प्रथम वर्ग में 'बढ़ना' अर्थ के अभिव्यंजक धातु का मूल है–'वध्, तथा द्वितीय वर्ग में इसका मूल है—बढ् या बौद् इस प्रकार क्रमशः 'पीसना' अर्थ में—पीहू् (पीस्-पीश्), 'पिसाना' अर्थ में—पिहा (पिशा पिसा), 'परोसना' अर्थ में—परीह् (परोश्-परोस्) आदि।

पूर्ण भिन्नता—धातुमूलों के रूप में पूर्ण भिन्नता प्रदर्शित करने वाली इन विभाषाओं के वर्गीकरण में जो थोड़ा सा अन्तर दृष्टिगोचर होता है वह यह है कि इस दृष्टि से मंडियाली द्वितीय वर्ग की विभाषाओं के साथ अपनी निकटता प्रदर्शित करती है अर्थात् इसमें बिलासपुरी, काँगड़ी एवं चम्बियाली एक वर्ग बनाती हैं तथा शेष विभाषाएँ दूसरा वर्ग, यथा—'गुजरना' अर्थ के अभिव्यंजक धातु का मूल बिलासपुरी, काँगड़ी एवं चम्बियाली में 'लंघ्'—है तो अन्यों में 'डेव्, डो, गुजर्—आदि। इसी प्रकार 'गूँथना' अर्थ में—गुन्हा, मूछ्, बाट्; 'चुनना' के अर्थ में—ताल्, चुण्, छाट्, चुग् आदि। 'झुकना' अर्थ में—नप, झुक्, नौ; 'टपकना' अर्थ में—चुड्, टपक् आदि 'डसना' अर्थ में—डंग, डोस, डस्, टूक आदि; 'बिखेरना' अर्थ में—खिड्, बिखेर्, खलेर्, पगैर् आदि, 'बुलाना' अर्थ में—सद्, शाद्, चिज्, बुल् आदि, 'बोलना' अर्थ में—गला, बोल्, 'भटकना' अर्थ में—बौदल, भटक्, फिर् आदि, 'भागना' अर्थ में—नठ् नस्, भाग्, 'भीगना' अर्थ में—सिज्: भीज : सध्: 'लटकाना' अर्थ में—लम्का, लटका,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लिपटना' अर्थ में—चिम्मड्, लिपट्, चिमट्। 'सींचना' अर्थ में—सेड्, सीच्, सीज्, रच् आदि। 'थकना' अर्थ में—खिज्, थक्, शाँद् आदि, 'थपकना' अर्थ में टुबक्, थपक्, 'निचोड़ना' अर्थ में—नसीड़, पीड्, : नचौड़, 'झाड़ना' अर्थ में—ठुड़क्-ठुडख्:, झाड्, 'भूलना' अर्थ में झूट्, झूल्, 'गिराना' अर्थ में सट्, गरा, ढाल्, शैट्, आदि। 'गिरना' अर्थ में—पौ, रिढ्, पौड़्, लौट्, 'तोड़ना' अर्थ में—ओड़्, तोड्, चोड़्, 'निगलना' अर्थ में—निगल, घूट्, 'भूलना' अर्थ में भूल, पिंग्, विसर्, छड़ा, पचोट्, लै, आदि, 'खोजना' अर्थ में तोप्:, टोल्, लोड़् आदि।

धातुमूलों के आधार पर किये गये उपर्युक्त वर्गीकरण में निकटता की दृष्टि से प्रथम वर्ग डोगरी एवं पंजाबी के निकट पड़ता है तथा दूसरा वर्ग हिन्दी के निकट।

इसके अतिरिक्त सकर्मक क्रियामूलों के आधार पर भी हिमाचली विभाषाओं के उपर्युक्त दो वर्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं, किन्तु इस रूप में पड़ोसी भाषाओं के साथ इनकी निकटता की स्थिति उपर्युक्त स्थिति से भिन्न रूप में देखी जाती है अर्थात् इस दृष्टि से प्रथम वर्ग की विभाषाएँ हिन्दी, पंजाबी के साथ तथा दूसरे वर्ग की विभाषाएँ केन्द्रीय तथा पूर्वी पहाड़ी भाषाओं के साथ अपना निकट सम्पर्क प्रकट करती हैं, यथा—

हलन्त धातुमूल—'चबाना' अर्थ में—चव्, चबा, चाव् (२-४) 'चखना' अर्थ में—चख् : चाख् (७-९), 'जमना' अर्थ में—जम, जाम (८-९) तुल० गढ़० कुमा० नेपाली—चावणु/णो, चाखणु/णो, जामणु/णो।

अजन्त धातुमूल—अजन्त धातुमूलों में पाया जाने वाला अन्तर निम्न रूपों में देखा जाता है—यहाँ पर प्रथम वर्ग के धातुमूल का अन्तिम स्वर-**आ** द्वितीय वर्ग में आव्, आउ, आओ अथवा ओ के रूप में पाया जाता है—यथा—'हराना' अर्थ में—हरा : हराओ, हराउ, 'हिलाना' अर्थ में—हला-लहा : हिलाओ, हिलाव्, 'सुखाना', अर्थ में सुका · शाखाव्, शुकाव्, शुकौ, शकौ, 'डूबना' अर्थ में डुबा, डबा : डबाओ, डबो, 'चुभाना' अर्थ में—चुभा:, चुभो, चुभाव, 'दबाना'—दबा : दबाओ, दबाउ, 'जगाना'—जगा: जगाओ, जगाव्; 'पढ़ाना'—पढ़ा : पढ़ाओ, पढ़ाउ; 'पिसाना'—पिहा : विशाउ, 'बजाना'—बजा : बजाउ, बजाव्, 'बजाओ; 'बनाना'—बना : बनाउ, बनाओ; 'दुहराना'—दुहरा : दुहराओ, दुहराव् आदि।

पश्चिमी तथा मध्यपूर्वी पहाड़ी भाषाओं में पाये जाने वाले समभागी विशिष्ट धातुमूल

इसके अतिरिक्त अनेक धातुमूल ऐसे भी हैं जो कि हिन्दी पंजाबी आदि निकटवर्ती भाषाओं में नहीं पाये जाते हैं किन्तु पश्चिमी तथा मध्यपूर्वी पहाड़ी भाषाओं में अपनी समभागिता प्रकट करते हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो कि पश्चिम में डोगरी क्षेत्र से लेकर पूर्व में नेपाल तक समान रूप से प्रयुक्त किये जाते हैं तथा कुछ ऐसे हैं जो कि इन विभाषाओं के कुछ विशिष्ट भाषाई क्षेत्रों में ही पारस्परिक साम्यता प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ धातुमूल ऐसे भी हैं जो कि मूलत. एक होने पर भी अर्थविस्तार या अर्थसंकोच के कारण किसी क्षेत्र में किसी एक अर्थ में तथा दूसरे क्षेत्र में किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। निम्नलिखित तालिका में कुछ समान मूल के धातुरूपों को दिखाया गया है जो कि इन पहाड़ी भाषाओं के समान मूल स्त्रोत के संकेतक कहे जा सकते हैं—

देखो संलग्न पृष्ठ २८ पर : सारणी

क्षेत्र-विशेष से समभागिता प्रकट करने वाले धातुमूल

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि इन धातुओं में कुछ धातुमूल ऐसे भी पाये जाते हैं जो कि क्षेत्र विशेष की विभाषाओं में पारस्परिक समभागिता को व्यक्त करते हैं। ऐसे कुछ धातुमूलों की सूची इस प्रकार है : नोट—यहां पर कोष्ठक में दिये गये अंक उपर्युक्त सारणी के अंकों के अनुसार हैं—

'उखाड़ना'-उबटणा (३) उपाड़नु/नो (१०, ११) 'उठना', जागना-ब्यूजणा (८-९), बीजणु (१०) ब्योजणो (११), 'उतरना'-होरछणै (८) होरणो (११), 'जगाना'-बिउजालणा (८) बिजालणु (१०) ब्योजोणो (११) 'धकेलना'-धकियाणा (४) ढकियाणा (३) धक्यौणों (११) धक्केणु (१०) 'पछताना'-पस्ताणु (३, १०) पस्ताणो (११) 'कूटना' 'पीटना'-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी	डोगरी	चम्बियाली	कांगड़ी	मंडियाली	बिलासपुरी	कुल्लुई	महासूई	सिरमौरी	गढ़वाली	कुमाऊँनी	नेपाली
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
अटेरना	टेरना	अटेरणा	टेरना	टेरना	टेरना	टेरना	टेरनो	टेरना	अटेरणु	अटेरन/ण	......
उगना	जम्मना	जमणा	जमणा	जमणा	जमणा	जमणा	जौमणो	जामणा	जामणु	जामण/न जामणो	जान्नुम
उछलना	उच्छलना	उटकणा	उटकणा	उटकणा	उटकणा	पटीकणा	उच्चरणै	उटकणा	उचकणु	उचकनो	उटक्(उच्च)
ऊंघना	ऊंघणा	टुलणा	टुलणा	टुल्हणा	टुलणा	टुलणा	डुलनौ	टुल्कणा	अंगणु	उंगणो/ण उंगन	ऊंघ्नु
कांपना	कंबणा	कमणा/ कम्बणा	कम्बणा	काम्बणा	कम्ब्रणा	काम्बणा	कांवणै	कामणा	काम्बणु काम्पणु	कामणो/ण कामन	काम्नु
खांसना	खंगणा	खंघणा	खंगणा	खांगणा	खँगणा	खूँगणा	खूँगणै	खुंगण	खांसणु	खांसणो/ण खांसन	खकानुं
खोजना/ ढूढ़ना	तोपना टोलना	तोपणा	तोपणा/ टोलणा	तोपणा	टोलणा	तोपणा/ लोड़णों	जोहणो लोड़णो	टोलणा	खुज्याणु	हेरणो/ण हेरन	हेनुं
खोदना	खुँणना	खुणणा/ खणणा	खुणना	खुणना	खुणना	कोतणा	खौणणै	खुणना	खँणनु	खोदनो/णो खननो	खोद्नु
गूँथना	गुंदणा	गुन्हणा	गुन्हणा/ मेलणा	मुच्छणा	मुच्छणा/ गुन्हणा	मूछणा	मूँछणा/ बाटणो	मसारना बाटना	बांधणु	बाटणो/नो बाटण	गुत्नु
चखना	चक्खणा	चखणा/ चखणु	चखणा	स्वादणा	चखणा	चाखणा	चाखणो	चाखना	चाखणु/	चाखणो/ चाखण/न	चाख्नु
चबाना	चब्बणा	चापणा/ चापणु	चबाणा	चबाणा	चबाणा	चाबणा	चाबणो	चाबणा	चाबणु चणणु	चपौणों/ण चपौन	चपाउनु
चहचहाना	......	....	......	....	....	बाशणा	बाशणै	बासना	बाशणु	वाशणो/ण बाशन	बाँस्नु
चुराना	चोरना	चोरणा	चोरना	चोरणा	चोरना	चोरणा	चोरणो	चोरना	चोराणु	चोरणो/ण	चोर्नुं
छुपना	लुकना	लुकणा	लुकणा	ल्हुखणा	लुहखणा	लुकणा	लुकणा	छुपणा	लुकणु	लुकणो/ण लुकन	लुक्नु
टपकना	चूना	चुड़ना	चुड़ना	छपकना	चुड़ना	छूटणा	चुड़णो	टपकणा	चूँणु	चूणो/ च्वेन	चुह्नु
डसना	डंगना	डंगणा	डंगणा	डसणा	डंगणा	डांगणा	टूकणै	डोसणा	डांसणु	डाँसणो/ डांसन	डस्नु
पहचानना	नुहार्ना	पुछ्याणणा	पछाणना	पछ्याणना	पछ्याणना	पछैणना	पछाणना	पछाणना	पछ्याणणु	पछयाणनो	चिन्नु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
पहुंचना	पुजना	पुजणा/ पुजणु	पुजणा	पूजणा	पूजणा	पुजणा	पुजणै	पौचणा	पौंचणु	पुजणो/ पुजण	पुग्नु
पौंछना	पूंजना	पुझणा	पुंझणा	पूंझणा	पूंझणा	पुंझणा	टुशणा/ कुशनौ	पुंजणा	पोंचणु	पोछणो/ पोछण	पोछ्नु
फटना	फटना	फटणा	फटणा	फटणा	फटणा	फाटणा	चीरिणो	फाटणा	फाटणु	फाटणो/ फाटन	फाट्नु/ चिर्नु
फेंकना	सुट्टना	सुटणा	शट्टणा/ चुट्याणा	ड्याणा	शटणा/ चट्याणा	शेटणा	शोटणो	फैंकणा	ढोलणु	खेड़नो/ चोट्यानों	फाल्नु
बिलोना मथना	छोलना	छलणा	छोलणा	छोलणा	छोलणा	छोलणा	छालणो	छोलना	छोलणु	छोलणो/ फाड़नो	घोल्नु
रूठना	रुषना	रुषणा/ रुठणा	रुसणा	रुषणा	रुसणा	रुषणा	रुशिणा	रुषणा	रुषणु	रुषाणो/ रुशीणो	रिसाउनु
लाना	लाना/ आणना	आणना	लेजोणा	ल्यौंणा	लेओंणा	आणना	आणणो	लेओणा	ल्यौणु	ल्यौणो/ ल्याणो	लानु
सूखना	सुकना	सुकणा	सुकणा	सुकणा	सुकणा	शुकणा	शुकणो	शुकणा	सुकणु	शुकणो/ शुकन	सुक्नु
सुखाना	सकाना	सुकाणा	सुकाणा	सकोणा	सुकाणा	शकौणा	शकौणा	शकोना	सुकौणु	शुकौणो	सुकाउनु
हांकना	हांकना	खेदणा/ खदेड़णा	खेदना	खेखणा	खेदना	खेदणा	खेदना	खेदना	खेदनु	खेदनो/ खदेड़नो	खेदनु/ खदेड़नु
होना	होना	हूणा/ भौणु	होणा	हुणा	होणा	हौणा	हाणौ/ हुना	होणा	होणु	हुणो/ण	हुनु/ भौनु
हिन्दी	डोगरी	चम्बियाली	कांगड़ी	मंडियाली	बिलासपुरी	कुल्लुई	महासूई	सिरमौरी	गढ़वाली	कुमाऊँनी	नेपाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थैचणा (९) थैचणु (१०) थेचणो (११) ; 'फटना'-चीरिणो (९) चिरीणु (१०) चिरीणो (११) ; 'फैंकना' चट्याणा (६) चुट्याणा (४) चौट्योगौ (११) चोल्योणु (१०) ; 'बहना' बगणा (६) बगणु (१०) बगणो (११) ; 'रहना'-बोशणो (९) बैशणो (७) ब्रैशणे (३) बसनु (१२) 'भूलना'-विसरीणा (७) विसरीणु (१०) भुलीणु (३) भुलीणो (११) 'मसलना'-माडणो (९) माडणो (११) माडणु (१०) ; 'मिलना'-मेंटणा (७) मेटणु (१०) मैंटणो (११) ; 'लीपना'-ल्हैसणा (७) ल्हैसणु (१०) ल्हेसणो (११) ; 'इक्ट्ठा करना,' 'सिमेटना'-बटोलणा (३-४) बटोलणु (१०) बटोलणां (११) ; 'चलना'-हांडणा ( ) हांडणे (९) हंडणा (४, ६) हिटणु (१०) हिटणो (११) ; 'छानना'-चालणा (९) चालणु (१०) ; चालणो (११) ; 'झांकना'-शानो (८) चानो (११) ; 'देखना'-हेरना (७) हेरणु (१०) हेरणो (११) ; 'सोना'-सुतणा (८) सुतणा (९) शितणो (११)।

इसके अतिरिक्त अनेक धातु ऐसे भी हैं जो कि धातु के मूल स्वर की दृष्टि से परस्पर क्षेत्रीण साम्य तथा हिन्दी के धातु के मूल स्वर से वैषम्य दिखलाते हैं, यथा—हिन्दी-कमाना : कमौणा (७) कमौणु (१०) कमोणो (११) ; घुलना : घोहिणा (७) घोलीणो (११) ; धोना : धूणा (३) धूणु (१०) धूणो (११) ; फटना : फाटणा (७, ९) फाटिणु (१०) फाटणो (११) ; रोना : रूणा (३, ९) रूणु (१०) रूणो (११) छोड़ना: छाड़ना/णा (५, ७-८) छाड़नु (१०) छाड़नो (११) ; डुबाना : डबनाओणा (९) डबोणा (९, ५) डुबोणु (१०) डुबोणो (११) ; रूलाना : रुवाणु (३) रुवोणु (१०) रुवोणो (११) आदि।

समभागी ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियाँ—इन विभाषाओं में अनेक ऐसी क्षेत्रीय ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं जोकि कुछ क्षेत्रों के साथ सम्य तथा कुछ के साथ वैषम्य दिखलाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ स्वरात्मक भी हैं और व्यंजनात्मक भी। यहां पर हम धातुमूलों से सम्बद्ध कुछेक प्रवृत्तियों का ही संकेत करेंगे, यथा—सिरमौरी महासूई, कुल्लूई तथा कुमाऊँनी में धातुमूल के **स** का श हो जाता है, जैसे—घश्, पिस्, पीश, चृश्, फंश्, शङ्, शिख्, शुक्, सूख, शुण् आदि। इसी प्रकार सिरमौरी तथा महासूई के अनेक उप-विभाषीय क्षेत्रों में धातु के मूल स्वर **अ** का उच्चारण **औ** हो जाता

C VC

है, यदि धातुमूल की आक्षरिक रचना का रूप **व स व**

CV CVC

या **व सव स व** हो, जैसे—घौस् (घस्) चौढ्, डौर, जौल्, मौर्, भौर, शौड़्, हौस्, बौड़्, चौमक्, बौरस्, तौड़फ्, सौमझ् आदि।

पहाड़ी भाषाओं की क्रिया-पद-रचना—अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समान ही पहाड़ी भाषाओं का विकास भी मध्यकालीन आर्यभाषाओं से होने के कारण इन में भी क्रियापदों की रचना की वही प्रवृत्ति पायी जाती है जो कि अन्य प्रमुख आर्य भाषाओं में पायी जाती है। इन विभाषाओं में बनने वाले विभिन्न क्रियापदों का विश्लेषण करने पर देखा जाता है कि यह रूप-रचना सामान्यतः तीन रूपों में की जाती है—

१. धातुमूल पर सीधे ही प्रत्यय जोड़कर : वृत्ति-बोधक रूपों में :

२. धातुमूल पर कृदन्त प्रत्यय जोड़कर : भूत—कालिक रूपों में :

३. कृदन्त रूपों पर सहायक क्रिया जोड़कर : काल-बोधक रूपों में :

सामान्यतः देखा जाता है कि स्थिति-दर्शक क्रियाओं (Verb Substantives) के रूपों तथा वृत्ति-बोधक रूपों के अतिरिक्त अन्य क्रिया रूपों की रचना कृदन्त प्रत्ययों एवं सहायक क्रियाओं के रूपों से की जाती है। इस प्रकार की रूपरचना में मुख्य क्रिया कृदन्त रूप में और सहायक क्रिया तिङन्त रूप में रहती है तथा क्रिया के पुरुष की प्रतीति उसके तिङन्त रूप से, लिंग की कृदन्त रूप से, वचन की दोनों से तथा काल की प्रतीति सहायक क्रिया के विभिन्न काल-बोधक रूपों से होती है। पहाड़ी भाषाओं के क्रियारूपों की रचना के लिए जिन कृदन्त रूपों का सामान्यतः प्रयोग किया जाता है वे हैं—क्रियार्थक संज्ञा, वर्तमान कालिक कृदन्त, भूत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिक कृदन्त, पूर्वकालिक कृदन्त तथा तात्कालिक कृदन्त।

उत्तरी भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं के समान ही पहाड़ी भाषाओं के क्रियारूपों में भी सामान्यतः तीन प्रकार के वाच्यों-कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य; तीन कालों-सामान्य, पूर्ण एवं अपूर्ण क्रियाओं पर आधारित रूपों सहित भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान; पाँच वृत्तियों (अर्थों)—: निश्चयार्थ, संभावनार्थ, संदेहार्थ, आज्ञार्थ, संकेतार्थ; तीन पुरुषों : प्रथम, मध्यम उत्तम; दो लिंगों : पु०, स्त्री०; तथा दो वचनों : ए०व० ब० व० : की स्थिति पायी जाती है। इन भाषाओं में कुछ ऐसे भी क्रिया रूप पाये गये हैं जिनमें कि नपुंसक लिंग की भी स्थिति का आभास पाया जाता है।[1] किन्तु इस सम्बन्ध में अभी और अधिक अनुसन्धान की अपेक्षा है।

क्रिया रूप-रचना के घटक-तत्व—

रूप रचनात्मक तत्वों के आधार पर पहाड़ी भाषाओं के क्रिया पदों को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—१. काल-बोधक क्रियारूप, २. वृत्ति वा अर्थ-बोधक क्रिया-रूप। काल-बोधक रूपों के तीन प्रमुख रूप पाये जाते हैं—सामान्य काल-बोधक, अपूर्ण काल-बोधक तथा पूर्ण काल-बोधक।

काल बोधक पदों के समीपी संघटक—काल-बोधक पद-रचना के समीपी संघटकों की योजना इन रूपों में पायी जाती है—

सामान्य कालिक—इसके समीपी संघटक होते हैं—मूलधातु+वर्तमान कालिक कृदन्त प्रत्यय+काल-बोधक सहायक क्रिया का रूप।

अपूर्णकालिक—इसके समीपी संघटक हैं—मूलधातु+अपूर्णता बोधक विशेषक+क्रिया (auxiliary verb)+भूत कालिक कृदन्त प्रत्यय+काल बोधक सहायक क्रिया।

पूर्णकालिक—इसके समीपी संघटक हैं—मूलधातु+भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय+विशेषक क्रिया+भूत कालिक कृदन्त+कालबोधक सहायक क्रिया। पूर्णता-बोधक रूपों में काल-बोधक सहायक क्रिया को वैकल्पिक रूप से छोड़ भी दिया जा सकता है।

पहाड़ी भाषाओं के क्रिया-रूपों के संरचनात्मक ढांचे की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करने के बाद अब हम यहाँ पर क्रिया-पद रचना में पाये जाने वाले उन विशेष संघटक तत्वों पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे जो कि न्यूनाधिक रूप में पूर्व में नेपाली से लेकर पश्चिम में भद्रवाही तथा डोगरी तक किसी न रूप में पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ पर इतना संकेत कर देना और भी आवश्यक होगा कि इस विश्लेषण में केवल उन्हीं तत्वों पर विचार किया जायेगा जो कि इन पहाड़ी भाषाओं की क्रिया-पद संरचना की अपनी निजी विशेषताएँ हैं तथा जो इनकी पड़ोसी भाषाओं में नहीं पाई जातीं।

पहाड़ी भाषाओं की क्रिया पद रचना में प्रयुक्त होने वाले समभागी घटक तत्व—

अब हम संक्षेप से क्रिया-पद रचना से सम्बद्ध उन घटक तत्वों पर विचार करेंगे जो कि समान रूप से इन पहाड़ी भाषाओं में पाये जाते हैं तथा जिन्हें इन भाषाओं की अपनी साँझी विशेषता कहा जा सकता है।

स्थिति दर्शक या सत्तार्थक क्रियामूल—इन पहाड़ी भाषाओं में हिन्दी की स्थिति दर्शक क्रिया 'हो' के तीन रूप पाये जाते हैं—१. अस् (८-९), ह (२-७) छ (१०-१२)। इनमें ह वाले क्षेत्रों में कभी-कभी महा-प्राणता तान (tone) विशेष का रूप धारण कर लेती है अतः इसकी प्रतीति तानयुक्त स्वर के रूप में होती है। छ की समभागिता पश्चिम में काश्मीरी के साथ भी पायी जाती है। इसके बहुवचनीय रूपों में न : यथा—छन् (१०-१२), हन्/हिन/न (७-८) अथवा अनुनासिकता : यथा—सीं, ऐं, आँ : की स्थिति भी इनमें समान रूप से पायी जाती है। इसके भूतकालिक रूपों में भी थ का अस्तित्व सभी भाषाओं में समान रूप से पाया जाता है, यथा—थिया, थिये (३, ८, ९,

---

१. यथा—सिरमौरी—'ताउला ताउला हंड रोआ : पु० : ताउले ताउले हंड रोए (स्त्री०) ताउलो ताउलो हंड रोओ (नपु०) 'जल्दी जल्दी चल रहा है'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११, १२), था, थे (४, ५, ६, १०), किन्तु डोगरी में स्पर्श तत्व का लोप हो जाने से केवल **ह** रूप ही पाया जाता है। कुमाउँनी तथा गढ़वाली में **थ** के अतिरिक्त छ रूप भी पाया जाता है।

क्रियार्थक संज्ञा (Infinitive, Verbal noun) अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के समान ही पहाड़ी भाषाओं में भी क्रियार्थक संज्ञा की रचना धातुमूल पर तुमर्थकप्रत्यय जोड़ कर की जाती है। यह तुमर्थ-बोधक रूपिम स्वर भेद से चार वैकल्पिक रूपों में पाया जाता है—णा-णो, णु, णे। इनमें से आकारान्त रूपिम का प्रयोग २, ५-७, ६ में, उकारान्त का ३, १०, १२ में, ओकारान्त का ८, १० में तथा ऐकारान्त का वैकल्पिक रूप से ३ में प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ग्रियर्सन (भा० भा० स० जिल्द IX भाग IV) के अनुसार उकारान्त रूपों की सत्ता पंगवाली, क्यूँथली, कुल्लई, भद्रवाही और भलेसी में, ओकारान्त रूपों की गढ़वाली, जोनसरी, आभ्यन्तर सीराजी तथा गूजरी (हजारा) में, आकारान्त रूपों की बघाटी, आभ्यन्तर सीराजी तथा चम्बियाली में तथा स्वरहीन रूप (यथा, खाण्, करण्) की पाडरी में पायी जाती है। कुमाऊँनी के सांकालिक सर्वेक्षण में देखा गया है कि उसमें भी अब स्वरहीन रूप विकसित हो गया है तथा गढ़वाल में **ओ** का **उ** हो गया है। व्यंजन की दृष्टि से इन सब में सामान्यतः जो एक विशेषता पायी जाती है वह यह है कि ण, र, ड़, ल में अन्त होने वाले धातु मूलों के बाद इसका रूप **न** तथा अन्यत्र (नेपाली को छोड़ कर) **ण** होता है, यथा—टेरना, बुड़ना आदि। पर कुछ रूपों में इसके अपवाद भी देखे जाते हैं जो कि क्षेत्रीय प्रवृत्ति विशेष के कारण होते हैं, यथा महासूई—खुणणा (खोदना) पर अन्यत्र—खुणना।

वर्तमान कालिक कृदन्त—(Present Participle)

हिन्दी के समान ही इन विभाषाओं की क्रिया-पद रचना में भी विभिन्न कालों एवं वृत्तियों के बोधक क्रिया-पदों की रचना के लिए वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों का प्रयोग किया जाता है—यथा—सामान्य वर्तमान : जाता है :; अपूर्ण वर्तमान : जा रहा है :; संभाव्य वर्तमान : मैं आता होऊँ : अपूर्णभूत : जाता था :, जा रहा था, जाया करता था ; सम्भाव्यभूत : आया होता, अगर जाता : ; सम्भाव्य भविष्यत् : होता रहेगा : ; संदिग्ध भविष्यत् : खा रहा होगा :; सातत्य बोधन : होता गया, पकाता रहा : ; अपूर्ण संकेतार्थ : करते करते : ; अपूर्ण क्रिया द्योतन : पढ़ता रहता है, किये जाता है :। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि पहाड़ी की अनेक विभाषाओं में अपूर्ण काल बोधक रूपों तथा सामान्य काल बोधक रूपों में अभेद पाया जाता है, यथा—जा रहा है—जाता है ; जाया करता था—जाता था या जाता रहता था ; खा रहा होगा—खाता होगा ; किये जाता है—करता है, करता रहता है इत्यादि। अतः इस प्रकार के सभी क्रिया पदों की रचना वर्तमान कालिक कृदन्त + काल बोधक सहायक क्रिया के द्वारा की जाती है। अपूर्ण संकेतार्थ को छोड़कर अन्य सभी रूपों में कृदन्त पद विशेषणात्मक होता है तथा लिंग एवं वचन के अनुसार स्वरात्मक तत्व में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु व्यंजनांश सदा अपरिवर्तित रहता है। कुमाऊँनी को छोड़कर अन्य सभी पहाड़ी भाषाओं में यह व्यंजन तत्व **द** होता है तथा रूप रचना में अजन्त धातुमूलों के योग में इससे पूर्व में नासिक्य व्यंजन न् अथवा अनुनासिकता का आगम हो जाता है, यथा—करदा, किन्तु दिन्दा, खाँदा आदि। कुमाऊंनी में यह तत्व केवल न् अथवा अनुनासिकता के रूप में पाया जाता है, यथा—करँ : करता है :, जाने : 'अगर तू जाता', जानूं 'हम जाते हैं' आदि/ग्रियर्सन के अनुसार नेपाली, गढ़वाली, जौनसारी, क्यूँथली तथा आभ्यन्तर सीराजी में इसका स्वर **ओ** तथा अन्यत्र **आ** होता है, किन्तु सांकालिक सर्वेक्षण के आधार पर ओकारान्त रूप केवल नेपाली में पाया जाता है। गढ़वाली में यह उकारान्त तथा अन्यत्र आकारान्त होता है, इसे अपूर्ण क्रिया द्योतक रूपों—पढ़ता रहता है : पढ़दा, पढ़दो, पढ़दु :, पकाता रहा : पकाँदो, पकान्दु पकाँदा :, सम्भाव्य भूत के रूपों—तू जाता तो मैं भी जाता : जान्दे, जान्दा, जान्दु :, वह आया होता : होन्दो, हुन्दु, हुंदा :, सम्भाव्य भविष्यत् के रूपों—होता रहेगा : हुन्दो, हुन्दा, हुन्दु :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपूर्ण संकेतार्थ के रूपों-करते-करते ; करदे, करदा : तात्कालिक क्रिया-बोधक रूपों—गिरते ही : गिरदे, पौन्दे : आदि में देखा जा सकता है। सिरमौरी तथा महासूई में सम्भाव्य वृत्ति बोधक रूपों में ओकारान्त रूप भी पाये जाते हैं : उन्दो, हुन्दो :। इसी प्रकार सामान्य वर्तमान काल की रचना करने वाले रूपों—यथा—देता है, पीता हूँ आदि में सिरमौरी, महासूई, कुल्लुई, मण्डियाली में प्रायः दा का प्रयोग नहीं किया जाता है—देऊ, दे ओ, दे आ सा, देह्याँ—पीऊ (७-९) पेआ सा (७) पीयाँ (४)।

भूतकालिक कृदन्त (Past Participle)

पहाड़ी भाषाओं में भूतकालिक कृदन्त के सामान्य घटक तत्व हैं—मूल धातु+इ (ए)+ओ/ए/ई। इनमें इ+ओ/आ वाले क्षेत्रों में इन दो अग्र+पश्च स्वरों के मध्य में य श्रुति का सन्ध्यात्मक रूप दिखाई देता है, किन्तु इ, ए वाले क्षेत्रों में इन दोनों ही अग्र स्वरों का समीकरण हो जाता है तथा कुछ क्षेत्रों में अन्तिम स्वर पर बलाघात होने के कारण वाक् प्रवाह में मध्याक्षर इ का लोप भी जाता है जिसके फलस्वरूप 'मार' धातु के क्रमशः मारियो, मारिया, मारी, मारे, मार्यो रूप बनते हैं, किन्तु इससे मूल घटक तत्वों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि यह इ का आगम केवल हलन्त धातुमूलों में होता है अजन्त धातुमूलों में नहीं। उनमें केवल य श्रुतिपूर्वक आ, ओ, ऊ, ए का ही योग होता है : आया, आयो, आयूँ, आये आदि :। हलन्त धातुमूलों में इ का आगम एक ऐसी विशेषता है जिसे कि इन सभी पहाड़ी भाषाओं का समभागी संरचनात्मक तत्व कहा जा सकता है। इसमें से इयो, यो वाला रचनात्मक तत्व नेपाली, कुमाऊँनी, गढ़वाली तथा गूजरी (हजारा), मारियो/मार्यो : में, श्रुतिहीन ओ वाला जौनसारी तथा कुल्लई में : आ ओ, बोलो, मारो :, ए तथा ई वाला रूप सिर०, महा० गढ़:, कुल्लू० एवं क्यूंथली में : मारे, देखे, मारी, देखी : तथा आ/या वाला संरचनात्मक तत्व अन्य भाषाओं में पाया जाता है—यथा—आया, देखा, देखया, दिखिया, दिखया आदि।

इन सभी भाषाओं में इस कृदन्त रूप का प्रयोग सामान्य भूतकालिक, भाववाच्य एवं कर्मवाच्य के भूत कालिक, पूर्णवर्तमान कालिक तथा सम्भाव्य भूतकालिक क्रिया पदों की रचना के लिए किया जाता है।

हिन्दी-पंजाबी के समान ही पहाड़ी भाषाओं में भी भूतकालिक कृदन्त के इन रूपों का प्रयोग विशेषण की तरह भी होता है, किन्तु इनकी अपनी एक साँझी विशेषता यह है कि इस प्रयोग में इसका रूप संश्लेषणात्मक होता है, हिन्दी पंजाबी के समान विश्लेषणात्मक नहीं, यथा—मारियो, 'मारा हुआ', देखी 'देखा हुआ' आदि।

पूर्वकालिक कृदन्त (Conjunctive Participle)

पूर्वकालिक कृदन्त रूपों की रचना भी पहाड़ी भाषाओं की अपनी एक पृथक् विशेषता है। इसके मूल घटक तत्व हैं—धातुमूल+इ+कृदन्त प्रत्यय का स्थानीय रूप, जो कि करी, कनै, कै, कई, कि, बेर, रो, र, के रूप में पाया जाता है।[1] इसमें संयोजक रूप तत्व की सत्ता हलन्त क्रिया मूलों में स्पष्ट एवं पृथक् रूप से तथा अजन्त क्रियामूलों में संलयित रूप से भी पाई जाती है। अजन्त क्रिया मूलों में भी पश्च-स्वरों के बाद 'ई' का रूप प्रायः बना रहता है। यथा—'आकर' आई कै—कनै—किरी आदि। इस अवस्थिति में मध्य पहाड़ी में दोनों स्वर मिल कर 'ऐ' के रूप में विकसित हो गये हैं (गढ़० ऐकि कुमा० ऐबेर) कृदन्त प्रत्यय के रूप में ए : आजिए—(डोगरी) का प्रयोग करने वाली कुछ उपभाषाओं में इ और ए मिलकर ए ही रह गये हैं—यथा—आजे 'आकर' (सिर० महा०)। इसी प्रकार ईकारान्त धातु मूलों के बाद सिर० महा० तथा नेपाली में इसकी प्रतीति ए के रूप में होती है : पीए 'पीकर' तथा अन्य सभी भाषाओं में यह ई धातु मूल के स्वर में ही संलयित हो गया है : पी कने/के। ग्रियर्सन ने इकारान्त धातुमूलों के बाद भी पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं में इसकी स्वतंत्र

१. तुल० नेपाली—खायेर 'खाकर', सिर०—खाय रो 'खा कर' (दे० भा० भा० स० जि० ९, भा० ४, पृ० ४६५), अन्य पहाड़ी भाषाओं के लिए दे० ग्रि० उपर्युक्त, पृ० ५७०, ६०२ आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति का निरूपण किया है : पी ई के/कने ।

इसके अतिरिक्त इन सभी भाषाओं के विभिन्न वृत्ति-बोधक तथा पूर्णता बोधक क्रिया-पदों की रचना में भी पूर्व कालिक कृदन्त रूपों का बडा भारी महत्व है । संयुक्त क्रियाओं से बनने वाले क्रिया पदों यथा—पूर्ण वर्तमान—हो गया है, थक गया हूँ, कर लिया है आदि, पूर्ण भूत—बोल पड़ा, चला गया था, खा लिया था आदि, सम्भाव्य भविश्यत -आ जायेगा, कर लिया होगा ; आज्ञार्थक विध्यर्थक—ठहर जा, चले जाओ, चले जाना, सो जाओ ; सामर्थ्यबोधन—कर सकता हूं आदि में मुख्य क्रिया सदा ही पूर्व कालिक कृदन्त रूप में होती है तथा सभी भाषाओं में इसका संरचनात्मक तत्व ई नित्य रूप से पाया जाता है : यथा—हो > होई, थक > थकी, कर > करी, बोल > बोली, चल > चली, खा > खाई, आ > आई, ठहर > ठहरी, चल > चली सो > सोई, सेई आदि ।

इसी प्रकार इन भाषाओं के कर्मवाच्य रूपों की रचना में भी मुख्य क्रिया अपने पूर्व कृदन्त रूपों में रखी जाती है—यथा मुझसे बैठा नहीं जाता, तुमसे खाया नहीं जायेगा जैसे वाक्यों में बैठा/बैठी/बिसी तथा खाई/खाए आदि रूप बनते हैं ।

आज्ञार्थक : अनुनयार्थक : पहाड़ी भाषाओं के मध्यम पुरुष बहुवचन के आज्ञार्थक अथवा अनुनयार्थक रूपों की रचना में भी समभागिता के दर्शन होते हैं । क्रिया-पदों के इस रूप की रचना दो प्रकार से की जाती है—१. संश्लिष्ट : २ : असंश्लिष्ट । अर्थात् संश्लिष्ट रूपों में मूल क्रिया पर ही इसके बोधक प्रत्ययों — आ, ओ को जोड़ दिया जाता है—यथा बैठा, बैठो, देखा, देखो, मारा, मारो तथा असंश्लिष्ट रूपों में इसे सहायक क्रिया पर जोड़ा ज़ाता है तथा मुख्य क्रिया पूर्वकालिक कृदन्त रूप में रहती है, यथा —बोई, बैठी, बोशी जाओ । चली, टुरी जाओ ;सोई जाओ आदि । अजन्त क्रिया मूलों के बाद कभी-कभी धातु के मूल स्वर तथा आज्ञार्थक प्रत्यय के बीच य व श्रुति-स्वर भी पाये जाते हैं, यथा—जावा/जादो : रेहणा ; रोणे; होहणे, रोण,रेण+दिया, दियो, दयो ; साथ ही जाओ और दिओ रूप भी चलते हैं । ऐकारान्त धातु-मूल के बाद इस ओ का ह्रसित रूप ऊ भी पाया जाता है, यथा—डेओ (महा०), डेऊ (कुल्लूई), देउ (नेपा०) ।

सामान्य तथा सम्भाव्य भविष्यत्

पूर्व में नेपाली से लेकर पश्चिम में भद्रवाही तक के पहाड़ी प्रदेश की अनेक भाषायें हैं जो कि नित्य रूप से भविष्यत् अर्थक (सामान्य, अपूर्ण, पूर्ण, सन्दिग्ध) क्रिया-पदों की रचना **ला, लो** प्रत्ययों के योग से करती हैं । स्वर की दृष्टि से इसमें लिंग, वचन तथा भाषा विशेष के अनुसार परिवर्तन होता रहता है, किन्तु व्यंजन का रूप सर्वथा स्थिर रहता है । भविष्यत् कालिक रूपों की दृष्टि से समस्त पहाड़ी भाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (१) सभी पुरुषों में **ला** प्रत्यक्ष का प्रयोग करने वाली ; (२) केवल माध्यम तथा अन्य पुरुषों में **ला** प्रत्यय का प्रयोग करने वाली (३) गा/गे प्रत्ययों का प्रयोग करने वाली । इस प्रकार प्रथम वर्ग में आती हैं—नैपाली, कुमाऊंनी, गढ़वाली, सिरमोरी, क्यूथली (शिमला सीराजी), महासूई (चौपाल एवं कुनिहार), आभ्यन्तर सीराजी, गादी तथा पंगवाली उप विभाषाओं सहित चम्बियाली, भद्रवाही तथा भलेसी ।

द्वितीय वर्ग में आती हैं—बघाटी, क्यूँथली, कुल्लूई तथा चुराही (चम्बियाली) तथा तृतीय वर्ग में आती हैं—मंडियाली, बिलासपुरी, कांगड़ी तथा डोगरी । यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि ग्रियर्सन के सर्वेक्षण के अनुसार चम्बियाली का सम्बन्ध प्रथम वर्ग के साथ पाया जाता है, किन्तु लेखक के द्वारा संग्रहीत सूचना (दो सूचक) के अनुसार इसका सम्बन्ध तीसरे वर्ग के साथ बनता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मांगोगे, खा रहा होगा जैसे प्रयोगों में उपर्युक्त सारणी के अनुसार ७-६ तथा १०-१२ भाषाओं में—मांगुले, मागोले, मोगला, मंगला, मांगला तथा होले, होला, होलो, हुनैलो रूप तथा २-६ तक की भाषाओं में मांगगे मंगगे, मंगना, मांगेओ तथा हुंगा, ऊंगा, होणा, ओणा, हूणा रूप बनेंगे । प्रतीत होता है कि इन मध्यवर्ती पश्चिमी पहाड़ी बोलियों पर पंजाबी तथा पश्चिमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी की बोलियों के प्रभाव के कारण 'ग' वाला रूप प्रधान हो गया जो कि प्रथम पुरुष के भविष्यत् प्रत्यय के रूप में पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र की कुछ अन्य भाषाओं में भी प्रविष्ट हो गया है, किन्तु उधर पश्चिम में भद्रवाही, भलेसी एवं चम्बियाली में तथा पूर्व में गढ़वाली, कुमाऊंनी सहित नेपाली में इसकी अनिवार्य सत्ता इस बात की संकेतक है कि इन भाषाओं का विकास किसी एक ही मूल स्रोत से हुआ तथा इनके बोलने वाले किसी एक ही भाषाई क्षेत्र के रहने वाले थे। यद्यपि राजस्थानी की कुछ विभाषाओं में भी 'लो' की सत्ता पायी जाती है, किन्तु वहां इसका एक ही रूप होता है अर्थात् उसमें पुरुष, लिंग, वचन के कारण कोई रूपरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता।

विशिष्ट भविष्यत् कालिक प्रत्यय

इनमें से अनेक पहाड़ी भाषाओं में भविष्यत् कालिक क्रिया-पदों की एक अन्यतम रूप रचनात्मक विशेषता यह है कि उनमें सामान्य भविष्यत् के उत्तम पुरुष के रूपों में 'म' प्रत्यय की स्थिति पायी जाती है, यथा जौनसारी—मारमा, 'मैं मारूंगा', मारमे 'हम मारेंगे', क्यूंथली—'टीपूमां/मी 'मैं मारूंगा/गी' टीपूं में/मीं 'हम मारेंगे' 'मारेंगी', क्यूंथली—सीराजी—पीटू मैं, पीट् में 'हम पीटेंगे' किन्तु पीटुला 'मैं पीटूगां', सोदीची (आउटर सीराजी)—पिट् मूं 'ए० व०' पिट् में (ब० व०), चुराही (चम्बियाली)—माम्मा—(मारमा) (ए० व०), माम्मे (ब० व०), भद्रवाही—कुटमले कुट में (पु० व० व०), कुट् मेले (स्त्री०), भलेसी—कुट्मल (पु० ब० व०), कुट्मूंल (स्त्री० व० व०) कुल्लई—देई दे आम 'दे देंगे'। नेपाली में भविष्यत् के रूपों में तो नहीं किन्तु वर्तमान के उत्तम पुरुष ब० व० के रूपों में 'म' की वैकल्पिक स्थिति देखी गई है यथा—हामी छौं/छम् 'हम हैं, हामी हुन्छौं, हुन्छम् 'हम हैं' (वैकल्पिक रूप) यहाँ पर यह जानना अत्यन्त रुचिकर एवं ज्ञान वर्धक होगा कि मागधी प्राकृत से विकसित अनेक पूर्वी भाषाओं में भी उत्तम पुरुष, एक वचन के रूपों में 'म' प्रत्यय की स्थिति पाई जाती है, यथा—पायम् 'मैं पाऊंगा' (लूंगा), कहम् 'मैं कहूंगा' (आधु० असा० कुर्माली ठार : बिहारी की उपभाषा) तथा पाम् 'मैं लूंगा' दिम् 'मैं दूंगा' (नार्थ बंगाली की रंगपुर तथा दीनापुर की उप बोलियां, देखिए—काकती, असामिया, संरचना और विकास, (अंग्रेजी पृ० ३३४) इन रूपों में 'म' की स्थिति सम्भवतः उत्तम पुरुष, एक वचन के सार्वनामिक प्रत्यय का अवशेष है।

प्रेरणार्थक (Causative)—प्रेरणार्थक क्रियापदों की संरचना में भी पहाड़ी वर्ग की अनेक विभाषाएँ परस्पर समभागिता के रूपों को दर्शाती है—

इस दृष्टि से नेपाली, कुमाऊंनी, गढ़वाली, सिरमौरी, बघाटी, क्यूंथली, कुल्लूई एक दूसरे के अति निकट पाई जाती है। जहां अन्य विभाषएँ मूलधातु पर **आ** प्रत्यय जोड़कर प्रथम प्रेरणार्थक रूपों की रचना करती हैं वहां से उपर्युक्त विभाषाएँ आउ, ओ, आओ, आव् प्रत्ययों के योग से इन रूपों की रचना करती है। स्मरण रहे कि ये सभी रूप परस्पर मुक्त-विकल्पन कहे जा सकते हैं। मूलतः ये एक ही मूल प्रवृत्ति का संकेत करते हैं। **ओ** वाला रूप आ+उ तथा आ+व् का ही संध्यात्मक रूप होता है। इन में से प्राधान्य की दृष्टि से **आउ** वाले रूपों की नेपाली, गढ़वाली तथा कुल्लुई में—नेपा० गराउनु 'कराना', गढ़० चराउणो चराना, गढ़वाली में **आउ** के साथ **ओ** वाला रूप भी पाया जाता है—खिलौणु 'खिलाना', पिलौणु, कुल्लुई-पढ़ाउणा 'पढ़ाना', पियाउणा 'पिलाना' आदि। **ओ** वाले रूपों की कुमाऊंनी, बघाटी तथा क्यूंथली में—कुमा० करौना 'कराना', बघाटी—क्यूंथली—चरौणु 'चराना', टिपौणु 'पिटवाना' आदि तथा **आव्** एवं **आओ** वाले रूपों की सिरमौरी तथा महासुई में पाई जाती है—पढ़ाओणा 'पढ़ाना', पलाओणा 'पिलाना', सुताओणा 'सुलाना', हराओणा/हराउणा 'हराना', समझाओणा/समझावण आदि। स्मरण रहे कि सकर्मक क्रियाओं के कर्मवाच्य रूपों की रचना भी इन्हीं प्रत्ययों के योग से की जाती है (देखो पृ० ३०)।

विशिष्ट रूप रचनात्मक प्रवृत्तियाँ—इसके अतिरिक्त क्रियापद रचना की कुछ ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी हैं जो कि कुछ विशेष विभाषाओं में ही पायी जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यहाँ पर अब हम उनमें से कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का ही उल्लेख करेंगे जो कि एकाधिक विभाषाओं में पायी जाती हैं तथा इनकी रूपरचनात्मक प्रवृत्तियों की समभागिता का स्पष्ट संकेत करती हैं। इनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय है सातत्य बोधक (अपूर्ण) वर्तमान कालिक रूपों की रचना। 'मैं आ रहा हूँ' जैसे वाक्यों से प्राप्त क्रियापदों का विश्लेषण करने पर देखा जाता है कि कुमाऊंनी, सिरमौरी, महासूई तथा मंडियाली में यह रूप जा+लाग्+रह+काल-बोधक सहायक क्रिया के द्वारा बनाया जाता है, यथा—कुमा०—जाण लागि रयूँ, सिर०—जाणो लागी रोयाँ, महा०—डेए लागो, मंडि०—जांदा लागि रा। जो कि संकल्पनात्मक दृष्टि से 'जाने' की वर्तमान स्थिति के संकेतक हैं तथा जिनका शाब्दिक अर्थ होता है—'जाने की क्रिया में लगा हुआ हूं'।

पश्चिमी पहाड़ी की कुछ विभाषाओं में पाई जाने वाली इस प्रकार की विशिष्ट पदरचना की ओर डा० ग्रियर्सन (भा० भा० स० जिल्द IX भाग IV पृ० 725 आदि) का भी ध्यान गया था जिसे कि उन्होंने स्थिति-दर्शक भूत कालिक कृदन्त (Static Past Participle) का नाम दिया है। उन्हें इस प्रकार की विशिष्ट रूपरचना के दर्शन, मंडियाली, चम्बियाली तथा पंगवाली में हुए थे जो कि उनके अनुसार क्रिया के भूतकालिक कृदन्त रूप के 'या' के स्थान पर 'ई' कर देने तथा उसके आगे 'रा' जोड़ देने से बनता है, यथा—मंडि०—मारीरा, चम्बि० पंग०—मारो रा 'मार रहा है'। जो कि उनके अनुसार 'पीटे जाने की स्थिति या दशा का द्योतक करता है। (In the State or condition of being beat)।

वर्तमान सर्वेक्षण में उपर्युक्त वाक्य का रूप मंडियाली में तो 'जांदा लागी रा' मिला है किन्तु चम्बियाली में 'चलेरा' ही। मंडि० में पूर्णता बोधक वर्तमान कालिक क्रिया रूपों में भी इस विशिष्ट पद रचना की स्थिति पायी गयी है, यथा—करी लई रा हुंगा 'कर लिया है; सदाई रा 'बुलाया है' आदि।

सर्वसामान्य रूप से पायी जाने वाली क्रियापद रचना की एक अन्य विशेषता, जिसकी ओर यहाँ संकेत किया जा सकता है, यह है कि सामान्य वर्तमान कालिक रूपों—यथा—देता है, पीता हूँ, रहती है, रहते हैं आदि, अपूर्ण वर्तमान कालिक रूपों, यथा—पढ़ता रहता है आदि तथा पूर्ण वर्तमान कालिक रूपों, यथा—हो गया है, खा लिया है आदि में काल बोधक तथा स्थितिदर्शक क्रिया 'है' के रूपों को प्रायः छोड़ दिया जाता है, यथा—दे ओ/दिंदा; पींऊ/पींदा पीयाँ; रोओ/रैंदा/रैंदे आदि।

इन भाषाओं की एक अन्य विशेषता जिसकी ओर संक्षेप से संकेत किया जा सकता है वह है निषेधात्मक क्रिया पदों की पृथक् रूप रचना। नेपाली तथा कुमाऊनी में तो स्वीकारात्मक (affirmative) क्रिया पद रचना के समान ही निषेधात्मक (negative) पद-रचना का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, किन्तु अन्य पहाड़ी भाषाओं में स्थिति-दर्शक क्रिया के भूतकालिकरूपों में इसके दर्शक होते हैं, यथा—सिर० था/थियो : नहीं था-नाथी, नइथी, तुल० कुमा० छी 'है' : नाथी, न्हाति 'नहीं है', नेपा० थिएं/था : थिइन 'नहीं था।'

निष्कर्ष—पहाड़ी भाषाओं के उपर्युक्त क्रियापदों की समभागिता तथा पद-रचनात्मक विशिष्ट प्रवृत्तियों को देखते हुए आपाततः हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह यही है कि

१. अतीत के किसी अज्ञात काल में कोई ऐसी मूल भाषा रही है जिसके बोलने वालों का प्रसार काश्मीर से लेकर नेपाल तक हुआ है। ये लोग सम्भवतः खुश थे।

२. इन सभी भाषाओं की आधारभूत मूल भाषा एक ही रही है तथा काल-क्रम से अन्य भाषाओं के ऊपरी प्रभाव से इनके बाह्य रूपों का विकास भिन्न-भिन्न रूपों में होता गया, किन्तु आन्तरिक गठन की दृष्टि से मूल ढाँचा किसी न किसी रूप में बना रहा।

३. इन भाषाओं के विभिन्न अंगों के भाषाई-तत्वों एवं संरचनात्मक रूपों का इसी प्रकार का विश्लेषण इनके आन्तरिक सम्बन्धों एवं भाषाई एकता पर अद्‌भुत प्रकाश डाल सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. पहाड़ी भाषाओं के विस्तृत आधारों पर आधारित अध्ययनों की अत्यन्त आवश्यकता है जिससे कि इनके बीच प्रवाहित होने वाले भाषाई अन्तर्वर्गों का पता लगा कर इनके मूल स्त्रोत का पता लगाया जा सके तथा उसके मूल रूप का ऐतिहासिक पुनर्गठन किया जा सके।

५. अन्त में सूचनार्थ इतना और कहा जा सकता है कि लेखक ने पिछले दस वर्षों में दर्दो-पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में जो अध्ययन किया है उसकी ही पुष्टि उपर्युक्त विश्लेषण से भी होती है। इस विशाल यज्ञ में योगदान के लिए पर्याप्त संख्या में योग्य तथा उत्साही भाषा-शास्त्रियों तथा भाषा मीमांसकों की अत्यन्त आवश्यकता है। तीव्रगति से बदलते हुए आज के सामाजिक वातावरण में यदि पहाड़ी भाषाओं के अतीत पर प्रकाश डालने वाली इस अमूल्य निधि का समय से संरक्षण न किया गया तो हमारी यह पैतृक निधि हम से सदा के लिए लुप्त हो जायेगी तथा आने वाली पीढ़ियाँ हमारी इस उपेक्षा के लिए हमें कभी क्षमा नहीं करेंगी।*

* प्रस्तुत शोध पत्र—राज्य भाषा संस्थान, हिमाचल प्रदेश शिमला की वार्षिक लेखक—गोष्ठी में १३ मार्च, १९७५ को पढ़ा गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० अतुलवीर अरोड़ा
पंजाब विश्वविद्यालय ईवनिंग कॉलेज
चण्डीगढ़

धूमिल का कविता संसार और 'पटकथा' की भूमिका

'काव्य' और 'कविता' मेरे निकट दो अलग-अलग रचना-क्षेत्र है और मैं मानता हूँ कि दोनों के मानदण्ड और संसार भी इसीलिए अलग-अलग हैं। यह संभव है कि 'कविता' में किसी को काव्यानुभूति उपलब्ध हो जाये लेकिन 'काव्य' में कवितानुभूति के लिए कोई स्थान शायद ही हो। यूं भी 'काव्य' एक कठिन, शास्त्र-सम्मत और प्रायः विस्तृत अर्थ देने वाला एक बिगड़ैल और झगड़ालू शब्द है, जबकि 'कविता' अपनी मुक्त, साहसी और युगान्तरकारी उग्र भंगिमाओं में साफ पहचानी जा सकती है, संरचना के स्तर पर भी और कथ्य की अन्दरूनी हलचल के स्तर पर भी। इसलिए जब मैं धूमिल के 'काव्य-संसार' की बजाये धूमिल के कविता संसार की बात शुरू करता हूँ तो यह स्पष्ट है कि मैं काव्य और कविता के उक्त अन्तर की छूट अपने लिए सुरक्षित रखना चाहता हूँ। धूमिल ने स्वयं एक सही कविता को पहले 'सार्थक वक्तव्य' माना था और मेरी निगाह इन दो शब्दों की अवहेलना इसलिए भी नहीं कर पाती कि ये शब्द 'काव्य' के लहजे में कम और 'कविता' के लहजे में अधिक उपयुक्त बैठते हैं।

मुझे धूमिल के अपने शब्दों का सहारा लेते हुए उसके कविता संसार के निकट आने की कोशिश निरर्थक नहीं लगती और मैं मानता हूँ कि धूमिल ने 'खड़ी बोली में कविता' न लिख कर 'खड़ी बोली की कविता' लिखी है यानी धूमिल का हठ मुझे उसकी कविता के भीतर दाखिल होने में काफी मदद देता है।

यूं तो उसने आज की समूची कविता को एक बेहद लड़ाकू भाषा और तेवर के साथ अभिव्यक्ति देने का काम करते हुए देखा है, लेकिन, क्या धूमिल के अपने प्रसंग में यह बात ज्यादा साफ होती दिखाई नहीं देती जब उसका निजी और व्यक्तिगत स्वभाव भी वैसा ही हो? धूमिल की कविता का संसार धूमिल के निजी और वैयक्तिक (व्यक्तिगत भी) स्वभाव एवं बर्ताव का वह संसार है जिसके सहारे वह पूरे परिवेश के मिज़ाज को परखता है और उसके साथ पेश आने के लिए अपने सामाजिक चेहरे की रेखाएं संभालता हुआ कविता के इलाके के अंदर दाखिल होता है। आज यह आकस्मिक नहीं लगता कि कविताओं में धूमिल बकौल धूमिल 'एक ऐसा आदमी था जिसका मरना कविता से बाहर नहीं था' राजकमल चौधरी के लिए यह बात कहते हुए शायद ही धूमिल को यह खयाल अटका हो कि यह बात उसके अपने संदर्भ में भी उतनी ही खरी है। यह खरापन ही है जो धूमिल की आदमियत को जगह देता हुआ उसे कविताओं में आदमी के आदमी के साथ साक्षात्कार की तस्वीर खड़ी करने में मदद देता है। अशोक वाजपेयी ने 'मानवीय साक्षात्कार' की बात करते हुए युवा लेखन के साहस और उग्रता की पड़ताल करने का प्रयास किया है और इस प्रयास में धूमिल को केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, कमलेश और विनोद कुमार शुक्ल की परम्परा में रखने की कोशिश की है। लेकिन, जरा कुरेद कर देखें तो रघुवीर सहाय को छोड़ कर बाकी सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदमियों की कविताओं में एक विशेष प्रकार का शालीन छलावा आपको मिल जायगा जिसकी वजह है उनकी कविता का 'काव्य'। जरूरत से ज्यादा गोल और लुभावना। जबकि धूमिल की कविता पुट्ठों से पैदा होकर पुट्ठों का ही आकार बाहर फेंकती हैं। यही वजह है कि ये 'अंधेरा, कीचड़ और गोश्त की खुराक पर जिंदा हैं' और शायद यही वजह है कि ये दूसरे कवियों की बनिस्बत ज्यादा उजड्ड मुँहफट और ढीठ ढंग की कविताएं हैं। इनमें आदमी' का आदमियत भरा साक्षात्कार परिवेश के साथ-साथ खुद को भी खोलता है। कहीं-कहीं तो इसका खुलना फटने की भंगिमा लिये हुए है जो आँतों के फटने की तकलीफ को बाहर फेंकता है: 'मैं चारों तरफ़ से बन्द हूँ। मैं जानता हूँ कि इससे न तो कुर्सी बन सकती है। और न बैसाखी / मेरा गुस्सा जनमत की चढ़ी हुई नदी में / एक सड़ा हुआ काठ है। लन्दन और न्यूयार्क के घुंडीदार तश्मों से / डमरू की तरह बजता हुआ मेरा चरित्र / अंग्रेजी का 8 है। (शान्ति-पाठ)—यह खुलना या फटना एक पूरी पीढ़ी की नपुंसकताओं का है जो एक ओछी और कमीनी ज़िन्दगी जी रही है और अब तक चुकी नहीं। धूमिल इसकी नब्ज़ चीर कर इसका सही-गलत लहू इस तरह अलग करता है कि इसकी नपुंसकताओं के कारण स्पष्ट होने लगते हैं। इन कारणों में सबसे बड़ा है इस पीढ़ी का 'पूंजीवादी दिमाग'। ऐसा नहीं कि इस कारण को पहले न पहचाना गया हो। मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' नामक अपनी कविता में इसे यूँ रखा है—कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ। वर्तमान समाज चल नहीं सकता। पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता। लेकिन एक ही 'पहचान' की पहचान और बखान के रास्ते अलग हो सकते हैं। इसलिए धूमिल को अपने रास्ते पर चल कर एक अलग ढंग से वहां पहुँचना था जहां मुक्तिबोध पहुंचने की क्रिया में ही रह जाने से नहीं पहुंच सके। यह आकस्मिक नहीं कि ढीठ कवि ने 'पूंजी से जुड़े हुए **हृदय**' की जगह 'पूंजीवादी दिमाग' रख दिया है। आखिरकार इसकी कोई सार्थक प्रक्रिया है जिसमें धूमिल ने जाना है कि उसकी पीढ़ी के 'पूंजीवादी-दिमाग' ने अभी तक चीजों के शालीन बने रहने की आकांक्षाएं पाल-पोस रखी हैं। यह पीढ़ी परिवर्तन तो चाहती है, विरोध की मुट्ठियां भी तनाती है लेकिन इसकी हरेक बात फैसले की हद तक आकर रुक जाती है क्योंकि चन्द टुच्ची सुविधाओं के लालच के समक्ष इसके अभियोग की भाषा चुक जाती है। यह वर्तमान समाज की 'पटकथा' है और 'पटकथा' का धूमिल एक पूरी कविता में अपने जैसे तमाम जन-सामान्य के साथ उसी ऊब, पीड़ा, झूठ, लानत-मलामत, और हिजड़ेपन से उकतायी एक सिड़ी जिंदगी जी रहा है जो एक भौगोलिक और राजनीतिक नक्शे के भीतर खुंदाती सी घिसट रही है। यह भी आकस्मिक नहीं है कि धूमिल को कविता में आदमियत के साथ अपने साक्षात्कार को 'संसद' से घसीट कर 'सड़क' पर लाना पड़ा है। एक जन सामान्य के जहन में व्यवस्था से जुड़ी हुई आस्था के टूट जाने पर उपजे हुए मोह-भंग में धूमिल और उस जैसे दूसरे आम-जन को यकायक सिटक कर सड़क की हलचल के बीच खड़ा होना पड़ा है। अपनी इस भूमिका की पूरी नाप-जोख के लिए 'पटकथा' एक मुमकिन संगति है जिसमें धूमिल अलग-अलग कविताओं में से लौटकर एक जगह अपने और अपने परिवेश को समेटता और खोलता है। 'पटकथा' इस स्तर पर धूमिल की पूरी कविता बन जाती है और 'पटकथा' का संसार धूमिल का पूरा मौजूद और उपलब्ध कविता-संसार। संरचना के स्तर पर 'पटकथा' एक कमज़ोर कविता है। लेकिन, क्या वजह है कि इस कविता से अलग करके धूमिल की कविता की पहचान अधूरी रह जाती है? क्या इसलिये कि यह मुमकिन और संगत कविता बाकी कविताओं की पूरक है? दूसरी कविताएं संरचना के स्तर पर 'पटकथा' से मज़बूत हो सकती हैं और कथ्य के स्तर पर भी अपने आप में पूरी, लेकिन फिर भी बहुत बार अनायास 'पटकथा' का अहसास बीच-बीच में आकर तुनक जाता है; तो क्या धूमिल की कविता में अनुभव और संघर्ष का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार सीमित है ! शायद हाँ ! लेकिन संसार सीमित रह जाने का मतलब यह नहीं कि कविता सीमित है । कविता उपलब्धि नहीं है । यह दुर्भाग्य की बात है कि धूमिल की बहुत सी कविताएं अप्रकाशित पड़ी रह गयी हैं । डॉ० नामवर के सहयोग से जो कविता-संग्रह (संसद से सड़क तक) प्रकाश में आया है, निश्चय ही वह भी पूरा-का-पूरा धूमिल की अपनी अपेक्षाओं को पूरा नहीं करता होगा । लेकिन जैसा और जो कुछ हमें उपलब्ध है, उसका एक बहुत बड़ा अंश कविता के नाम पर उपलब्धि की संज्ञा है और जिसकी पुष्टि 'पटकथा', 'मोचीराम', कवि १९७०, और 'मुनासिब कार्यवाही' द्वारा की जा सकती है । मैंने कहा कि संरचना के स्तर पर 'पटकथा' एक कमज़ोर कविता है लेकिन यह कविता धूमिल की कविताओं में एक बड़ी उपलब्धि है तो इसकी वजह क्या है ? दरअसल, 'संसद से सड़क तक' की २५ कविताओं का सिलसिला इसकी गवाही देता है । जिस कायदे-क्रम में ये कविताएँ संकलित हैं, 'पटकथा' उनमें अन्तिम है । जाहिर है, नामवर और धूमिल दोनों ने इसे संग्रह का समापन माना है । हालांकि जरूरी और कतई जरूरी नहीं है कि समापन करने के कार्य को निबाहने वाली कविता होने से ही यह उपलब्धि मान ली जाए । लेकिन, क्या यह सही नहीं कि यह कविता सन्' ६८ तक प्रकाश में आ चुकी थी और चर्चा का विषय भी बन चुकी थी । यह एक विवादास्पद कविता थी और इसकी तुलना के लिए उठायी गयी कविताएँ मामूली कविताएँ नहीं थीं । संग्रह में संकलित 'कविता' से 'पटकथा' तक की २५ कविताओं का एकालाप जिस तरह घुल-मिलकर यकायक 'पटकथा' में आकर एक नाटकीय संवाद में उतरने लगता है और पूरे संग्रह को एक निजी आकार देने लगता है, उससे भी लगता है कि 'पटकथा' धूमिल के कविता संसार का मुख्य द्वार है जिसमें से दाखिल होकर ही धूमिल की कविता का सही और माकूल जायज़ा लिया जा सकता है । अन्य कविताओं के एकालाप के मुकाबिले 'पटकथा' में प्रलाप भी है जो संवादबद्ध है । यह सहज आश्चर्य का विषय है कि एकालाप से प्रलाप तक और प्रलाप के एकालाप से संवादबद्ध हो जाने के बीच भी धूमिल का ढीठ और उजड्ड कवि अपनी प्रकृति नहीं त्यागता और उसकी रक्षा के लिए चौकस खड़ा रहता है । 'पटकथा' तक पहुँचते-पहुँचते धूमिल ने संभवतः इतना सच-झूठ निगल लिया था कि उसे अंकित करने के लिए एक ऐसी कविता का माकूल चेहरा आवश्यक था जो उस निगले हुए सच-झूठ की अपच को अपनी झुंझलायी और असंतोष से पीड़ित नसों के द्वारा अभिव्यक्ति दे सके । 'पटकथा' का यह माकूल चेहरा इतना तनाव तिक्त है कि सारी झुँझलाहट को पाठक के अन्तर्जगत से खींच कर बाहर ले आता है । हालांकि, यह भी किसी से छिपा नहीं है कि इस लम्बी लेकिन पूरी कविता के कमज़ोर लेकिन आकस्मिक प्रभावों से जुड़े हुए स्माव के पीछे दो-ऐक अन्य कवियों का कविता-संघर्ष लगातार झांक रहा है । ये दो कवि हैं—राजकमल चौधरी और गजानन माधव मुक्तिबोध । ये दोनों कवि धूमिल के अवचेतन में स्थित धूमिल की कविता को कहीं-न-कहीं ज़रूर काटते-पीटते-संवारते आए हैं । धूमिल ने इनसे सीखा है और बहुत कुछ वैसा बिना किसी मोह के त्यागा भी है जिसकी वजह से इनकी कविताओं की फैंटसी आलोकित होती है या फिर धुंधली पड़ जाती है । जिस चीज को धूमिल नहीं छोड़ पाया उसी ने धूमिल की कविता को दाग़ी बनाया है । अक्सर यह दाग़ीपन स्मावगत झाईयों में उपलब्ध होता है और यह प्रभाव के दबावों से संभव हुआ है । ऐसा अक्सर देखा गया है कि रचाव और बुनावट के आधारभूत कानून एक विशेष प्रकृति की रचनाओं में एक-से बने रहते हैं । ऐसा खासकर पिछले दशक की बहुतायत लम्बी कविताओं के साथ हुआ है जिनमें राजकमल की 'मुक्ति-प्रसंग' और मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' मिसाल के तौर पर गिनायी जा सकती हैं । धूमिल की 'पटकथा' इसी कड़ी में आती है । कुमार विकल की कविता (एक लड़ाई समानान्तर) जो उनके हिसाब से अभी तक पूरी नहीं है, के भी इसी कड़ी में जुड़ने की संभावनाएं ज्यादा हैं और यह खतरनाक हो सकता है । उतना ही जितना धूमिल के लिए हुआ । धूमिल ने लम्बी कविता का वही कानून अपनाया था जो राज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमल ने अपने स्तर पर और मुक्तिबोध ने अपने स्तर पर अपनाया था। लेकिन राजकमल और मुक्तिबोध ने अपने-अपने हिस्से के अंतर माप रखे थे। धूमिल इसे संभव नहीं कर पाये और रचाव के मोर्चे पर अचानक फिसल पड़े। फिसलने के बाद उन्होंने 'मुक्ति प्रसंग' और 'अंधेरे में' के रचावों से जूझना शुरू किया। 'मुक्ति-प्रसंग' का प्रलाप तार्किक था क्योंकि वहाँ अर्द्ध-मूर्च्छा की स्थिति बरकरार थी।' अंधेरे में' का नाटकीय एकालाप उसमें 'फैंटसी' की तार्किकता को जगह देता था। उस वक्त जबकि 'पटकथा' को इन दो तरह के रचावों से पूरी तरह मुक्त होने की आवश्यकता थी क्योंकि इसे हर शर्त पर 'मुक्ति प्रसंग' या 'अंधेरे में' न होकर 'पटकथा' होना था, तब धूमिल अपने समकालीनों और पूर्वजों से भिड़ गये। कथ्य की हलचल ने रचाव बिन्दुओं की असली परीक्षा के वक्त मुकरना शुरू कर दिया और हालत यह हुई कि न कविता नींद के बीच नींद की कविता बन सकी और न स्वप्न के बीच 'फैंटसी'। हाँ, इतना जरूर हुआ कि जूझते वक्त इसके सिरे और सख्त हो गये और यह यकायक संवादबद्ध हो गयी। संवादबद्ध होने के साथ ही यह 'मुक्ति-प्रसंग' और 'अंधेरे में' के रचाव से कहीं ज्यादा जटिल हो गयी। अब यह धूमिल की खूबी कहें या खामी, उसके कविता-व्यवहार ने इसे जटिल रचाव के साथ-साथ ज्यादा से ज्यादा सपाट भी रखा। केवल इसी अव्य-वस्थित बिन्दु ने इसे 'पटकथा' की शर्त दी अन्यथा इसे कुछ और होना था और तब यह उपलब्धि भी न रहती।

'पटकथा' जिसमें धूमिल का पूरा उपलब्ध कविता-संसार ऐंठता नजर आता है, एक झटका है और उसके बाद सब शान्त है। एक बेबस संसार और बंद। खुलने की इन्तजार करता हुआ। इसमें धूमिल खुली दृष्टि से चारों तरफ देखता है और पहले ब्रिम्ब के साथ ही पूरी कविता के माहौल को अपने में समेट लेता है—एक ही सर्द छलांग में—

जब मैं बाहर आया
मेरे हाथों में
एक कविता थी और दिमाग में
आँतों का एक्स-रे।

—यह 'बाहर आना' क्या है ? क्यों है ? कहाँ से है ? और कविता हाथों में क्यों ? जो एक्स-रे हाथों में होना चाहिए था वह दिमाग में क्यों ? या जिसे एक-साथ दोनों जगह होना चाहिए था, वह केवल एक जगह क्यों ? यह बुनावट का तकाजा है जो कथ्य की हलचल के अनुकूल है। यानी प्रतिकूल होकर ही अनुकूल है क्योंकि इसे प्रलाप से एकालाप तक पहुँचकर एक नींद में से गुजरते हुए दूसरी नींद तक पहुंचने के बीच संवादबद्ध होना है। और यह संवाद एक नक्शे, एक मानसिकता, एक राजनीति, एक व्यवस्था, एक संस्कार, एक भूगोल के साथ है जिसका पूरा नाम 'हिन्दुस्तान' है। यह हिन्दुस्तान धूमिल की कविता में जितने आकार, जितने बिम्ब लेता है, उनमें कुछ जो तीखे और सर्द हैं, उन्हें कविता आम और अदने आदमी की भूख का नाम देती है या फिर अपनी लाचारी, इंतजार, सुनहरी वादे, खुशफहम इरादे, लोकनायक के चुनाव, भाषाई खाईयाँ, युद्ध की आग, अकाल के लंगर, शान्तिवाद, जनतन्त्र का तमाशा, समाजवाद और उसका हिन्दुस्तानी इतिहास। इस इतिहास के बीचोंबीच गुजर रहा है एक व्यक्ति। नाम धूमिल। नाम हटाइये। आम आदमी रखिये। आम आदमी हटाइये। हिन्दुस्तान रखिये। आदमी के भीतर-बाहर खड़ा-गिरता हिन्दुस्तान। इस हिन्दुस्तान की पूरी शक्ल कैसी है ? इसका जायजा धूमिल ने दिया है और इसकी मिसाल 'खड़ी बोली की कविता' में दूसरी नहीं है :

एक अजीब-सी प्यार भरी गुर्राहट :
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है।

धूमिल की कविता 'पटकथा' का सबसे बड़ा सच उसकी कविता के पूरे संसार को आलोकित करता है और इस सच को बिना किसी लाग-लपेट के सीधे मुँहफट होकर रोज़ाना की भाषा में कहा गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना किसी शर्म, गुस्से, झुँझलाहट और लुकी-छिपी दोगली नियत के। यह लग सकता है कि धूमिल की मुद्रा मसीहाई हो लेकिन 'सच' होने के आगे इस मुद्रा को नज़रन्दाज किया जा सकता है—'सुनो ! आज मैं तुम्हें सच बतलाता हूँ। जिसके आगे हर सच्चाई छोटी है। दुनिया में भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क रोटी है।' और धूलित की पूरी कविता इस तर्क की पैरवी में ग़र्क है। इसे उसके कविता-संसार की सीमा समझें या एक आम आदमी के साथ खड़ा हो सकने की कवि की ताकत। ये ऐसे प्रश्न हैं जो बहस का विषय हो सकते हैं, लेकिन शायद शुद्ध साहित्यिक चर्चाओं के लिए इन्हें तब तक निषेध की दृष्टि से देखा जाएगा जब तक साहित्य के छद्म संस्कारों से हमारी अलोचना मुक्त नहीं हो जाती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० पे० अ० राजु
हिन्दी विभाग, आंध्र विश्वविद्यालय,
विशाखापत्तनम (आंध्रप्रदेश)

नयी कविता : सामाजिक संसक्ति

आधुनिक काव्य-धारा हिन्दी के ही नहीं, बल्कि सभी भारतीय साहित्यों के इतिहास में अधिकतर वादों के नाम से ही प्रचलित एवं प्रसिद्ध होने लगी है। हिंदी साहित्य में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि जो प्रचलित हो गये हैं, उनके कारण पाठक को तो यह लाभ हुआ कि उन वादों में गिरफ्त काव्यात्मा एवं कृतिकार की विचारधारा को पहचानना सरल हो गया है।

जब कवि कुछ विश्वास, कुछ विचार एवं सिद्धांतों के प्रति अपना आकर्षण अथवा विकर्षण जताते हुए कविता करने लगा है तब कवि के वे ही सिद्धांत पाठक के लिए भी पथप्रदर्शन का काम करने लगे हैं। अतः कविता की आत्मा की रूप-रेखा तुरंत स्पष्ट होती रही चाहे उसकी श्रेष्ठता के संबंध में विद्वानों में एकमत नहीं हो।

आधुनातन साहित्यिक क्षेत्र में प्रचलित इन वादों के नाम सुनते ही कुछ विद्वान तो आज भी नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। परंतु उनको यह नहीं भूलना चाहिए कि आज के पाठक अत्यन्त प्रबुद्ध चिंतनशील, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों के सूक्ष्म पारखी हैं जिन्हें शुद्ध कविता, ब्रह्मानंदसहोदर अथवा लय, ताल छंद आदि के नाम पर तृप्त करना संभव नहीं है।

हिन्दी साहित्य में द्विवेदी-कालीन कवि-लोगों ने प्राचीन भारतीय कथानकों को लेकर आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल पाठक को प्रबुद्ध करने का जो प्रयत्न किया था उसका एतिहासिक महत्व जल्द ही समाप्त हो गया था, क्योंकि कवि एवं पाठक का इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकता, प्राचीन गौरव-गरिमा की व्यर्थ प्रशंसा में विश्वास उठ सा गया था। कवि ने फिर अंतर्मुखी होकर अनुभूति, सौंदर्य-बोध, प्रकृति-वर्णन के करते हुए हिन्दी काव्य-धारा को आगे बढ़ाकर अपनी नवीन चेतना का ज़बर्दस्त परिचय प्रस्तुत किया था। यही काव्यधारा छायावाद नाम से प्रसिद्ध हुई।

इसके उपरांत जब भारत में सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की काया पलट गयी, विश्व के इतिहास का प्रभाव भी भारत पर पड़ चुका था। मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था से मेधावी-गण परिचित होने लगे थे, साहित्य में भी वह विचारधारा समादृत होने लगी, सामान्य मानव एवं साधारण परिस्थितियाँ कथ्य के रूप में स्वीकृत की जाने लगीं। अमीरी-गरीबी को मानव-कल्पित मानकर उनका डटकर खंडन भी किया जाने लगा। और स्थूल रूप से यही काव्य-धारा प्रगतिवादी कविता के नाम से प्रसिद्ध होकर पाठक को लगभग पाँच-छः वर्षों तक प्रभावित करती रही। इस समय तक आते-आते इधर गद्य का भी पर्याप्त विकास होने लगा और सिद्धांत अथवा विचार-धारा के प्रचारार्थ कविता की अपेक्षा यह गद्य विधा अधिक अनुकूल माध्यम प्रमाणित होने लगी। तब कवि लोग फिर रूढ़िबद्ध प्रगतिवादी विचार-धारा से मुक्त होकर कथ्य, शैली, उद्देश्य सभी में नये नये प्रयोग करने के लिए कृतसंकल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गये। और 'तारसप्तक' तथा परवर्ती सप्तकों के नाम से कविता-संकलन निकाले गये। विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ लिखकर ये प्रयोगवादी कवि अपने विचार, मंतव्य एवं गंतव्य स्पष्ट कर चुके थे। प्रयोगवादी कविता के प्रवर्तक तथा उन्नायक अज्ञेय का कथन है—प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह सत्य के जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेरणा की क्रिया को और उन साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। इस प्रकार संक्षेप में प्रयोग सत्यान्वेषण तथा उसके प्रेषण का माध्यम है। लेकिन कविता जैसी अत्यंत नाजुक तथा अनुभूतिप्रधान विधा के क्षेत्र में उक्त प्रयोग अधिकाँशतः बुद्धिगत होने के कारण साधारण पाठक को वह उचित मात्रा में प्रभावित नहीं कर सके। इसका परिणाम यह हुआ कि अंत में प्रयोग की यह हिन्दी काव्य-धारा नयी कविता में विलय हो गयी है।

इतिहास की दृष्टि से देखें तो नई कविता का आरंभ चाहे तो 'दूसरा सप्तक' के बाद यानी 1951 माना जा सकता है। परंतु 1953 में प्रकाशित 'नये पत्ते' के प्रकाशन के साथ साथ उसका आरम्भ निस्संदेह माना जा सकता है।

नयी कविता प्रधानतः समसामयिक परिस्थितियों, समस्याओं, विशेषकर लघुमानव अथवा जन-सामान्य के सुख-दुःख को लेकर उसके समानांतर ही मुखरित हो रही है। यह कौन नहीं जानता कि स्वाधीन भारत में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में जो परिस्थितियाँ उभर आयी हैं उन से लगभग सभी श्रेणी के लोग ऊब से गये हैं, और उन में एक प्रकार की अतृप्ति, निराशा, खालीपन, अनिश्चितता व्याप्त हो गयी है। नयी कविता में इन्हीं विषमताओं का यथावत वर्णन प्रतिबिंबित होने लगा है। नये कवि समाज की समस्याओं से प्रतिबद्ध होकर उनके प्रति प्रत्येक को उत्तरदायी बनाने की चेष्टा भी कर रहे हैं। उनकी इसी प्रवृत्ति को और इसी चेष्टा को नयी चेतना का नाम दिया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि कविता में वास्तविक परिस्थितियों के प्रति चेतना है, संसक्ति है, प्रतिबद्धता है और थोड़ी बहुत मात्रा में विद्रोह भी।

अनगिनत त्यागों, बलिदानों और आकाँक्षाओं द्वारा हम जो राजनीतिक स्वातंत्र्य प्राप्त कर चुके थे उसके अर्थ एवं सार्थकता के सामने कवि धूमिल एक प्रश्न-चिन्ह ही खड़ा करते हैं। जैसे—

"बीस साल बनने के बाद
मैं अपने आप से एक सवाल करता हूँ
जानवर बनने के लिए कितने सब्र की ज़रूरत होती है?
क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है?
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई मतलब होता है?"

—इस प्रकार कवि वर्तमान सामाजिक समस्याओं के प्रति प्राचीन कवियों के समान तटस्थ न रहकर रस, छंद आदि के नाम पर कलाबाजी प्रदर्शित न कर सीधे हमसे यह सवाल पूछते हैं कि हम क्या हैं,' कहाँ हैं, कैसे हैं और क्यों हैं। इतना ही नहीं, कवि अपने को इन वर्तमान समस्याओं की उपज ही मानते हुए अपनी प्रतिबद्धता एवं लोक-संपृक्ति को बड़े साहस के साथ व्यक्त करता है और अपने को एक नये पुरुष के रूप में गढ़ने के लिए लालायित भी है।—राजेन्द्रकिशोर के शब्दों में—

बीसवीं सदी की जटिल समस्याओं ने
मुझे उत्पन्न किया,
अकाल नृत्यों के परिवार ने
मेरा लालन-पालन किया,
शत-शत वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक
ग्रंथियों से मेरा निर्माण हुआ—
कि मैंने अनुभव किया—
मैं तीनों देवताओं की सम्मिलित शक्तियों का
नया पुरुष रूपांतर हूँ।

—इस प्रकार नयी कविता में सामाजिक विसंगतियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के खुले चित्रण के साथ-साथ कवि उनके प्रति अपना पृथक दृष्टिकोण भी व्यक्त करता है। प्रगतिवादी कविता में समस्याओं के प्रति जो आक्रोश रहा था, क्रांति का जो आह्वान था, वह नयी कविता में नये रूप में व्यक्त होने लगा। जिस प्रकार नये कवि सामाजिक कटुताओं से परिचित हैं उसी प्रकार अपनी शक्तियों तथा प्रवृत्तियों से भी। अतः वह केवल नारेबाजी से तृप्त नहीं होता। विजयदेवनारायण साही के स्वरों में नया कवि वास्तविकता के प्रति अपने दृष्टिकोण यों व्यक्त करता है—

सच मानों प्रिय
इन आघातों से टूट-टूटकर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बंद हिमालय रोते हैं
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार,
कितने सूरज गल रहे अंधेरे छिपकर
हर आँसू कायरता की खीज नहीं होता।

—इस तरह कवि अपनी स्थिति के प्रति स्वाभिमान और आत्मविश्वास को लेकर चेत गया है। नये कवि की एक और चारित्रिक विशेषता यह है कि वह अपनी विशिष्टताओं के साथ-साथ अपनी दोष-दुर्बलताओं को भी सहर्ष स्वीकार करने लगा है। उसकी इस प्रवृत्ति और हिम्मत को भी नयी चेतना की संज्ञा दी जा सकती है। इसे मानवतावादी दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। अतः कवि कभी कभी अपने में—मानव में—पुरुषार्थ की कमी का अनुभव भी करता है। भवानी-प्रसाद मिश्र लिखते हैं—

कभी रोया कभी बड़-बड़ाया
कभी मुट्ठी बांधी समाज पर
कभी नाराज हुआ समाज पर
कभी स्वयं अपने पर झल्लाया,
कभी साथियों पर।

—इस प्रकार की दुर्बलताओं के उल्लेख मात्र से कवि तृप्त न होकर उनका मज़ाक भी उड़ाया करता है। 'मायादर्पण' का कवि श्रीकांतवर्मा सेवा, त्याग, मैत्री आदि पर गर्व करने वाले व्यक्तियों पर कैसे बरस पड़ता है—

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ
किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता।
मेरे न होने से कुछ भी नहीं हिलेगा,
मेरे पास कुरसी भी नहीं जो खाली हो।
मनुष्य वकील हो, नेता हो, संत हो, मवाली हो—
किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता।
नाटक की समाप्ति पर आँसू मत बहाओ।
रेल की खिड़की से हाथ मत हिलाओ।

—वैसे तो हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि भी आदमी से अहंकार, ममता, छुडाने के लिए—

माता नास्ति पिता नास्ति
नास्ति नास्ति बंधु-सहोदर,
जातस्य मरणं धृवं।

—आदि शाश्वत सत्यों का उद्घाटन कर चुके थे। परंतु नये कवि की शैली उससे भिन्न है जिसमें अनुभूति की गहरी परतें पाठक को अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं और उसे प्रभावित भी करती हैं।

और इस नयी चेतना का कवि यथास्थिति, गतानुगतिकता से भी चिढ़ता है, परंतु उसकी यह चिढ़ अथवा आक्रोश प्रगतिवादी कवि का आक्रोश नहीं है। इसमें कुछ पश्चाताप है, आत्मावलोकन है, व्यंग्य है, अनुभूति है, चैतन्य एवं विशिष्ट बनने की सलाह भी है। आज की हमारी दिनचर्या अथवा समाज की यान्त्रिक जीवनचर्या देखें तो सचमुच लगता है कि ये सब उसी प्रकार चल रहे हैं जिस प्रकार एक टाइपराइटर से अक्षर छपकर प्रत्यक्ष हो रहे हों। कवि के शब्दों में—

एक टाइपराइटर पृथ्वी पर
रोज़ रोज छापता है
दिल्ली, बंबई, कलकत्ता।
+ + + + +
एक चिड़-चिड़ा बूढ़ा थका क्लर्क
ऊबकर छपे हुए शहर को
छोड़ चला जाता है।

—साधारणतः मानव की यह दुर्बलता होती है कि वह सफलताओं को जितनी ललक से स्वीकारने को तैयार है, उतनी मात्रा में अपनी विफलताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नहीं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि उसे सदा सफलताएं ही हासिल नहीं होतीं। लेकिन आज की विडंबना यह है कि मानव अपनी असफलताओं को सफलताओं के रूप में स्वीकारता ही नहीं बल्कि उन पर गर्व भी करता है। वास्तव में यह कैसी आत्म-प्रवंचना है, सोचते ही रोमांच हो जाता है। कवि रामदर्श मिश्र की ये पंक्तियां देखें—

छाया में, चारों ओर
कुर्सियों पर तख्तों पर
मुर्दे बिछे हैं—

इसी प्रकार—

शाम होते ही
नोटों का ढेर बटोर कर
मुरदे उठ खड़े होते हैं
और चल देते हैं
अपने अपने रंगीन मकबरों की ओर
जहाँ सीमेंट से जड़ी हुई उनकी रूहें
उनका अंतहीन इंतजार कर रही होती हैं.
और जीवित लोग
शापग्रस्त से
पत्थर की तरह गड़े रह जाते हैं राहों में—
या टूटकर फुटपाथों पर गिर पड़ते हैं
रातभर
भगवान अपनी लाशें बटोरता है।

—आज की वैज्ञानिक प्रगति विभिन्न राजनीतिक शास्त्रों के पठन-पाठन, तार-फोन पर चलाये जानेवाले करोड़ों रुपयों के व्यापार आदि पर इठलाने वाले व्यक्तियों को एक बार आत्मावलोकन करना है कि हम जी रहे हैं अथवा मर रहे हैं।

— इसी प्रकार नयी कविता की नयी चेतना कई शैलियों में हमें वस्तु-स्थिति और यथार्थता से अवगत कराती है। और ये कवि जहाँ तक हो सके उपदेशों की अपेक्षा तानों, व्यंग्य-बाणों के द्वारा मानव को प्रबुद्ध, विवेकी, चिंतनशील एवं साहसी बनाना चाहते हैं, और जीवन के प्रति निराशा के बदले आस्था भी बढ़ाते हैं। तात्पर्य यह है कि आज की हिंदी नयी कविता में जो चेतना परिलक्षित होती है वह इसलिए नयी कही जा सकती है कि इसमें प्राचीनता का अनुभव है, नवीनता की उत्कंठा भी है। व्यक्ति के प्रति प्रेम है और समाज के प्रति मान भी। जीवन की क्षण-भंगुरता की स्पृहा भी है और उसके अस्तित्व के नैरंतर्य में विश्वास भी है। अर्थात् क्षण-बोध भी है एवं शाश्वत बोध भी। व्यक्ति की अनुभूति के साथ-साथ समष्टि का अनुभव भी जुड़ा रहता है।

निष्कर्षतः कहना यह है कि अधुनातन समाज में जीवन जिस प्रकार रंगीन तथा संश्लिष्ट बनता जा रहा है उसी अनुपात में नयी कविता में नयी चेतना भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० जगमोहन चोपड़ा
हिन्दी विभाग
पत्राचार शिक्षा निदेशालय
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में नायक की स्थिति

'गोदान' (१९३६) से 'नदी के द्वीप' (१९५१) तक की उपन्यास रचना अथवा 'नदी के द्वीप' से मुर्दा-घर' (१९७४) तक की उपन्यास रचना इस बात का प्रमाण है कि (कुछेक प्रयोगों को छोड़कर) हिन्दी उपन्यास में नायक की स्थिति एक आवश्यक भूमिका की स्थिति है।[१] केवल इसके स्वरूप और इसकी अवधारणा में अन्तर आता गया है। क्योंकि उपन्यासकार के जीवन को नज़दीक से देखने तथा आदमी की तलाश के आग्रह ने उससे परिवेश को बड़ी तलखी से चित्रित करने की दृष्टि दी है। यही नहीं उसने रचना की मूलभूत प्रक्रिया में समूह गत और व्यक्तिगत दो रचना दृष्टियों से प्रेरित होकर आधुनिकता को विभिन्न स्तरों पर आत्मसात भी किया है। यही कारण है कि इसका साक्षात्कार हर उपन्यास में अपने-अपने स्तर पर हुआ है। आधुनिकता के मूल में प्रश्न चिह्न लगाने की प्रक्रिया को हर उपन्यास में अलग-अलग धरातल पर आंका गया है। सुनीता, चित्रलेखा, गोदान' शेखर : एक जीवनी में एक स्तर पर, झूठा : सच, वे दिन में दूसरे स्तर पर मैला आंचल, राग दरबारी, लाल टीन की छत तथा मुरदा घर में तीसरे स्तर पर अभिव्यक्ति मिली है। इसी तरह यह पथ बन्धु था, उसका बचपन, अलग-अलग वैतरणी, धरती धन न अपना, बहती गंगा, बूंद और समुद्र, सूरज का सातवां घोड़ा, अन्धेरे बन्द कमरे, अपने-अपने अजनबी, मछली मरी हुई, क़न्दील और कुहासे, एक चूहे की मौत, बेघर, तमस, ओस की बूंद, सफेद मेमने तथा बांधो न नाव इस ठांव आदि में आधुनिकता की चुनौती को विभिन्न धरातलों पर स्वीकारा गया है। बात सुनीता, चित्रलेखा गोदान या नदी के द्वीप की हो या राग दरबारी, लाल टीन की छत अथवा मूर्दा घर की सभी जगह व्यक्तिगत तथा समूहगत दोनों ही रचना दृष्टियां एक दूसरे की साधक भी रही हैं और बाधक भी। इनमें समन्वय लाने का प्रयास भी है और सह-अस्तित्व की स्थिति भी। इसलिए कभी बात वैयक्तिक सामाजिकता की की जाती है और कभी सामाजिक वैयक्तिकता, कभी सुनीता तथा नदी के द्वीप की और कभी लाल टीन की छत अथवा मुरदा घर की। असल बात व्यक्ति तथा समूह में नए सन्तुलन की खोज है जो आज नष्ट हो चुका है। आज का उपन्यासकार कभी इनके स्वतंत्र पक्षों की व्याख्या करता है और कभी इनमें सामंजस्य ढूंढने

१. 'नदी के द्वीप' (भुवन), पथ की खोज (चन्द्रनाथ), बलचनमा (बलचनमा), सूरज का सातवां घोड़ा (मासिक), चांदनी के खण्डहर (बसन्त) उखड़े हुए लोग (शरद), बूंद और समुद्र (साजन), उसका बचपन (बीरू), कब तक पुकारूँ (सुखराम), यह पथ बन्धु था (श्रीधर), शहर में घूमता आईना (चेतन), वे दिन (मैं), अठारह सूरज के पौधे (मैं), समुद्र में खोया हुआ आदमी (श्यामलाल), न आनेवाला कल (मनोज सक्सेना), दूसरी बार (मैं), कन्दील और कुहासे (कियू), धूप छांही रंग (सुकान्त), बे घर (परमजीत), सूरजमुखी अन्धेरे के (रत्ती), अन्तराल (कुमार, श्यामा), तमस (जरनैल), सफेद मेमने (डाक्टर, जस्सू), धरती धन न अपना (कालीचरण), लाल टींन की छत (काया), बांधो न नाव इस ठांव (चेतन)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयास। अंतता नायक की स्थिति भी इनके केन्द्र से जुड़ी हुई है और प्रायः इन दोनों दृष्टि बिन्दुओं को अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति से अलग नहीं कर पायी। आज नए संदर्भों, नए धरातलों, नए स्वरों, नए मूल्यों, तक प्रयोगों आदि की पुकार है। आधुनिक जीवन में जो अकुलाहट है, छटपटाहट है, कसमसाहट है इसे आंशिक अभिव्यक्ति मिल रही है। आंशिक इसलिए कि इसकी समग्रता को आज के के उपन्यास में अभी तक समेटा नहीं गया है।[1] यही नहीं आज औप-मासिक नायक भी अपनी परम्परागत अवधारणा से खण्डित होकर एक नए रूप में, नए अर्थ में, हमारे सामने आ रहा है जिसे अभी तक सही अभिव्यक्ति नहीं मिल पायी। विघटित रूप में नायक का हमारे सामने आना कोई आकस्मिक नहीं है। इसके पीछे और मूल में आधुनिकता की वह प्रक्रिया है जिसने जीवन की मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाकर इसे आँकने की प्रेरणा दी है। एक पूरी प्रक्रिया जहां आभिजात्य नायक का स्थान मध्य व निम्न वर्गीय नायक ने लिया और तत्पश्चात वह भी एक ऐसे बिन्दु पर पहुंचा जहां उसकी अपनी पहचान के अर्थ भी बेमानी और धुंधले पड़ने लगे। एक ऐसा बिन्दु जहां उसके परम्परागत अर्थों पर शंका उठने लगी। समय की मांग कहें अथवा अपने युग की आवश्यकता, आधुनिकता की यह प्रक्रिया जब कुछ अनजाने ध्रुवों पर जाकर नायक की परम्परागत अवधारणा को अस्वीकारने लगी ठीक वही बिन्दु नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना का जन्मदाता हुआ।[2]

इस औपनासिक धारा में नायकत्व को प्रश्रय नहीं मिल सका बल्कि एक विशिष्ट प्रकार की मनः स्थितियों, घटनाओं, या काल अथवा समस्या विशेष या शहर, गांव, मूर्त्त-अमूर्त्त आकारों ने नायकत्व ग्रहण कर लिया और नायकत्व की पूर्व स्थिति और पूर्व अवधारणा का अतिक्रणण किया। इस स्तर पर यह नायकत्व की कोटि में भी नहीं आता क्योंकि मूलतः इसकी परिकल्पना नायक विहीनता की होती है। यह आलोचना की सीमा ही कही जा सकती है कि नायक-विहीन उपन्यासों में भी आज नायकत्व को खोजा जा रहा है, आज का हिन्दी उपन्यास समकालीन परिवेश के जिन तनावों, वर्तमान वैज्ञानिक संकटों, व्यक्ति, समूह, मनःस्थितियों तथा मूल्यहीनता तथा भविष्यहीनता से जुड़ा होने के कारण विलक्षण प्रश्न खोजता है जहां केवल किसी एक पात्र, किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक चरित्र को रेखांकित नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में नायक का स्वरूप व उसकी स्थिति खोज पाना सहज नहीं है क्योंकि शब्दों के पूर्वाग्रही अर्थ एक विशेष प्रकार का संकट पैदा करते हैं। परिणामस्वरूप आज के संकुल जीवन में नायक की भूमिका के अर्थ निश्चित रूप में परम्परागत अर्थ न होकर नए अर्थ ग्रहण कर चुके हैं। मानवी-विघटन की प्रक्रिया ने नायक के बिम्ब का विघटन किया और यह विघटित बिम्ब ही आज की परिस्थितियों में नायक की प्रामाणिक—संज्ञाएं जुटा पाया है। प्रायः यही कारण है कि उखड़े हुए लोग का 'देशबन्धु', सूरज का सातवां घोड़ा का 'माणिक', धूपछांही रंग का 'जौहरी साहब' अथवा 'डंडा स्वामी', सफेद मेमने का 'जस्सू' अथवा 'डाक्टर', मुरदा घर की 'रंडियां' अथवा 'रोज़ी' नायक की सम्भावित भूमिकाएँ बन सकते हैं क्योंकि इन पात्रों में मनुष्य का सही परिचय मिलता है जो उसकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के समूचे अन्तर्बाह्य को समेटने के प्रयास का परिणाम है।

नायक की भूमिका का यह एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष नायक की उच्चत्तर भूमिका से जुड़ा हुआ है। यह भूमिका समाजवादी दृष्टि एवं साम्यवादी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर लिखे गए उपन्यासों में विशेष तौर पर उपलब्ध होती है। इन उपन्यासों में नायक की स्थिति नायकत्व की भूमिका की है, लेकिन इसका उच्चतर प्रमाण आस्थावान मूल्यों की खोज है, अतः नायक एक अन्य रास्ते से शाश्वत आदर्शों और आधुनिक जीवन की अपेक्षाओं के बीच सन्तुलन खोजने के हेतु एक प्रकार के सक्रिय

१. आज का हिन्दी उपन्यास—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० १५-१६.
२. देखिए परिशोध अंक १६; आलोचक का पूर्वग्रह और नायक-विहीन उपन्यास परिशोध संयुक्त अंक २१-२२ : परम्परागत नायक : पुनर्विचार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक (पाज़िटिव हीरो) की भूमिका अपना रहा है। नायक की यह स्थिति वांछनीय होते हुए भी बहुत प्रामाणिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि जीवन की निकटतम स्थिति में ऐसे नायकत्व का अभाव है। एक प्रकार से इन उपन्यासों के नायकों में भी वही अतिरंजना रेखांकित की जा सकती है जो अतिरंजना एक दूसरे ढंग की (मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक) उपन्यास रचना में उपलब्ध होती है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत अन्तर्मुखी नायकों अथवा पात्रों का विश्लेषण करने पर उनके व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले तन्तुओं में सैक्स और अहं मुख्य रूप से काम करते पाये गए हैं। अत: ऐसे नायकों अथवा पात्रों की कुछ विशेष मनोवृत्तियों की विभिन्न दशाएं ही उपन्यास का विषय बन जाती हैं। इस प्रकार के सैडिस्ट प्रवृत्ति वाले नायक अथवा पात्र अपने अहं को ठेस लगते ही जीवन में किसी भी क्षण कोई भी निर्णय ले सकते हैं। इस स्थिति में उनका व्यक्तित्व और उलझने लगता है यहां तक कि उनके जीवन में बिखराव ही बिखराव रह जाता है। यह बिखराव उसी रूप में आता है जिस रूप में एडलर ने अपनी पुस्तक में अहंवादियों के सम्बन्ध में लिखा है—वे बचपन से ही इस सम्बन्ध में प्रशिक्षित हो जाते हैं और उन कार्यों से डरते, पलायन करते हैं जिनके सम्बन्ध में उनको यह भय हो कि वे अपनी दुर्बलताओं के कारण कर सकने में असमर्थ होंगे और यह असफलता उनके अहं को चोट पहुंचायेगी और अपने आपको अग्रणी समझ पाने की भावनाओं पर कुठाराघात करेगी। इसके कारण व्यक्ति अपने अहं के संघर्ष में और भी उलझ जाता है और इस प्रकार जीवन जीने लगता है जैसे वह अपने शत्रुओं की भूमि में पहुंच गया हो।[1] इस प्रकार एक ओर मनोविज्ञान के अन्तर्गत यदि ये पात्र अथवा नायक अतिरंजना की ओर प्रेरित लगते हैं तो प्रगतिवादी उपन्यासकारों के नायक अथवा पात्र 'साम्यवादी' राजनैतिक विचारों से प्रभावित अतिरंजना प्रवृत्ति की ओर अग्रसर लगते हैं। एक ओर 'गंगा मैया' का मटरू नायक की साम्यवादी-अवधारणा है, जबकि दूसरी ओर संन्यासी का नायक नन्दकिशोर एक विशिष्ट प्रकार के सिद्धान्त की पुष्टि में ही अतिरंजना का विषय बन गया है। प्रगतिवादी उपन्यासों में 'नागार्जुन' का एक मात्र 'बलचनमा' ही ऐसा नायक है जो इन सब मतवादों से काफी हट कर है। मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में नन्दकिशोर की अतिरंजना उत्तराधिकार के रूप में 'मुक्ति-पथ' के नायक 'राजीव' नदी के द्वीप के नायक 'भुवन मोहन', 'जहाज़ का पंछी' के नायक 'मैं', अपने-अपने अजनबी के पात्र 'चोके' तथा 'सेल्मा' 'सुबह के भूले' के केन्द्रीय पात्र 'गिरिजा', डूबते मस्तूल की 'रंजना,' 'मछली मरी हुई' के पात्र 'शीरी : पद्मावत', 'गिरती दीवारें', 'शहर में घूमता आईना', 'एक नन्हीं कन्दील' तथा 'बांधों न नाव इस ठांव' का कुछ हद तक नायक चेतन, 'झूठा:सच' के पात्र पुरी, 'चलता हुआ लावा' के नायक 'मैं' 'सूरजमुखी अन्धेरे' की 'रत्ती', 'लालटीन की छत' की 'कामा' आदि में देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति किसी में आंशिक और किसी में प्राय: पूर्णरूप में उपलब्ध होती है। वस्तुतः यह सभी पात्र अथवा नायक इसी प्रवृत्ति के शिकार हैं जो कभी पलायन करते हैं और कभी अपनी सैडिस्ट प्रवृत्ति के कारण आत्मघात के लिए प्रेरित होते हैं। अपने प्रिय को पीड़ा पहुंचाकर खुश होना अथवा उन सब से भाग जाना, भगोड़े हो जाना इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता हो सकती है। इसीलिए इस कड़ी के उपन्यासों के नायक अथवा पात्र आधुनिक उपन्यास में एक विशिष्टता की संज्ञा से जुड़े हुए हैं; जो अन्य दृष्टियों से सामान्य होते हुए भी किसी एक दृष्टि से असामान्य ही नहीं अतिरंजित भी माने गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि अतिरंजना की यह प्रवृत्ति सभी प्रकार के उपन्यासों में थोड़ी-बहुत इस अर्थ में उपलब्ध होती रही है किन्तु प्रेमचन्द परम्परा में यह अतिरंजना सीमित ही रहती थी। उदाहरण के लिए सूरदास को लिया जा सकता है जो 'सामान्य व्यक्ति' होते हुए भी असामान्य 'व्यक्तित्व' के स्तर तक पहुंचा दिया गया है। किन्तु आधुनिक उपन्यासों में यह 'अतिरंजना' पहले से

१. सोशल इन्ट्रेस्ट ए चैलेन्ज टू मैन काईण्ड—'एडलर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक बढ़ गयी है जिसका मूल कारण आज के उपन्यासकार का आधुनिकता और विज्ञान की चुनौती को संवेदना के धरातल पर आत्मसात न कर सैद्धान्तिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर आत्मसात करना है। इन उपन्यासों में आधुनिकता की चुनौती का स्वीकार जीवन तथा जगत् के मूल्यांकन में हुआ है। इस प्रक्रिया के मूल में मनोवैज्ञानिक दृष्टि मनोविश्लेषण सिद्धान्तों के धरातल पर व्यक्ति के नए स्वरूप को आंकती तथा चित्रित करती है और परम्परागत मान्यताओं का विरोध करती है। यही कारण है कि इस कड़ी के उपन्यासों के नायकों अथवा पात्रों की प्रवृत्ति अतिरंजना की ओर विकासशील लगती है।

राजेन्द्र यादव के अनुसार ये औपन्यासिक नायक अथवा पात्र शेष समाज से अलग एक विशेष बौद्धिक धरातल पर पहुंचे हुए व्यक्ति अवश्य हैं जो जीवन की हर प्रकार की अनुभूतियों को बुद्धि द्वारा ही ग्रहण करते हैं अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं। लगता ऐसा है कि ये हाड-माँस के शरीर न होकर केवल बड़े-बड़े सिर-ही-सिर वायुमण्डल में तैर रहे हैं। वे चेतना मात्र रह गए हैं वह आगे कहते हैं उनके क्रियात्मक जीवन में उन्हें आप नहीं देखते, उन्हें देखते हैं तब जब वे उस जीवन से तटस्थ, असफल और निराश होकर, (चाहे इसे वे स्वयं स्वीकार न करें) घर भाग आए हों। इतना विद्रोही कर्मठ नायक शेखर भी अपने जीवन को जीता नहीं एक रात में देखता है। सबसे मजे की बात यह है कि विद्रोह के लिए विद्रोह करने वाले बड़े-बड़े क्रांतिकारी बड़े-बड़े आविष्कारक, वैज्ञानिक, रिसर्च स्कालर, दार्शनिक, प्रोफेसर और कवि नानावेश स्वभाव और उद्देश्य वाले पात्र इस जगह सब एक हैं चूंकि शरीर और उसका अनिवार्य गुण क्रिया नहीं केवलमात्र चेतना ही ये लोग हैं (और वह भी फ्रायडियन चेतना) इसलिए शून्य अन्तरिक्ष में जिधर धुन उठ जाती है उधर ही भटक जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि इन सभी नायकों की नियति सिद्धान्तहीनता और लक्ष्यहीनता ही है। इनका विद्रोह दुनिया की हर बात, सिद्धान्त, लक्ष्य, शरीर, क्रिया, जीवन की हर चीज को झुठलाने और विरोध करने में है।[१]

यहाँ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मत वस्तु स्थिति को और भी स्पष्ट करता है कि इन उपन्यासों में सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। लेकिन उनमें खटकने वाली जो बात सबसे अधिक है, वह इन लेखकों का पलायनवादी दृष्टिकोण है। इन लेखकों की अधिकांश रचनाओं में जीवन का यथार्थ नहीं, कल्पनाशील परिस्थितियों एवं अवचेतन मन की विकृत्तियों, वासनामूलक प्रवृत्तियों और अहं का ही चित्रण किया है। इन रचनाओं में जो व्यक्ति चित्रित हुआ, वह सैक्स अभिशाप से ग्रस्त है और उसके जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान संघर्ष और जूझने में नहीं नारी की गोद में है।[२]

ऐसा नहीं कि इस प्रकार के पात्र वास्तविक जीवन में होते ही नहीं, ऐसे पात्र होते अवश्य हैं परन्तु जब लेखक मनोविज्ञान का उपयोग चिकित्सक के रूप में करने लगता है तब पात्र सैद्धान्तिक पक्ष के प्रभावों में आरोपित व्यक्तित्व लिए रह जाते हैं, स्वाभाविक रूप से उभर नहीं पाते। वस्तुतः यह नायक अथवा पात्र न तो पागलखानों, विशिष्ट समुदायों या मनोवैज्ञानिक केन्द्रों अथवा रहस्यपूर्ण मनः स्थितियों वाले होते हैं न ही विशिष्ट परिवारों से छांटे गए होते हैं[३] बल्कि कई बार यह बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थ मनःस्थितियों का उद्घाटन करने[४] वाले हमारे आस-पास के पात्र होते हैं जिन्हें हम सतही तौर पर अथवा बाहर से तो जानते होते हैं परन्तु जब हमें उनकी अन्तश्चेतना अथवा अवचेतन के बाद पता चलता है तो हम कई बार इस कदर आश्चर्यचकित होते हैं कि उन्हें पागलखानों और रहस्यपूर्ण मनःस्थितियों वाला समझ लेते हैं जो अपने आप में भ्रामक है।

आज के उपन्यासकार ने नगर और महानगरों को वृहद परिवेश को समेटे हुए मध्य अथवा निम्न मध्य वर्ग

१. आलोचना—अंक १४.

२. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय पृ० १६.

३. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यास—डॉ० कान्ति मोहन पृ० १२१.

१. आलोचना : हिन्दी साहित्य के पच्चीस वर्ष पृष्ठ ६६, अंक २८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के जीवन को पूर्णतः देने के लिए अन्य वर्गों के जीवन स्तरों का भी स्पर्श किया है। इस प्रयत्न में उसे कई बार अपनी वर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण भी करना पड़ा है। यह वह भूमि है जहां उन्होंने स्वतः अपने ही वर्ग के खोखले आदर्शों तथा विश्वासों की धज्जियां उड़ायी हैं। डा० नामवर की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि इधर के औपन्यासिक साहित्य में मुस्लिम जीवन और मुस्लिम पात्रों का अभाव खटकता अवश्य है। परन्तु सन् ५० के बाद के औपन्यासिक नायक अथवा पात्रों के बारे में एक बात मुख्यतयः निश्चित रूप से कही जा सकती है कि यह सभी ऐसे पात्र हैं जिन्हें हम नज़दीक से छूकर बतला सकते हैं। यानी अपने ही परिवेश में अपने दृष्टि-क्षेत्र तक के पात्र जिन्हें हम कहीं अपने पास समझते हैं।

मोह भंग की यह अनुभूति आज के युवा उपन्यासकार में अधिक तीव्र रूप में लक्षित हुई हैं।[1] इन लेखकों ने आधुनिकता की चुनौती को प्रायः मानवीय सम्बन्धों को निरूपित करने में स्वीकारा है। इसके विरुद्ध मानवीयता के नए अर्थ भी खोजे हैं जिसके मूल में आदर्शवादी एवं सुधारवादी—गाँधीवादी दृष्टि का अस्वीकार भी हो सकता है जिसे आज के उपन्यासकार ने युगानुकूल न होने से अपने औपन्यासिक साहित्य में स्थान नहीं दिया। यदि कुछ एक उपन्यासों में आशा का स्तर उभर कर आया भी है तो उसे औपन्यासिक रूमानियत का सुखान्त या पूरे दौर का मिज़ाज कहना जहां औपन्यासिक साहित्य से अन्याय करना है वहीं कई भ्रमों का पालना भी है। इसका दोषी आज का आलोचक भी तो हो सकता है जिसने समय की माँग के अनुसार इस दौर की असंगतियों को अधिक महत्त्व न देकर आशावादी और आस्थावादी मनः स्थितियों की पूर्व पीठिका की साझेदारी में अपना योग दिया है।[2]

१. इन उपन्यासकारों की कृत्तियों में नायक अथवा पात्र की स्थिति मानवी-स्थितियों को प्रश्रय देती है और इन स्थितियों में ही अपनी विशिष्ट संज्ञाएं भी ढूंढ़ती हैं। ऐसे उपन्यासों में प्रायः इन नायकों अथवा पात्रों को रेखांकित किया जा सकता है:—'माणिक' (सूरज का सातवां घोड़ा), 'वसन्त' (चांदनी के खण्डहर), 'चन्द्रनाथ' (पथ की खोज), 'मैं' (जहाज का पंछी), 'शरद' (उखड़े हुए लोग), 'मधुसूदन', नीलिमा, 'हरबंस' (अन्धेरे बन्द कमरे), 'रंजना' (एक इंच मुस्कान), 'चोके' (अपने-अपने अजनबी), 'सुषमा' (पचपन खम्बे लाल दीवारें), 'चेतन' (शहर में घूमता आईना, एक नन्हीं कन्दील), 'मैं' (वे दिन), 'श्रीधर' (यह पथ बन्धु था), 'शीरीं' (मछली मरी हुई), 'श्यामलाल' (समुद्र में खोया हुआ आदमी), 'परमात्मा बाबू' (सुबह अन्धेरे पथ पर), 'विपिन' (अलग-अलग वैतरणी), 'मैं' (जलता लावा), 'रंगनाथ' (राग-दरबारी), 'मैं' (अपने से अलग), 'मनोज सक्सेना' (न आने वाला कल), 'किश' (कन्दील और कुहासे), 'सुकान्त' (धूप छांही रंग), 'कुमार', श्यामा (अन्तराल), 'रत्ती' (सूरज मुखी अन्धेरे के), 'जरनैल' (तमस), परमजीत (बेघर), 'डाक्टर या जस्सू' (सफेद मेमने), 'कालीचरण' (धरती धन न अपना), 'काया' (लाल टीन की छत), 'रोज़ी' (मुरदा घर), 'चेतन' (बांधो न नाव इस ठांव)।

२. आलोचना : हिन्दी साहित्य के पच्चीस वर्ष : अंक २८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० अरुणा गोयल
संस्कृत विभाग
पत्राचार शिक्षा-निदेशालय
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

वैशेषिक एवं आधुनिक परमाणुवाद

वैशेषिक दर्शन का लक्ष्य एवं प्रतिपादित मार्ग :

आचार्यकणाद (तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व) द्वारा प्रवर्त्तित वैशेषिक दर्शन अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि अन्य दर्शनों की भाँति वैशेषिक का मूलमन्त्र भी 'आत्मानं विद्धि'—आत्मा को जानो ही है तथापि इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिये वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित मार्ग नितान्त यथार्थवादी एवं व्यावहारिक है। आत्मा का ज्ञान आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान पर अवलम्बित है—इस विचार को दृष्टिगत रखते हुए ही आचार्य कणाद ने धर्म विशेष से पदार्थों के साधर्म्य (समान धर्म = अनुगत धर्म) तथा वैधर्म्य (विपरीत धर्म) के ज्ञान द्वारा उत्पन्न तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस् प्राप्ति बतलाई है।[१]

वैशेषिक दर्शन समस्त अर्थतत्त्व को सात पदार्थों में विभाजित कर उनका समीक्षण तथा परीक्षण करता है। वह वस्तु जिसका किसी पद से बोध होता है पदार्थ कहलाता है।[२] पदार्थ दो प्रकार के हैं—भावात्मक तथा अभावात्मक। भाव पदार्थ संख्या में छः हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। सातवां पदार्थ अभाव चार प्रकार का माना गया है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। इस प्रकार पदार्थ शब्द में भावात्मक और अभावात्मक दोनों ही प्रकार के पदार्थ सम्मिलित हैं। महर्षि कणाद द्वारा पदार्थ शब्द की रचना तथा प्रयोग दार्शनिक जगत में एक महत्त्वपूर्ण देन है, क्योंकि आज तक भी अन्य कोई ऐसा शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है जिसमें भावात्मक और अभावात्मक सभी विषयों का समावेश हो सके।

सृष्टि का उपादान कारण : परमाणु

गुण तथा कर्म के आधार एवं सावयव कार्यों के समवायि कारण को द्रव्य कहा गया है।[३] द्रव्य नौ प्रकार का है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।[४] इन द्रव्यों में से प्रथम पांच पंचभूत कहलाते हैं क्योंकि प्रत्येक में कोई न कोई विशेष गुण पाया जाता है[५]—(जैसे पृथ्वी में गन्ध) जिसका बाह्येन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है (जैसे घ्राण ज्ञानेन्द्रिय पार्थिव गुण गन्ध को प्रत्यक्ष करती है)। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चार द्रव्य परमाणु रूप में नित्य तथा कार्य रूप में अनित्य होते हैं अर्थात् परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न कार्य सावयव होने के कारण विनाश को प्राप्त होते हैं, परन्तु कारण-रूप, निरवयव, अनादि और नित्य परमाणुओं में रहने वाले द्रव्य नित्य होते हैं।[६]

भारतीय दर्शन इस सृष्टि-रचना को प्रयोजनवश मानता है अर्थात् जीवों के कर्मफल भोग हेतू ही इस समस्त भौतिक जगत की उत्पत्ति हुई है। भारतीय दर्शन का यही आध्यात्मिक दृष्टिकोण वैशेषिक में भी विद्यमान है। सृष्टि का प्रतिपादन करते

१. कणाद : वैशेषिक सूत्र १.१.४
२. चैटर्जी एवं दत्ता : भारतीय दर्शन, पृष्ठ १४७
३. कणाद : वैशेषिक सूत्र १.१.१५
४. वही १.१.५
५. वही ४.१.३
६. वही ७.१.२, ७.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए वैशेषिक आचार्यों ने चार प्रकार के (पार्थिव, आप्य, तेजस तथा वायवीय) परमाणुओं को इस संसार का उपादान कारण तथा ईश्वर को निमित्त कारण माना है।[७] सृष्टि के उपादान तथा निमित्त कारण के विषय में वैशेषिक का यह दृष्टिकोण अद्वैत वेदान्त से नितान्त भिन्न है। अद्वैत वेदान्त के मतानुसार ब्रह्म ही इस संसार का उपादान एवं निमित्त कारण है। इसके अनुसार जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल की कपास, तुरी, वेमादि बाह्य साधनों के बिना भी तैयार कर लेती है उसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि के पहले एक ही अद्वितीय, निःसहाय, बिना किसी बाह्य साधन के भी अपनी माया शक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त स्थूल जगत की रचना कर डालता हैं।[८] अपने मत की पुष्टि में वेदान्त श्रुति वाक्यों को उद्धृत करता है। उदाहरणार्थ-—

(१) यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च,
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि,
तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥[९]

(२) न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥[१०]

परन्तु वैशेषिक दर्शन का दृष्टिकोण प्रस्तुत विषय में सर्वथा व्यावहारिक है। लोक व्यवहार में हम जो कुछ देखते हैं उसी के आधार पर यह दर्शन सृष्टि की भी व्याख्या करता है। इस मत के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव होता है अतः कार्य की सत्ता कारण की सत्ता का नियामक है।[११] घटकर्त्ता मिट्टी, दण्ड, चक्र, तन्तु आदि साधनों के द्वारा ही घट-निर्माण करने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया के लिये परमाणुओं की अपेक्षा करता है। जब ब्रह्म सृष्टि-रचना की इच्छा करता है तो वह जीवों के अदृष्ट के सहयोग से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न करता है[१२] जिससे परमाणुद्वय का संयोग होता है इसे द्वयणुक कहा जाता है। ऐसे तीन द्वयणुकों के संयोग से त्रयणुक की उत्पत्ति होती है। ऐसे चार त्रयणुकों के संयोग से चतुर्णुक की उत्पत्ति होती है और इसी क्रम से यह समस्त भौतिक जगत अस्तित्व में आता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शनानुसार ब्रह्म इस संसार का निमित्त कारण तथा परमाणु उपादान कारण है।[१३]

आधुनिक परमाणुवाद

आधुनिक विज्ञान भी भौतिक जगत की व्याख्या करते हुए परमाणुवाद का ही सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक प्रसिद्ध वैज्ञानिक जान डैल्टन (John Dalton १७६७-१८४४) का मत था कि यह विश्व सूक्ष्म तथा अविभाज्य परमाणुओं (atoms) से बना हुआ है परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में थामसन (Thomson) तथा चाड़विक (Chadwick) जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने इलैक्ट्रान, प्रोटोन तथा न्यूट्रान को परमाणु के अणुकणों के रूप में सिद्ध किया और कहा कि विश्व की समस्त वस्तु रूपरचना परमाणु के इन तीन प्रकार के अणुकणों की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

प्रोटोन आकर्षण शक्ति का पुञ्ज है। इसके विपरीत इलैक्ट्रान अपकर्षण स्वरूप है। पहला अपनी ओर दूसरे को आकृष्ट करता है, पर दूसरा अपने को अपकर्षण (दूर हटने या रहने) में प्रवृत्त रखता है। इनको यथाक्रम पाजिटिव और नेगेटिव पावर कहा जाता है। न्यूट्रान में ये दोनों बातें नहीं होती। समस्त विश्व के मूल में ये

७. उद्योतकर : न्यायवार्त्तिक ४.१.२१, पृष्ठ ४५७
८. शंकराचार्य : ब्रह्मसूत्र शाँकर भाष्य २.१.२४
९. मुण्डकोपनिषद १.७
१०. श्वेताश्वतरोनिषद ६.८
११. कणाद : वैशेषिक दर्शन १.२.१
१२. वही ५.२.१३
१३. J.N. Sinha : Introduction to Indian Philosphy p. 142.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही अणुकण हैं, इन्हीं से सब जगत बना है।[१४] लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि आज भी वैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि सृष्टि के मूल में परमाणु (atom) ही सूक्ष्मतम है जो कि रासायनिक प्रक्रिया में भाग ले सकता है। अतः विश्व की सृष्टि के मूल साधन परमाणु ही हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार परमाणु अतिसूक्ष्म, नित्य तथा अभेद्य हैं।[१५] ये आकार, रूप तथा स्थान में परस्पर भिन्न हैं। ये स्वतः क्रियाशील होते हैं और समग्र दिशाओं में स्वयं प्रचलित हो दूसरे परमाणुपुञ्ज से संश्लिष्ट होकर जगत की सृष्टि करते हैं। अवस्था-विशेष में पदार्थ अन्य पदार्थ के साथ संघर्ष में आता है, जिससे उसके परमाणु चूर्णित होकर फिर पृथक-२ हो जाते हैं। यही है आधुनिक परमाणुवाद जो जगत की यन्त्रात्मक व्याख्या करता है।

१४ **Electron**—An elementary particle consisting of a charge of negative electricity equal to about 1.602×10^{-19} coulomb and having a mass when at rest of about $9.107 + 10^{-28}$ gram or 1/1837 that of a proton.

Proton—An elementary particle that is identical with the nucleus of the hydrogen atom, that along with neutrons is a constituent of all other atomic nuclei, that carries a positive charge numerically equal to the charge of an electron, and that has a mass of $1.672 = 10^{-24}$ gram.

Neutron—An unchanged elementary particle that has a mass nearly equal to that of the proton and is present in all known atomic nuclei except the hydrogen nucleus. Webster's Seventh New Collegiate Dictionary.

वैशेषिक एवं आधुनिक परमाणुवाद में समानता

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि वैशेषिक परमाणुवाद एवं आधुनिक परमाणुवाद में कुछ समानता है। और यह समानता है आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित सृष्टि के मूलतत्त्व परमाणु (Atom) के स्वरूप विवेचन में और वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित परमाणु स्वरूप विवेचन में। इस समानता को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

वैशेषिक दर्शन में परमाणु को इन्द्रियातीत कहा गया है क्योंकि महत्परिमाणवत्त्व, अनेक द्रव्याश्रितत्त्व तथा (उद्भूत) रूपवत्व के होने पर ही द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। परमाणु में तो इन तीनों का अभाव ही है अतः परमाणु साधारण मनुष्यों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता।[१६] एवञ्च प्रत्यक्ष नहीं होने मात्र से परमाणु की असत्ता नहीं हो सकती क्योंकि योगीजन (अपनी अलौकिक दृष्टि से) तथा परमात्मा परमाणुओं का प्रत्यक्ष कर सकते हैं।[१७]—हाँ, साधारण मनुष्य त्रसरेणु (परमाणु का छः गुना भाग) का ही महत्परिमाण वाला होने से प्रत्यक्ष कर सकते हैं।[१८] परमाणु की प्रत्यक्षता के विषय में आधुनिक विज्ञान का भी यही दृष्टिकोण है। इसके अनुसार रचनाक्रम में परमाणु पदार्थ की एक सूक्ष्मावस्था है जिसे साधारण व्यक्ति निसर्ग सुलभ साधनों से नहीं जान सकता। श्री विलियम जेन्स के शब्दों में,

"Many Greek philosophers from Democritus onward had imagined matter to consist, in the last resort, of hard indivisible pellets. These pellets were at first called atoms (incapable of being divided)".[१९]

१५. William. S. Seese and Guido H. Daul. Basic Chemistry Page 54-55.

१६. कणाद : वैशेषिक दर्शन ४.१.६

१७. वैशेषिक उपस्कार ८.१.२

१८. गौतम : न्यायसूत्र ४.२.१७

१९. James Jeans ; The New Background of Science Page 16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशेषिक दर्शन में परमाणु को नित्य कहा गया है[२०]। प्रलयावस्था में भी परमाणु विद्यमान रहते हैं क्योंकि कार्य (सृष्टि) का अभाव होने पर भी कारण (परमाणु) का अभाव नहीं होता।[२१] यद्यपि पृथिवी आदि के परमाणु अपने कारण से उत्पन्न होने के कारण अनित्य हैं; परन्तु आचार्य कणाद ने परमाणु को ही मूल मानकर आगे की रचना का विवरण प्रस्तुत किया है। क्योंकि वैशेषिक दर्शन में प्रतिपाद्य विषय के क्षेत्र को व्यक्त जगत के एक विशिष्ट अंश तक सीमित रखा गया है, आचार्य गौतम ने व्यक्त जगत की उत्पत्ति व्यक्त कारण से स्वीकार की है।[२२] यदि परमाणु को अनित्य कहा जाता तो उसके मूलतत्त्व का प्रतिपादन करना भी आवश्यक हो जाता जिससे वैशेषिक दर्शन अपने विवेच्य क्षेत्र की सीमा से बाहर हो जाता अतः परमाणु को इस दर्शन में नित्य मान लिया गया है। आधुनिक विज्ञान ने भी परमाणु को मूलतत्त्व के रूप में स्वीकार कर उसे नित्य माना है, यद्यपि ये परमाणु वास्तविक रूप मूलतत्त्व न होकर पूर्व निर्दिष्ट अन्य मूलतत्त्वों से निर्मित हुए हैं। जब सर्ग रचना मूलतत्त्वों से प्रारम्भ होकर बहुत आगे तक बढ़ जाती है, तब इस रचना में परमाणु का स्तर आता है। रचनाक्रम में यह स्तर पदार्थ की एक सूक्ष्मावस्था है। इसलिये रसायनशास्त्र तत्त्वज्ञों ने अपने तत्त्व विषयक विचार प्रस्तुत करने के लिये सर्ग रचना के इसी स्तर को आधार मानकर परमाणु को नित्य मान लिया है।

वैशेषिक दर्शन में परमाणु को अभेद्य[२३] कहा गया है क्योंकि पृथ्वी आदि के परमाणु की में स्थिति रहते वहां कोई अन्तर आ जाने की सम्भावना नहीं है। विश्लिष्ट हो जाने पर वही पृथ्वीत्व इत्यादि ही न रहेगा। इसीलिये पृथ्वी आदि परमाणु रूप में इसे अभेद्य कहा गया है। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान ने भी परमाणु को अभेद्य मानते हुए उसे केवल एक अणुतत्त्व माना है, जिसमें किसी अन्य तत्त्व का सम्मिश्रण नहीं है। जैसे—हाइड्रोजन अपने अन्तिम अणु तक हाइड्रोजन ही है, उसमें हीलियम आदि किसी अन्य तत्त्व का मिश्रण नहीं है। परन्तु हाइड्रोजन के अन्तिम अणुकण का जब विश्लेषण कर दिया जाता है तब वह हाइड्रोजन न रहकर अपने भागों (इलैक्ट्रान, प्रोटोन तथा न्यूट्रान) के रूप में बिखर जाता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैशेषिक के अणु विवेचन की स्थिति लगभग वैसी ही है जैसी आधुनिक विज्ञान द्वारा जगद्रचना क्रम में परमाणु का विवेचन है।

वैशेषिक एवं आधुनिक परमाणुवाद में भिन्नता

परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैशेषिक परमाणुवाद आध्यात्मिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है वहां आधुनिक परमाणुवाद भौतिकवाद के सिद्धान्त को लेकर चलता है। आधुनिक परमाणुवाद के मतानुसार अनादिकाल से ही अनन्त दिक् में असंख्य परमाणुओं के भिन्न-२ दिशाओं में घूमने के कारण उनके आकस्मिक संयोग के फलस्वरूप यह संसार बनता और बदलता रहता है। आधुनिक परमाणुवाद परमाणुओं की गति को निर्धारित करने वाली किसी चेतन शक्ति को नहीं मानता। इसके मत में परमाणु स्वतः क्रियाशील हैं। परन्तु वैशेषिक का दृष्टिकोण इस विषय में सर्वथा भिन्न है। इसके अनुसार परमाणुओं के संयोग और विभाग अकारण ही नहीं होते। जीवों के फल-योग हेतू ही इस संसार की रचना हुई है। परमाणु प्रलयावस्था में निष्पन्दावस्था में पड़े रहते हैं।[२४] इन परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिये ही परमाणुओं की क्रियाओं को प्रवर्तित करता है।[२५] इस प्रकार वैशेषिक परमाणुवाद भौतिकवाद का समर्थक नहीं जो इस जगत

२०. शिवादित्य : सप्त पथार्थी पृष्ठ ५१, तथा
श्रीधर : न्याय कन्दली पृष्ठ ३१
२१. कणाद : वैशेषिक दर्शन ४.१.१, ४.१.४
२२. गौतम : न्यायसूत्र ४.१.११
२३. प्रशस्तपाद भाष्य Page 31.

२४. श्रीधर : न्यायकन्दली पृष्ठ ३१-३२.
२५. कणाद : वैशेषिक सूत्र ५.२.१३.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को केवल मात्र भौतिक परमाणुओं के संयोग का फलमात्र मानता है। यह तो परमाणुवाद का ईश्वरवाद के साथ समन्वय करता है।

दूसरे, आधुनिक परमाणुवाद के अनुसार परमाणु स्वयं गुण रहित होते हैं पर उनमें परिमाण, आकृति तथा क्रम का अन्तर होता है। किन्तु वैशेषिक दृष्टि के अनुसार परमाणु रूपादिगुणों से युक्त होते हैं क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव होता है।[२६] एवञ्च यदि मूल कारण परमाणु में रूपादि की सत्ता न मानें तब तो द्वयणुकादि स्थूल पर्यन्त कार्य में रूपादि की उपलब्धि सम्भव न होती किन्तु घट पटादि कार्यों में भी रूपादि की उपलब्धि होती है अतः परमाणुओं में भी रूपादि गुणों की सत्ता की अनुमिति होती है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रत्येक वर्ग का अणु अपने में समवेत विशेष गुणों के कारण अन्य वर्गीय अणु से अपने आपको पृथक रखता है।[२७] और अपने वर्ग में भी एक अणु 'विशेष' पदार्थ के कारण दूसरे अणु से भिन्न है। परन्तु प्रत्येक वर्ग के अणु में समवेत विशेष गुणों के न्यूनाधिक रहने पर भी अणु के आकार-प्रकार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता यद्यपि द्रव्य के स्थूल रूप में आने पर उसके अणु स्ववर्गीय द्रव्यों से उसका अन्तर स्पष्ट कर देते हैं पर अणुदशा में यह स्थिति नहीं रहती।

तीसरे, आधुनिक परमाणुवाद के अनुसार परमाणुओं को आत्मा को भी उत्पन्न करने वाला बतलाया गया है।[२८] परन्तु वैशेषिक मतानुसार परमाणु भूत चतुष्टय की ही उत्पत्ति कर सकते हैं, आत्मा स्वयं नित्य द्रव्य है। इस प्रकार आधुनिक परमाणुवाद भौतिकवाद का समर्थन करता है जबकि वैशेषिक परमाणुवाद अध्यात्मिकता का पोषक है।

२६. वही ४.१.३.
२७. प्रशस्तपाद भाष्य पृष्ठ ३२१-२२.
२८. Weber : History of Philosophy, Page 134-37.

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में हम यही कहना चाहते हैं कि वैशेषिक परमाणुवाद आधुनिक परमाणुवाद से किसी भी प्रकार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक युग में परमाणु को सृष्टि का मूलतत्त्व मानकर जो स्वरूप विवेचन किया गया है, आज से शताब्दियों पहले हमारे ग्रन्थों में वह स्वरूप उपलब्ध होता है। यहाँ तक कि हम इतना भी कहने का साहस कर सकते हैं कि वैशेषिक परमाणुवाद आधुनिक परमाणुवाद से उच्चतर अवस्था में है क्योंकि आधुनिक परमाणुवाद में केवल भौतिकवाद का ही समर्थन किया गया है जबकि वैशेषिक परमाणुवाद में भौतिकवाद का ईश्वरवाद के साथ समन्वय किया गया है। भारतीय मनीषियों ने अपनी सतत साधना से आध्यात्मिक तथा भौतिक-दोनों ही विषयों का रहस्योद्घाटन किया है। यद्यपि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक विज्ञान ने अपने गम्भीर अनुसन्धान एवं परीक्षण के फलस्वरूप यह स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु — इन पदार्थों की रचना में किन तत्त्वों का कितना प्रयोग होता है और हम मानते हैं कि इस प्रकार का कोई विवरण हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता क्योंकि इससे आगे जाना भारतीय ऋषियों की दृष्टि में अपने विवेच्यक्षेत्र की सीमा से बाहर जाना था। तथापि इससे यह समझना अनुचित होगा कि भारतीय ऋषि इस विषय में अनभिज्ञ थे। भारतीय संस्कृत साहित्य में ऐसे-ऐसे सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं जिनका महत्त्व आधुनिक नवीनतम सिद्धान्तों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। इसके लिये हमारे देश के संस्कृतज्ञ तथा वैज्ञानिकों में परस्पर समन्वय की भावना होनी चाहिये ताकि आधुनिक वैज्ञानिक हमारे ग्रन्थों में छिपे हुए अक्षय कोष को परख सकें और देश की उन्नति में यह गुप्त कोष भी अपनी सहायता दे सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शनकुमार जैन
हिन्दी निभाग
राजकीय महाविद्यालय
मुक्तसर (पंजाब)

पारसी रंगमंच और तत्कालीन दर्शक

किसी भी युग का नाटककार जिस रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करता है, यह उस युग के रंगमंच के रूप-प्रकार पर निर्भर करता है, परन्तु वह किस प्रकार का नाटक प्रस्तुत करेगा, यह उस युग के दर्शकों पर निर्भर करता है जिनके मनोरंजन के लिए वह नाटक प्रस्तुत करता है। नाटककार को अपने नाटक को नितान्त असफलता से बचाने के लिए तत्कालीन दर्शकों का ध्यान रखना ही पड़ता है। ऑबिन यॉक के शब्दों में — हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि विषय दर्शकों के आचार और मतों के अनुरूप नहीं है, तो वह कभी ग्राह्य नहीं होगा।" यॉक ने विषय को दर्शकों की रुचि के अनुरूप होना स्वीकार किया है तो जानसन ने नाटक के नियमों की रचना दर्शकों द्वारा मानी है—"नाटक के नियमों की रचना नाटक के संरक्षक—दर्शक—करते हैं।"

दूसरे शब्दों में—"नाटककार और दर्शकों के बीच बराबर एक प्रकार का अव्यक्त समझौता, एक अर्ध-संविदा रहता है।"[1] इस समझौते के कारण ही नाटककार तत्कालीन दर्शकों का प्रतिनिधित्व करता है। उनके आचारों, विचारों, रीतियों और भावदशाओं का प्रकटीकरण अपनी रचनाओं में करता है अतः सच्चा और सफल नाटककार वही है जो अपने समकालीन दर्शकों का ध्यान रखकर नाट्य-रचना करता है। इसीलिए शेक्सपियर और मोलियर को सच्चे और सफल नाटककार के रूप में जाना जाता है और टेरैंस को इनके विपरीत। ऐसा क्यों है ? तो इस का उत्तर भी स्पष्ट है कि दोनों नाटककारों—शेक्सपियर तथा मोलियर ने तत्कालीन जनता की रुचि का पूर्णरूपेण ध्यान रखा जबकि टेरैंस ऐसा न कर सका।

अतः कहा जा सकता है कि किसी भी युग के नाटककार अपने युग के दर्शकों से स्वतन्त्र नहीं होते। उन्हें अपने नाटकों को सफल बनाने के लिए अपने दर्शकों का ध्यान रखना ही पड़ता है। कई बार तो दर्शकों के दबाव के अधीन भी चलना पड़ता है।

जब हम इस दृष्टि से पारसी नाटकों और समकालीन दर्शकों पर विचार करते हैं तो लगता है कि पारसी नाटकों का मूल्यांकन अभी तक ठीक ढंग से हो नहीं पाया है। जिस रंगमंच ने लगभग एक शताब्दी तक समूचे भारत की जनता का मनोरंजन किया, हिन्दी-रंगमंच को एक आधार दिया, उसका मूल्यांकन सही ढंग से न होना विचित्र और अटपटा-सा लगता है। इस रंगमंच को यह कहकर—"हिन्दू जाति और हिन्दुस्तान को जल्दी गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर है।"[2] और "इन नाटक मण्डलियों के कारण जनता की रुचि दूषित हुई।"[3] अतः "इनका धनात्मक मूल्य न आंक कर निषेधात्मक मूल्य आंका जाना चाहिए।"[4] हिन्दी जगत् गत अनेक वर्षों से अपने क्षेत्र से बाहर रखता आया है। ये कथन बड़े ही अतिवादितापूर्ण हैं जिन्होंने अजाने ही एक भ्रान्ति को जन्म दिया है जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है। आइए, तत्कालीन दर्शकों और पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करके देखें कि वास्तविकता क्या थी ?

१. नाटक साहित्य का अध्ययन ब्रेडर मैथ्यूज़ अनु० इन्दुजा अवस्थी पृ० ४०

२. हिन्दी प्रदीप (बालकृष्ण भट्ट) भाग २५, संख्या ९—१२

३. हिन्दी नाटककार पृ० ३० जयनाथ नलिन

४. हिन्दी नाटक पृ० १८ डा० बच्चनसिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारसी नाटकों के दर्शक सभी वर्गों के लोग थे। यह कहना कि इन नाटकों को देखने के लिए केवल निम्न वर्गीय जनता ही जाती थी, तथ्यों के सर्वथा विपरीत है। निम्नवर्ग, मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के अनेक दर्शकों ने इन्हें देखा और सराहा था। एक संस्मरण देखें—

"इसके बाद उन्होंने (मालवीय जी) मेरी कथा सुनी—अपनी रामायण जब मैंने गाई तो बड़े प्रभावित हुए।......तब मैंने नाटक लिखने की बात भी कही और 'वीर अभिमन्यु' का भी एक सीन सुनाया, सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले—निश्चय ही तुम्हारा यह नाटक अद्वितीय होगा, सर्वप्रिय होगा।"[५]

पं० राधेश्याम कथावाचक से नाटक सुनने वाले केवल महामना मदनमोहन मालवीय ही नहीं थे अपितु दरभंगा नरेश, काशी के शिवप्रसाद जी गुप्त और अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी थे।

हिन्दी उपन्यासकार प्रेमचन्द के लेख की पंक्तियां देखें—

"पूज्य श्री मोतीलाल नेहरू अपने इलाहाबादी स्वभाव के अनुसार दस-बारह साथियों सहित आए, आदरणीय श्रीमती सरोजिनी नायडू भी थी।...श्री मोतीलाल नेहरू आए थे आध घण्टे को और अपनी पार्टी सहित बैठे रहे रात के दो बजे तक।"[६]

क्या पं० मदनमोहन मालवीय हिन्दू नहीं थे? क्या पं० मोतीलाल नेहरू हिन्दू जाति से नहीं थे? क्या सरोजिनी नायडू हिन्दुस्तान की रहने वाली नहीं थी? अतः पं० बालकृष्ण भट्ट का आरोप इन दर्शकों के सम्बन्ध में आधारहीन सिद्ध हो जाता है।

'प्रह्लाद' नाटक ने गणेशशंकर विद्यार्थी पर क्या प्रभाव डाला था इसका एक सुन्दर चित्र इस संस्मरण द्वारा प्रकट होता है—

"'प्रताप' कार्यालय गया और प्रताप के यशस्वी संपादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से भेंट की...कुर्सी से उठकर मुझसे लिपटकर मिले और प्रह्लाद के एक गाने के शुरू के बोल बोलते हुए मिले।...विद्यार्थी जी ने कहा—ऐसा नाटक लिख दिया है, जिसमें आने वाले भारत के रूप की एक भविष्यवाणी है।"[७]

क्या इस संस्मरण को पढ़कर कहा जा सकता है कि पारसी नाटकों ने जनता की रुचि को दूषित किया? जिस नाटक में भारत के भविष्य की भविष्यवाणी है उसे जनता की रुचि को विकृत करने वाला कदापि नहीं कहा जा सकता। वह तो भारतीय दर्शकों का मार्ग दर्शक है। अतः प्रो० जयनाथ नलिन का यह आरोप कि इन नाटकों ने जनता की रुचि को दूषित किया, अपने आप में अर्थहीन लगता है। इसी की पुष्टि में एक और उदाहरण देखें जो 'कृष्णावतार' के बारे में प्रेमचन्द ने माधुरी में दिया था—

"राधा और कृष्ण का प्रेम-सम्बन्ध कितना पवित्र है, यह बड़ी अच्छी तरह इसमें दिखाया गया है, कहीं भी नाम मात्र को भी अश्लीलता और बुरी भावना दर्शकों के हृदय में नहीं आने पाती..."[८]

जिस नाटक को देखकर उसका समकालीन दर्शक और हिन्दी उपन्यासकार प्रशंसा करता है, उसे दूसरे काल का आलोचक कैसे बुरा, अश्लील और जनता की रुचि को दूषित करने वाला कह सकता है? यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि समकालीन दर्शक की राय कसौटी होनी चाहिए या हमारी राय। जिस सूक्ष्मता से नाटक का समकालीन दर्शक उसकी त्रुटि को पकड़ सकता है, वैसे हम नहीं अतः प्रेमचन्द का कथन प्रो० जयनाथ नलिन से कहीं अधिक उपयुक्त और व्यावहारिक है।

'वीर अभिमन्यु' की आलोचना में प्रेमचन्द जी ने लिखा है—"इसके बाद राधेश्याम जी का 'वीर अभिमन्यु' आया...इस नाटक का हास्य वाला भाग (कामिक) भी बड़ा शिक्षाप्रद और अश्लीलता से रहित था।...खैर वीर अभिमन्यु को पूर्ण सफलता मिली, महामना मालवीय जी तक ने इसे देखा और प्रशंसा की।"[९]

इन उदाहरणों और संस्मरणों से इतना तो स्पष्ट है कि इन पारसी नाटकों ने किसी भी प्रकार से दर्शकों की

५. मेरा नाटक काल पृ० ३९ पं० राधेश्याम कथावाचक
६. माधुरी (सं० प्रेमचन्द) वर्ष ८, संख्या ६
७. मेरा नाटककाल पृ० ९४, पं० राधेश्याम कथावाचक
८. माधुरी (प्रेमचन्द) वर्ष ८, संख्या ६
९. माधुरी (सं० प्रेमचन्द) के वर्ष ८, संख्या ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुचि को विकृत नहीं किया और इन नाटकों के दर्शक, बड़े बड़े गण्यमान्य व्यक्ति, सम्पादक, साहित्यकार, समाज सुधारक, राजनीतिज्ञ इत्यादि थे। यदि इन नाटकों में किसी भी प्रकार की अश्लीलता, बुरी भावना या लोक-रुचि को दूषित करने वाली बात होती, तो ये दर्शक तत्काल उसका नोटिस लेते और इन्हें देखने न जाते। इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा न करते। इन लोगों का नाटकों को देखना, उनका उद्घाटन करना, तत्कालीन पत्रिकाओं में अपने विचार प्रकाशित करना और इन नाटकों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर भारत के दिशा-दर्शक कहना सिद्ध करता है कि पारसी रंगमंच के नाटकों ने किसी भी प्रकार से समकालीन जनता की रुचि को दूषित नहीं किया अपितु आगे के लिए निमित्त किया अतः पारसी रंगमंच पर पिछली आलोचनाएं सर्वथा आधारहीन और अतिवादिता-पूर्ण हैं, जिन पर नये बिन्दु से विचार होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस'
डब्ल्यू० एच० ४० डी०
भगवानदासपुरा, कपूरथला रोड़,
जालन्धर (पंजाब)

अपभ्रंश में कृष्ण-काव्य

अभी तक अपभ्रंश का जितना साहित्य प्रकाश में आया है उससे स्पष्ट है कि जैन कवियों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना और सुरक्षा में सर्वाधिक सहयोग दिया। इन कवियों का संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तमिल और विशेष रूप से कन्नड़ साहित्य में भी अत्यधिक योग है।[1] संस्कृत और प्राकृत की भांति अपभ्रंश में भी कृष्ण चरित का विकास दो रूपों में मिलता है—(१) मुख्य कथा के रूप में—कृष्ण-जन्म से लेकर उनके निर्वाण तक की कथा, (२) महाभारत, पांडव कथा, प्रद्युम्न चरित, उषाणिरुद्ध कथा आदि में प्रकारान्तर से या गौण कथा के रूप में कृष्ण के कतिपय क्रियाकलापों का भी उल्लेख मिलता है। बौद्ध जातकों, जैनियों की गाथाओं, आगमों और अंगों में कृष्ण वासुदेव का जो विवरण मिलता है वह वैष्णव परम्परा में प्रचलित रूप से क्वचित् भिन्न है। जैनाचार्यों एवं जैन कवियों की रचनाओं के उपजीव्य के रूप में कृष्ण चरित के विकास की दो धाराएं मिलती हैं—(१) ब्राह्मण परम्परा जिसके अन्तर्गत महाभारत एवं पुराणों में कृष्ण-चरित प्रस्तुत किया गया है। (२) जैनाचार्यों की पुराण-परम्परा जिनमें आचार्य जिनसेन (द्वितीय) लिखित 'हरिवंशपुराण' और आचार्य गुणभद्र लिखित 'उत्तर-पुराण' मिलते हैं। इनमें जैन आगम एवं अंगों के आधार पर कृष्ण-चरित लिखा गया जिसमें ब्राह्मण-परम्परा से कई स्थानों पर पर्याप्त भिन्नता है, फिर भी विद्वानों की धारणा है कि इन परिवर्तनों के होते हुए भी जैन पुराणों की कथाएं ब्राह्मण कथाओं की नकल ही कही जा सकती हैं।[2] परवर्ती युग में अपभ्रंश में लिखित कृष्ण-काव्य इन दोनों धाराओं से प्रभावित दिखाई देता है। वैसे भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से स्वयंभू तथा पुष्पदंत आदि कवियों ने अपने पूर्ववर्ती बाण और माघ आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों की परम्पराओं का अनुगमन किया और उनके प्रति आभार प्रदर्शित किया।

अपभ्रंश साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि कि महापुराण, पुराण और चरित-काव्य के रूप में इन्होंने काव्य रचना की। 'महापुराण' में ६३ महापुरुषों[3] के चरित का वर्णन किया गया। इसे 'त्रिषष्ठि शलाकापुरुष चरित' या 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' भी कहा गया। पुराणों के अन्तर्गत 'हरिवंश पुराण' में महाभारत की कथा को जैन धर्म की मान्यताओं के अनुसार प्रस्तुत किया गया। इनके अतिरिक्त 'प्रद्युम्न चरित' काव्यों में गौण कथा के रूप में कृष्ण का विवरण प्रस्तुत किया गया।

वैष्णव परम्परा के पुराणों में श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार एवं लीला पुरुष अंकित किया गया किन्तु जैन पुराणों में श्रीकृष्ण महान् वीर व्यक्ति के रूप में चित्रित किये गए। उनमें मानवीय दुर्बलताएं भी हैं। उन्हें नरक में कर्म भोग भोगने पड़ते हैं। उनकी अपेक्षा नेमिनाथ को भगवान् कहकर सम्बोधित किया गया है और उन्हें दिव्य

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२४।

२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ३३३।

३. ६३ महापुरुष चरित में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव का वर्णन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण-सम्पन्न ऋषि के रूप में अंकित किया है। वैसे ब्राह्मण धर्म की भांति जैनों ने भी अपने पुराणों की रचना की और राम, कृष्ण, पांडव आदि की कथाओं को जैन-मान्यताओं के अनुरूप ढाला है।

अपभ्रंश के प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य की जो विवरणिका मिलती है उससे स्पष्ट है कि 'कृष्ण' से सम्बद्ध उपलब्ध काव्य स्वयंभू रचित 'हरिवंश पुराण' हैं जिसे 'रिट्ठणेमिचरिउ' (या अरिष्टनेमि चरित) भी कहते हैं किन्तु स्वयंभू की कृतियों में उसकी पूर्ववर्ती परम्पराओं के कतिपय कवियों का भी उल्लेख मिलता है। कृष्ण-काव्य के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण दो कवियों की काव्य-प्रतिभा एवं उनकी काव्य-शैलियों को स्पष्ट करने के लिए कतिपय उदाहरण देकर संकेत किया गया है। ये कवि हैं चतुर्मुख और गोइन्द।

चतुर्मुख :—स्वयंभू के आविर्भाव के पूर्व चतुर्मुख ने जैन परम्परा के अनुरूप काव्यात्मक रूप में पाण्डव और कृष्ण की कथा को 'हरिवंश पुराण' नाम से लिखा था। यह काव्य पद्धड़िया बंध में अपभ्रंश में लिखा गया था।[४] जिस प्रकार आजकल हम लोग चौपाई लिखने में तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाते हैं उसी प्रकार स्वयंभू ने चउमुह या चतुर्मुख को पद्धड़िया का राजा बताया था।'[५] चतुर्मुख अपने समय के प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभा को परवर्ती कवियों ने बड़ी प्रशंसा की है।[६] उनकी कृति आज उपलब्ध नहीं है। अतः उसमें लिखित कृष्ण की कथा के स्वरूप का विवेचना कर सकना असम्भव है।

गोइन्द :—(समय अद्यावधि अज्ञात) स्वयंभू तथा उसके परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने चतुर्मुख की भांति ही गोइन्द का भी नामोल्लेख किया है। स्वयंभू ने अपनी कृति में लगभग एक दर्जन कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिए हैं जिनसे स्पष्ट है कि स्वयंभू के आविर्भाव के पूर्व जो परम्परा विकसित हुई उसका पूर्ण मुकुलित रूप स्वयंभू काव्य में मिलता है। इन पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं के अवतरण महाभारत और रामकथा से सम्बन्धित हैं। महाभारत के कम अंश उद्धत होने पर भी इनमें कृष्ण-जीवन का विवरण है जहां कृष्ण की अपेक्षा गोपाल की चर्चा अधिक है। इसके साथ ही राधा-कृष्ण की प्रणय लीला से सम्बन्धित अवतरणों से यह स्वयं सिद्ध है कि राधा-कृष्ण की प्रणय भावना को लोक विश्वास की दृढ़ता के साथ साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा था। कवि गोइन्द के काव्य से दिए गए उद्धरणों को देख कर अनुमान होता है कि उसने गोपाल कृष्ण पर कोई काव्य लिखा होगा जो आज अनुपलब्ध है। राधा के सौन्दर्य पर गोइन्द रचित निम्न छन्द स्वयंभू ने उद्धृत किया है—

सव्व गोविउ जइवि जोएइ
हरि सुट्ठुवि आयरेण देइ दिट्ठी जहिं कहिं वि राही।
को सक्किवि संवरेवि दड्ढवयण णेहिं पलोट्टउ।

४. छ्छाणि दुवड़ धुवएहि अडिय चउमुहेण सम्मचिय पद्धडिये—रिट्ठणेमिचरिउ १.२, स्वयंभू रचित।

५. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९४।

६. (क) कवि धाहिल (समय १०-११ वीं शती) ने हरिवंश पुराण की भूमिका में चतुर्मुख का महत्व स्वीकार किया है।—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डा० देवेन्द्र कुमार जैन, पृ० १३४।

(ख) संदेशरासककार अब्दहमाण ने भी चतुर्मुख का उल्लेख किया है—सन्देशरासक प्रक्रम १, छंद १७।

(ग) देवसेन रचित 'सुलोचना चरिउ' (समय ११-१२ वीं शती) में पूर्ववर्ती कवियों में चतुर्मुख का भी नाम है—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० २१७।

(घ) नयनन्दी रचित 'सकल विधि निधान काव्य' (रचना काल सं० ११०० के लगभग) में पूर्ववर्ती कवियों में चतुर्मुख का नाम भी गिनाया गया है।—वही—पृ० १७५।

(ङ) संस्कृत कवि बाण ने 'कादम्बरी' में चतुर्मुख का नामोल्लेख किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् 'कृष्ण सभी गोपियों को समान आदर से देख रहे थे, पर उनकी दृष्टि नहीं टिकती थी, जहां राधा, नेह से छकी हुई आंखों को भला कौन रोक सकता है ?'

उपर्युक्त पद्य हेमचन्द्र के शब्दानुशासन में भी उद्धृत किया गया है। कवि गोइन्द के गोधन का भी सुन्दर शब्द-चित्र दिया है—

'ठाम ठामहिं घास संतट्ठ रत्तिहिं परिसंठिआ
रोमंघता बस-चलिअ गंडिआ
वोसन्ति थवलुज्जुला, जोन्हा णिहाण गोहना।[७]

अर्थात्—'ठाम-ठाम घास रखी है, रात में बैठी हुई गायें जुगाली कर रही हैं। जुयाली से मस्त उनके गण्ड-स्थल हिल-डुल रहे हैं। एकदम घौरी और उजली ऐसी जान पड़ती हैं मानो चांदनी ही छिटकी हो।'

स्वयंभू :—(समय ८ वीं शती) इनकी तीन कृतियां—पउमचरिय (पद्म चरित्र), हरिवंश पुराण (रिट्ठणेमि चरिउ या अरिष्ट-नेमि चरित) और स्वयंभू छन्द उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त पंचमी चरिउ तथा कोई व्याकरण ग्रन्थ भी इन्हीं के लिखे बताये जाते हैं।[८] परन्तु वे अप्राप्य हैं। 'पउम चरिय' में रामकथा और 'हरिवंशपुराण' में महाभारत तथा कृष्ण की कथा का वर्णन है।

'हरिवंश पुराण' (रिट्ठणेमिचरिउ) में कृष्ण चरित प्रस्तुत किया गया है। ११२ संधियों में लिखित यह ग्रन्थ ३ खण्डों में विभक्त है—यादव, कुरु और युद्ध।[९] डा० हीरालाल जैन ने भी इन्हीं ३ काण्डों के उपलब्ध होने की पुष्टि की है किन्तु डा० हरिवंश कोछड़ ने इसके उत्तर-काण्ड के उपलब्ध होने की भी सूचना दी है।[१०] उनके अनुसार 'रिट्ठणेमिचरिउ' में ११२ संधियां और १९३७ कडवक हैं। यादव काण्ड में १३, कुरु काण्ड में १९, युद्ध काण्ड में ६० और उत्तर काण्ड में २० संधियां हैं।

यादव काण्ड में कृष्ण जन्म, बाल लीला, कृष्ण विवाह, प्रद्युम्न आदि की कथाएं और नेमि जन्म का वर्णन है। **कुरु काण्ड** में कौरव-पाण्डवों के जन्म से लेकर पाण्डवों के १२ वर्ष के बनवास की कथा दी गई है। **युद्ध काण्ड** में कौरव-पाण्डव युद्ध का वर्णन है जिसमें कौरव पराजित और पाण्डव विजयी दिखाये गए हैं। **उत्तर काण्ड** में हार जीत के विश्लेषण के सन्दर्भ में आध्यात्मिक निष्कर्ष देते हुए कथा को समाप्त किया गया है। कथा विस्तार और चरित्र-चित्रण में कवि ने पूर्व प्राप्त परम्परा का पालन किया है।

जैन पुराणों की उपलब्ध परम्परा के अनुसार स्वयंभू ने 'रिट्ठणेभिचरिउ' (हरिवंशपुराण) में कृष्ण को नरक में कर्म-भोग भोगते दिखाया है।

इस ग्रन्थ की कथा इतिवृत्तात्मक नहीं है, काव्य रस से ओत-प्रोत है। कवि ने समृद्ध वातावरण देकर अत्यन्त सुसंस्कृत कला कौशल का परिचय दिया है। डा० प्रेम-सागर जैन ने 'रिट्ठणेमिचरिउ' के अन्तः और बाह्य दोनों पथों को समान रूप से सुन्दर बताते हुए उनकी तुलना गुलाब की सुगन्ध और सुषमा से दी है।[११] डा० मायाणी ने स्वयंभू की काव्य प्रतिभा से प्रभावित होकर उसे अपभ्रंश का कालिदास कहा है। कवि की वर्णन शैली में पौराणिकता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि स्वयंभू की अभिव्यंजना शैली पर संस्कृत के परवर्ती ह्रासोन्मुखी कवियों की शैली का प्रभाव है परन्तु वह उनकी तरह विकृत रहीं नहीं हुई प्रत्युत अलंकृत तथा प्रसंगानुसार ललित और परुष हैं। कवि ने नेमि के जन्माभिषेक के समय बजने वाले वाद्य यन्त्रों की ध्वनि को सुन्दर शब्द-योजना से प्रस्तुत किया है—

७. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डा० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ० ३३८-३९।
८. अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ५२।
९. कहा जाता है कि इस ग्रन्थ की ९९ संधियां स्वयंभू रचित हैं, शेष उनके पुत्र त्रिभुवन की। अन्तिम चार संधियां मुनि यशःकीर्ति ने १६ वीं शती में लिखीं। प्रेमी जी ने मुनि जसकित्ति (मुनि यशःकीर्ति) के लिखे हरिवंशपुराण का भी उल्लेख किया है। देखिये—जैन साहित्य का इतिहास — सं० नाथूराम प्रेमी, १९४२ ई०, पृ० ३७९-३८०।
१०. अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ६७।
११. हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि-भूमिका, पृ० १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुमु दुमु दुमन्त दुंदुहि वमालु, घुमघुम घुमन्त
घुम्मुक्क तालु
क्रि क्रि करांत सिक्किरि णिणाउ, सिमि सिमि सिमंत
झल्लारि णिहाउ।
सल सल सलंत कंसाल हुयलु, गुं गुंजमाण गुंजंतु
मुहलु।
कण कण कणन्तु कणइ कोसु, डम डम डमन्त डमरु
वणि घोसु।।[12]

'रिट्ठणेमिचरिउ' में युद्ध के भिन्न-भिन्न स्थलों में सजीवता स्पष्ट दिखाई देती है। कवि के वर्णन कौशल का नमूना युद्धों के विवरणों में द्रष्टव्य है जहां छन्द-गति और युद्ध गति समानांतर रूप में दिखाई देती है।

मज्जंत समाउइ। जुज्झझंत सुहडाइं। णिग्गंत अंताइं।
मिज्जंत गताइं। लोट्टंत चिंघाइं। तुट्टंत छत्ताइं। ७।६

अर्थात्—'रथ टूट रहे हैं, योद्धा युद्ध करते जा रहे हैं, प्रहार से आतें बाहर निकल पड़ती हैं, गात्र रुधिर से भीग रहे हैं, ध्वजाएं भग्न होकर पृथ्वी पर लोट रही हैं और छत्र टूटने जा रहे हैं।'

कवि ने अलंकारयुक्त व्याकरण सम्मत भाषा का प्रयोग किया है। अलंकारों के प्रयोग में उपमान भी धार्मिक भावनायुक्त हैं। उदाहरण के लिए—

सहुं दुमय सुमाए कोक्काविय ते कि पइट्ठा।
जीव दयाए सहिय परमेट्ठि पंचण दिट्ठा।
वही, २५।८

अर्थात्, 'द्रुपद् सुता के साथ आहूत वे पांचों पांडव भी प्रविष्ट हुए। जैसे जीव दया के साथ पंच परमेष्ठी—अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु प्रविष्ट हुए हों—

काव्य में सूक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग है—

वरि सुसइ समुद्दु वरि मंदरो णमेइ।
ण वि सब्वहु भासियं अण्णहा हवेइ।
—वही, १०३।१५

अर्थात्—चाहे समुद्र सूख जाय, चाहे मंदर झुक जाये किन्तु सर्वज्ञ का कथन अन्यथा नहीं हो सकता।'

स्वयंभू की शैली में सरलता और स्वाभाविकता है, किन्तु प्रकृति-वर्णन करते समय उसकी अलंकार प्रधान भाषा दर्शनीय है। सामन्ती समाज का वर्णन करने में भी वह अतुलनीय है। उसने रमणियों के सौन्दर्य के जीवंत चित्र खीचे हैं। विलाप-चित्रण एवं विरह-वर्णन में उनके गम्भीर एवं उदात्त भाव पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। जैन पण्डितों ने स्वयंभू को जल-विहार वर्णन में सिद्ध-हस्त माना है। राहुल जी ने स्वयंभू के स्वाभाविक भाषा प्रवाह और शब्द कौशल की बहुत प्रशंसा की है।[13] वास्तव से स्वयंभू संस्कृत की काव्य-परम्परा से प्रभावित है और पिंगल-अलंकारिक के लिए आचार्यों का ऋणी है। 'संस्कृत को जल-विहार, वन वर्णन, सूर्योदय, सूर्यास्त, नदी आदि के वर्णन की रूढ़िगत शैली का स्पष्ट प्रतिबिम्ब स्वयंभू में मिलता है.....स्वयंभू की उपमाएं परम्परामुक्त हैं। यत्र तत्र मौलिक उपमाएं भी आ जाती हैं पर उन्हें अपभ्रंश काव्य की निजी विशेषता नहीं माना जा सकता।'[14]

पुष्पदंत (पुफ्फयंत) (समय ९५९-९७२)[15] :—

अपभ्रंश में लिखित कृष्ण-काव्य की परम्परा में स्वयंभू के बाद पुष्पदंत हुए। उनके कई उपाधि नाम थे—अभिमानमेरु, कविकुलतिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वती निलय, काव्य पिसल्ल आदि। पुष्पदंत ने ३ काव्य-ग्रन्थों की रचना की। १—महापुराण (तिसट्ठि-महापुरिस गुणालंकार), २—जसहरचरिउ (यशोधर चरित), णयकुमारचरिउ (नागकुमार चरित)।

१२. अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ६८।

१३. 'उसने खामख्वाह दुरूहता लाने की कोशिश नहीं की। पद्य स्वर बड़े ही कर्णप्रिय हैं। शब्द बिल्कुल नपे तुले हैं और रस-परिपाक तो बराबर ऊपर और और ऊपर उठता जाता है—स्वयंभू के वर्णन में हर जगह नवीनता है।' —हिन्दी काव्यधारा : राहुल-सांकृत्यायन, १९४५, पृ० ५१।

१४. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ३३५।

१५. अन्त: साक्ष्य एवं वेहिसक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने पुष्पदंत का समय १० वीं शती माना है। —जैन साहित्य का इतिहास—प्रेमी, पृ ३२६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महापुराण में ६३ महापुरुषों के चरित्रों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—आदिपुराण और उत्तर पुराण। इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय १२० संधियों में विभक्त है। आदि पुराण में ऋषभदेव के जीवन और महानिर्वाण का वर्णन है। उत्तरपुराण की ११ संधियों में राम-कथा और १२ संधियों में कृष्ण-कथा लिखी गई है।

कृष्ण-चरित के वर्णन में पुष्पदंत जिनसेन के 'हरिवंश पुराण' की परम्परा से प्रभावित हैं। कवि ने राम-कथा की अपेक्षा कृष्ण-कथा के वर्णन में उन्मुक्त कल्पना को प्रश्रय दिया है। पुष्पदंत ने कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भागवत के अनुसार ही किया है। इसीलिए उसने कृष्ण के लिए गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि सम्बोधन प्रयुक्त किये हैं। इस काव्य में प्रस्तुत कथावस्तु से तत्कालीन कृष्ण-भक्ति के निश्चित स्वरूप का पता नहीं चलता किन्तु यह प्रतीत होता है कि उस युग के जैन कवियों ने भी भागवत के आधार पर कृष्ण-कथा लिखी।

उत्तर पुराण में कवि के काव्य-कौशल का सुन्दर रूप मिलता है। गोकुल में कृष्ण ने अनेक लीलाएं कीं। गोपियों के साथ की गई छेड़छाड़ का वर्णन कितना सजीव है।[१६] धूलि धूसरित कृष्ण क्रीड़ाएं करते हुए अन्यत्र भी घूमते हैं। किसी गोपी की मथानी टूट गई, कोई आधे बिलोये हुए दही को छोड़कर यों ही भागी, कोई गोपी कहने लगी—तुमने हमारी मथानी तोड़ दी है। इसका मूल्य चुकाने के लिए एक आलिंगन दो, अन्यथा मेरे आंगन में मत आना। किसी गोपी की पाण्डुर रंग की चोली कृष्ण की छाया से काली हो गई। उस मूर्खा ने उसे जल से धोकर सखियों को दिखाया और अपनी जड़ता प्रदर्शित की। माता के समीप दौड़ कर जाते हुए कृष्ण दत्तचित्त होकर स्तन्यन्पान करते हैं। महिषी हरि को अपने पास बिठाती हैं किन्तु माधव समीर (हवा) में हाथ हिलाते हुए विविध क्रीड़ाएं करते हैं। (कभी) बालक कृष्ण की आंगन में की गई वत्सल लीलाएं दर्शनीय होती हैं। गुंजा के गुच्छों को तोड़ते देखकर यशोदा को दुःख होता है। कभी अपने नेत्रों से उनका विराट् रूप देखती है तो कंस-वध की आशा होती है। कृष्ण करतल से शुचि सुखकारी शब्द करते हैं।'

महाकवि पुष्पदंत ने 'पूतना लीला' में कृष्ण की शक्ति और क्षमता का वर्णन भी भागवत के जैसा ही किया है। पूतना कृष्ण को मधुसूदन, गरुड़ध्वज, नंदनंदन, जनार्दन और केशव आदि नामों से सम्बोधित करती है। कृष्ण

१६. दुवई-धूली धूसरेण रमुक्कसरेण तिणा मुरारिणा।
कीलारसवसेन गोवालय गोवीहिययहारिणा।
रंगतेण रंमत रंमत, मंथउ धरिउ भमंतु अणंत।
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्धविरोलिडं दहिउं पलोहिउं।
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी, एण महारी मंथणि मग्गी।
एयहि मोल्लुदेउ अलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे प्रँगणु।
काहि वि गोविहि पडंरु चेलउं, हरितणुतेएं जायउं कालउं।
मूढ जलेण काइ पक्खालइ, णियजड़त्तु सहियहि धण्ण रसिच्छिस छायावंतउ, मायहिंसंमुह परिधावंतउ।
महिससिलंवउ हरिणा धरिवउ, णकरणि वंधणाउ णीसरियउ।
दोहउ दोहणहत्थु समीरइ, मुइ मुइ माहब कीलिउं पूरइ।
कत्थइ अंगण भवणालुद्धउ बालबच्छु बालेण णिरुद्धउ।
गुंजाझेंदुयरइयपयोएं, मेल्लाविउ हुक्खेहिं जसोएं।
कत्थइ लोणियपिंडु णिरिक्खिउ कण्हें कंसहुणं जसु भक्खिउं।
घन्ता-पसरियकरयलेहिं सद्दंतिहिं सुइसुहकारिणिहिं।
भद्दिइ णियडि थिए धरयम्मु ण लग्गइ णारिहिं।
—उत्तर पुराण, पृ० ६४-६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं—'यह मेरी जननि नहीं है,[17] यह राक्षसी वैरिन है। प्राणान्त करने वाली है, आज ही इसे मारकर प्रलय करूंगा।' कवि ने कृष्ण को मानमहंता, भृकुटिकरंता, लक्ष्मीकंता, देव अनंता कहते हुए पूतना-वध का वर्णन किया है। वह भीमाकार बाला कल्लोल करती हुई चिल्लाई हे नंदनंदन, जनार्दन छोड़ो। हे केशव मैं मरी, मैं कंस की सेवा नहीं करूंगी, मुझ पर रुष्ट न हो। मेरे हृदय (स्तन) से रक्त प्रस्रावित हो रहा है, तुम्हारी जहां इच्छा हो, वहां खेलो, ऐसा कहते हुए उसने गोविन्द को छोड़ दिया और फिर नंद निवास पर न रुकी और देवलोक चली गई।

पुष्पदंत ने कृष्ण की विविध बाल लीलाओं का जीता जागता वर्णन किया है। इनमें कृष्ण का ऊखल बन्धन प्रमुख घटना है।[18] कवि ने जैनियों की मान्यता के अनुसार सुत मुख देखने के लिए देवकी के नंद-घर जाने का वर्णन किया है। वहां पर देवकी ने नंद के समृद्ध घर, गौएं, रोहिणीसुत (बलराम) और कृष्ण को देखा। गोपों के बीच में कृष्ण कलहंस के समान दिखाई दिये। उन्हें क्रीडा करते शिशुओं की रजकण अच्छी लगी। उन्होंने हलधर का आलिंगन किया और अपनी भुजाओं में बांध लिया। उनके अंग-अंग हर्ष से स्निग्ध हो गए। कंस के पैशुन्य का स्मरण कर उन्हें चिन्ता हुई। फिर भी उन्होंने उन्हें गाढ़ स्नेह प्रदान किया और रसोई के लिए बुलाया। गंध, फूल, दीप संजोकर मां ने दही, मीठा भोजन और घृतपूरित नाना प्रकार का भक्ष्य दिया, जिसे उन्होंने बड़े सरस भाव से ग्रहण किया।"[19]

१७. जणणिण मेरी विप्पिय गारी। जीवियहारिणि।
रक्खसि वइरिणि।
अज्जु जि मारमि पलउ समारमि। इय चिंतते।
रोसु वहंते।
माण महंते। भिउडि करंते। लच्छी केते। देवि
आणंते।
देतहि पीडिय। मुट्ठिइताडिय। दिट्ठिय तज्जिय।
थामें णिज्जिय।
अणु वि ण मुक्की। णर्हहिं विलुक्की। खलहि
रसतहि। सुणणु हंसतहि।
भीमें बालें। कयकल्लोलें। लोहिउं सोसिउं। पलु
आकरिसिउं।
दाणवसारी। भणइ भडारी। हिय रुहिरासबे। मुइ
मुइ केसव,
णंदाणंदण मेल्लि जणद्दण। कंसु ण सेवमि रोसु ण
दावमि।
जहि तुहुं अच्छहि, कील समिच्छहि। तहिं णउ
पइसमि छलु ण गवेसमि।
घत्ता-इय सयंति कलुणु कह कह व गोविंदें मुक्की।
गय देवय कहिं मि पुणु णदणि वासिण ढुक्की।
—उत्तर पुराण, पृ० ६७-६८।

१८. उत्तर पुराण, पृ० ६८-६९।

१९. घत्ता-मायइ महुमहणु बहु गोवहं मज्झि णिरिक्खिउ।
वयपरिवेढियउ कलहंसु जेम ओलक्खिउ।
दुवई-हरि मुवजुवदलियदाणवबलु
णवज्जोवणविराइओ।
उग्गयपउरपुलय पउहच्छ वसुएवेण जोइओ।
भायरु सिसुकीला रयरंगिउ, हलहरेण दिट्ठिइ
आलिंगिउ।
भुयजुय लउं पसरंतु णिरुद्धउं, जायउं हरिसे
अंगुसिणिद्धउं।
चिंतिवितेण कंस पेसण्णउं, आलिंगणु देंतेण ण
दिण्णउं।
गाढसिणेहवसेण णवंतइ, आणविय रसोइ
गुणवंतञ।
गंधफुल्ल दोवउ संजोइउ, भोयणु मिट्ठउं मायइ
ढोइउं।
अल्लय दलदहि ओल्लिय करहिं, मंडयपूरणेहिं
घियपूरहिं।
णाणाभक्ख विसेसर्हि जुत्तउं, सरसु भाविभूणाहें
भुत्तउं।
उत्तर पुराण, पृ० ७२-७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कालिय दमन प्रसंग' में कवि ने कृष्ण की कोमलता, नन्द और यशोदा के विलाप, कालिय नाग की प्रचंडता एवं तीव्रता का बहुत ही सुन्दर विवरण दिया है। इसके कतिपय उल्लेखनीय स्थल पठनीय हैं। नन्द बोले—'जहां राजा ही अन्याय करता है वहां अन्य कौन सुनवाई करेगा? कहां कमलदंड के समान कोमल कृष्ण और कहां अति प्रचण्ड नाग, मैं कहां जाऊं और किससे निवेदन करूं? मेरे धुकधुकी हो रही है, हृदय जल रहा है।' शोकाभिभूत यशोदा चिल्लाई—'मेरा एकमात्र पुत्र अहि-मुख में निक्षिप्त हो गया, बालक न मरे, काल मेरा वरण करे।' इस प्रकार कहती और दीर्घ श्वास लेती हुई त्रस्त यशोदा विलाप करने लगी।'[२०]

पुष्पदन्त ने कृष्ण के लिए 'उपेन्द्र' (विष्णु) शब्द का प्रयोग किया है जिससे ध्वनित होता है कि जैन कवियों पर ब्राह्मण-धर्म के पुराणों का प्रभाव था और इसीलिए उन्होंने कृष्ण को विष्णु का अवतार माना। कवि ने 'कालिय दमन' प्रसंग को विस्तार से लिखा है। कवि के कथनानुसार—उपेन्द्र ने फणीन्द्र (कालिय नाग) के मर्दन हेतु जल-क्रीडा करने का निश्चय किया, अत: वे यमुना तट पर गए। उद्भट फन एवं विकटांग विषधर यमपाश की भांति उनकी ओर दौड़ा। पुष्पदन्त ने कृष्ण और नाग की शोभा का वर्णन करने में उपमा और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है। दोनों की शोभा ऐसी दिखाई देती है जैसे तिमिर (रूप कालिय नाग) लोल तिमिर (कृष्ण का सौन्दर्य) में सम्मिलित हुआ जा रहा हो। उस समय हरि (कृष्ण) पूर्ण काल-भ्रमर के समान दिखाई दे रहे थे जैसे अंजन के गिरिवर पर नव तमाल (उग आया) हो। उनके तन की कांति घन-घटा को भी पराजित करने में सक्षम है। विषधर के सिर पर रक्त कण माणिक्य के समान दिखाई दिये, उसकी देह का नाश हो गया। जैसे कुसुम मणि ताम्र को और भी ताम्र (रक्त वर्ण का) कर देती है, जिस प्रकार सरि के एक ओर अलसाई हुई लटकी बेल पर पल्लव दर्शनीय होते हैं (वैसे ही) अहि (कालिय नाग) ने मधुसूदन के अंगों को देखा जिनके रोम-रोम में कस्तूरी (गंध) का विलास था। विषधर ने हरि के समक्ष शिर भ्रमित (नत) किया और मदमत्त तुंग (की भांति) चला गया।[२१]

महापुराण में पुष्पदन्त ने चरित नायकों के वर्णन के साथ ही प्राकृतिक दृश्यों का संश्लिष्ट बर्णन किया है। सूर्योदय, चन्द्रोदय, सूर्यास्त, नदी, ऋतु, सरोवर आदि के वर्णन में कवि की तल्लीनता स्पष्ट दिखाई देती है। इनमें

२०. जहिं राउ हणइ, अण्णाउ कुणइ। किं धरइ अण्णु
तहिं विगयगण्णु।
हउं कांइ करमि लइ जामि मरमि। फणि सुट्ठु चंडु
तं कमल संडु।
को करिण छिवइ, को झंपधिवइ। धगधगगति
हुयवहि जलंति।
उप्पण्ण सोय कंदई जसोय। महु एक्कु पुत्तु
अहिमुहिणिहित्तु।
मामरउ बालु मंइ गिलउ कालु। इय जा तसंति
दीहर संसति।
—वही—पृ० ८२-८३

२१. पमणइ उविंदु णिहणवि फणिंदु। णलिणाइं हरमि,
जसकील करमि।
धत्ता-इयमणिवि गउ कण्हु संप्राइउ जउणासरवरु।
उब्भउफउवियउंगु जमपासु व धाइउ बिसहरु।
फणि पुप्फुयंतु चलु जुज्झलोलु, णतिमिरहु मिलियउ
तिमिरलोलु।
दीसइ हरि दहि मसलउलकालु, णं अंजण गिरिवरि
णवतमालु।
तणु कंति परज्जियघणतमासु, णक्खइं फुरंति
पुरिसोत्तमासु।
सिरि माणिक्कइं विसहरवरासु, दीसंतइ देंति व
देहणासु।
तंवेहि कुसुममणियरहि तंबु, णंसरिबेल्लिहि पल्लउ
पलंबु।
अहि घुलिउ अंगि महुसूयणासु, णं कत्थूरीरेहाविलासु।
घत्ता विसहर घोलिरदेहु सरि भमंतु रेहइ हरि।
कच्छालंकिउ तुंगु णं मयमत्तउ दिसकिरि।
—वही—पृ० ८२-८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक स्थलों पर कवि की मौलिक सूझ-बूझ का परिचय मिलता है। कवि की वर्णन चातुरी, शब्द-योजना और भाषा का सरस प्रवाह तो सर्वत्र श्लाघ्य है। कवि ने गोवर्द्धन धारण के प्रसंग में जो दृश्य प्रस्तुत किया है वह भाषा, भाव और अलंकार की रसमय त्रिवेणी है। 'नदी-सरोवर को भरता हुआ जल झलमलाता हुआ चमकता है। लड़तड़ के शब्द से गिरि के शिखर फूट गए से लगते हैं। गोकुल में मरुत के तीव्र वेग से वृक्ष गिरे। जल-थल में सभी भय-त्रस्त थरथरा कर व्याकुल हो गए। धीर वीरों के स्थिर भाव भी विचलित हो गए। महीधर, दिग्पाल, देवता युगल कर बद्ध करके स्तुति करने लगे। जड़ तम का प्राकट्य हुआ। अपने महि विवर त्याग कर (भयभीत) फणि निकर (सर्पों के समूह) विष वमन करने लगे। वन के समस्त चर-अचर, हिंस्र पशु गिरते-पड़ते कातर हो कर प्राण-रक्षा हेतु व्याकुल हो गए। तपस्वी भी परवश हो गए। गोवर्द्धन (पर्वत) पर गोप-गोपियों का भार (इस प्रकार) दिखाई दिया जैसे गोवर्द्धन गिरि को गोवर्द्धन ने ऊंचा उठा दिया (महत्व प्रदान किया)।'[२२]

पुष्पदन्त ने कृष्ण-महिमा का वर्णन करते हुए उन्हें सुपुत्र, दुर्द्धर्ष वीर, दीनबन्धु, पतितोद्धारक आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।[२३]

३६ वें परिच्छेद के अन्त में कवि ने माधव की कालिंदी तट की गुप्त लीलाओं के उत्सव और मथुरा की कामिनियों के कृष्ण के प्रति अनुराग की तीव्रता का संकेत किया है। उनमें से कोई कहती है—'मैंने दही मथ लिया है, तूने मुझे उद्भ्रान्त छोड़ दिया है, मैं तुझे नवनीत से लिप्त कर लूंगी।' कोई मध्य मार्ग की ओर देखती हुई कहती है— 'नारायण की ये रात्रि तुम्हारे लिए नहीं है। उन्होंने तो अन्य गोपियों का आलिगन किया। वे संकेत से कुडं कल्लोल करते हैं।' कोई कहती है—'क्षीर भिंगार करने वाले (पापियों का) उद्धार करते हैं। क्या भट्टारक हो जाने के कारण आज उन्होंने मुझे बिसार दिया ?' गोपियों के ऐसे वचन सुन कर परमेश्वर हंसते हुए क्रीडा करते और कहते हैं—"तुममें गर्व-भाव है अतः इस जन्म में मेरे प्रति तुम्हारा ताप रहेगा। यशोदा माता ने स्तन्य-पान करा कर मेरा पालन पोषण किया, उसे मैं क्षण मात्र को भी नहीं भुला सकता।'[२४]

इस कृति में पुष्पदन्त की भाषा विभिन्न अलंकारों से सज्जित है। उसने दो वस्तुओं या दृश्यों का साम्य कभी श्लिष्ट शब्दों द्वारा, कभी उपमेय और उपमानगत क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त किया है।[२५] वैसे कवि की अलंकार योजना संस्कृत काव्यों की परम्परा के अनुसार ही है।

स्वयंभू और पुष्पदन्त के काव्य-कौशल, शब्द-विन्यास, छन्द-प्रवाह एवं शैली के विविध प्रयोगों का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए डा० देवेन्द्रकुमार जैन ने कहा है कि—'स्वयंभू की राम-कथा यदि नदी है तो इनका महापुराण समुद्र, उनकी वाणी अलंकृता, रसवती और जिन भक्ति से भरी है। उनके काव्य में ओज और प्रवाह है। कई शैलियों का प्रयोग है।···दर्शन और शास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन है···

२२. जलु गलइ, झलमलइ। दरि मरइ, सरि सरइ।
तडमडइ तडिपडइ। गिरि फुडइ, सिहि णउइ।
मरु चलइ, तरु धुलइ। जलु थलुवि, गोडलु वि।
णिरु सांसंउ, भयतसिउ। थरहरइ, किर मरइ।
जा ताव, थिर भाव। धीरेण, वीरेण।
सर लच्छि, जय लच्छि। तण्हेण, कण्हेण।
सुर थुइण, भुण जुइण। वित्थरिउ, उद्धरिउ।
महि हरउ, दिहियरउ। तम जडिउं, णयडिउं।
महि विवरु, फणिणियरु। फुफ्फुवइ विसुमुयइ।
घत्ता-गोवद्धणपरेण गोगोभिणिभारु व जोइउ।
गिरि गोवद्धण गोवद्धणेण उच्चाइउ।
—उत्तर पुराण—पृ० ७४-७५

२३. —वही—पृ० ८८

२४. इय गोवीयणवयणइं सुणंतु, कीलइ परमेसरु
दरहसंतु।
संभासिउ मेल्लिवि गव्वभाउ, इह जम्महु महुं तहुं
ताय ताउ।
परिपालिउ थणथण्णेण जाइ, वीसरमि ण खंणुमि
—वही—पृ० ८९

२५. अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ९१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के उभय रूप उन्हें आकृष्ट करते हैं।'[२६]डा० भायाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास कहा है तो पुष्पदन्त को भवभूति। इससे कदाचित् भिन्न मत डा० भोलाशंकर व्यास का है'''स्वयंभू मूलतः हृदय के कवि हैं, पुष्पदन्त बुद्धि के। स्वयंभू और पुष्पदन्त की तुलना कालिदास और भवभूति से न कर यदि उन्हें अपभ्रंश का कालिदास और माघ माना जाये तो ठीक होगा।'[२७]

स्वयंभू और अपभ्रंश के समय की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उस युग में ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म की विचार धाराओं का समान रूप से प्रचार हो रहा था, परन्तु उसमें किसी भी प्रकार की धार्मिक या साम्प्रदायिक संकीर्णता उत्पन्न नहीं हुई थी। सम्भवतः इसीलिए जैन कवियों ने संस्कृत और प्राकृत की सभी परम्पराओं को उदारतापूर्वक ग्रहण किया। उन्होंने ब्राह्मण धर्म के पुराणों तथा संस्कृत कवियों की काव्य-शैलियों को निःसंकोच और बिना किसी भेद-भाव के अपनाया। उस युग में बौद्धों की तांत्रिक परम्परा से ब्राह्मण धर्म प्रभावित हुआ जिसके फलस्वरूप बंगाल में नये धार्मिक अंकुर उपजे। इसीलिए विद्वानों का विचार है शैव-शाकत तन्त्र तथा राधाकृष्ण की शृंगारी भक्ति के विकास में बौद्ध तांत्रिकों का हाथ है।[२८]

घाहिल :—कवि घाहिल का उपनाम 'दिव्यदृष्टि' था। उन्होंने 'पउमसिरिचरिउ' और 'हरिवंश पुराण' दो काव्य रचे।[२९] कवि का स्वयं कथन है कि—

'हरिपंडु सुआण कहा चउमुह वासेहिं भासिय जह या
तेह विरयमि लोय पिया जणो ण णासेइ दंसणं पउरे।'

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार चतुर्मुख ने पाण्डव और कृष्ण-चरित्र प्रस्तुत किया, घाहिल ने भी परम्परागत विषय को जैन धर्म की मान्यता के अनुसार प्रस्तुत किया। कवि घाहिल को 'हरिवंशपुराण' ११२ संधियों में लिखित अपभ्रंश का प्रबन्ध काव्य है जिसमें अपभ्रंश की सभी काव्य रूढ़ियों का निर्वाह मिलता है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।[३०]

धवल :—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए धवल कवि ने बाद में जैन धर्म अपनाया। अपनी रचना 'हरिवंशपुराण' के प्रारम्भ में इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों एवं काव्यों का उल्लेख किया है जिनमें अधिकांश कवि ९वीं शती के हैं। इसीलिए विद्वानों ने इनका समय १०वीं शताब्दी या उसके कुछ ही बाद का अनुमान किया है।[३१]

'हरिवंश पुराण' में १४२ संधियां हैं। संधियों में कंडवकों की कोई संख्या निश्चित नहीं। संधियों के अन्तिम घत्ता में 'धवल' शब्द का प्रयोग मिलता है। ग्रन्थारम्भ में कवि ने 'हरिवंशपुराण' को सरोरूह (कमल) कहा है और इस कथा के पूर्व वक्ताओं में चतुर्मुख और व्यास का आदरपूर्वक स्मरण किया है। तदन्तर २४ तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है।

'हरिवंशपुराण' की कथा का क्रम स्वमंभू आदि प्राचीन कवियों की परम्परा के अनुसार ही है। कवि का प्रकृति वर्णन वहुत ही सजीव है''' फाल्गुन मास समाप्त हुआ और मधुमास (चैत्र) आया। मदन उद्दीप्त होने लगा। लोक अनुरक्त हो गया। वन नाना पुष्पों से युक्त, सुन्दर और मनोहर हो गया। मकरन्द पान से मत्त मधुकर गुनगुनाते हुए सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं'''घरों में नारियां अपने शरीर को अलंकृत करती हैं, झूला झूलतीं हैं, विहार करती हैं। वन में मधुर अलाप करती हुई कोयल गाती

२६. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० ७३।
२७. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ३४१।
२८. —वही—पृ० ३३२।
२९. डा० देवेन्द्रकुमार जैन ने इनका रचना काल १०वीं शती के आस-पास माना है।
—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० ७५।
३०. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० १३४।
३१. अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० १०३, १०४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सुन्दर मयूर नृत्य करते हैं।[32]

इस काव्य में श्रृंगार, वीर, करुण और शान्त रसों का सुन्दर निर्वाह मिलता है। कवि के युद्ध वर्णन को पढ़ कर लगता है कि उसने स्वयं किसी युद्ध को देखा था। इसी कारण उसके वर्णनों में जीवंतता मिलती है—

वज्जहिं गहिर तूर हय हिंसहिं, गुलु गुलंत गयवर दीसहिं। विधहिं तडातड मुछिहिं मडाभडा। कुंतघाय वारिया, खग्गहिं वियारिया जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया।। ८९-१०

अर्थात्—वाद्य जोर जोर से बज रहे हैं। घोड़े हिनहिना रहे हैं। हाथी चिंघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं—योद्धा विद्ध हो रहे हैं, भट मूर्च्छित हो रहे हैं, कोई भालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं, कोई खडग से छिन्न-भिन्न हो हैं, कायर जीवन की आशा त्याग कर भाग रहे हैं।'

एक अन्य उदाहरण—

भडा के वि जीवेण मुक्का विमत्ता। भडा के वि
दीसंति घमोंण चत्ता।
भडा के वि दुज्झिच्छं आरत्तणेत्त। भडा के वि जुज्झे
ललत्ता वियेत्त।
भडा के वि दो खंड गत्ता पंडता। भडा के वि दुग्घट
दंते हिमिण्णा।
भडा के वि तिक्खेहिं खग्गेहिं छिण्णाा। भडा के वि
रोमंचगचें भमंत।
भडा के वि मुट्ठिक्क चवेड देंता। भडा के वि
वग्गंति बाहुत्थलेण।
भडा के वि जुज्झति केसांगहेण। —८९-१२

अर्थात्—कोई योद्धा प्राण वियुक्त हो रहे हैं, कोई धर्म परित्यक्त दिखाई दे रहे हैं, कोई आरक्त नेत्र और दुष्प्रेक्ष्य हो रहे हैं······कोई योद्धा तीक्ष्ण तलवार से छिन्न हो रहे हैं, कोई रोमांचित गात्र से घूम रहे हैं, कोई घूंसा और चपेड़ लगा रहे हैं, कोई बाहु युद्ध कर रहे हैं, कोई बाल पकड़कर घसीट रहे हैं।[33]

कंस वध पर उसकी रानियों एवं परिजनों का शोक-विलाप बहुत ही मार्मिक है—'हा, दैव दुर्विपाक से मुझे मनोहरता के स्थान पर विरह (ताप) मिला, हा विधि (नृप) विहान हम क्या करें, हम चक्षु रहित (अंधे) की भाँति आज देख सकने में असमर्थ हैं। हे देव, हम आपको बुलाती हैं (पर) आप सुन्दरी को देखकर क्यों चुप हैं? सुन्दर सेज को सुशोभित करने वाले (वीर) आज धरणी पर लेटे हुए हैं।[34] इस प्रकार उन्होंने मथुरा के—नरेश को गुणी, दुर्द्धर्ष वीर, दिव्य वेष आदि विशेषण प्रयुक्त करके याद किया है। जो लोग कुत्सित कर्मों में प्रवृत्त होकर युद्धादि करते हैं, उनको दृष्टि में रख कर कवि ने संसार की नश्वरता का वर्णन किया है।[35]

सिंह या सिद्ध:—सिंह विरचित १५ सन्धियों का अप्रकाशित काव्य 'पज्जुण्ण चरिउ' (प्रद्युम्न चरित) उपलब्ध हुआ है। डा० हीरालाल जैन ने ग्रन्थ का काल

३२. फग्गुणु गउ महुमासुपरायउ, मयणु छलिउ लोउ
अणुरायउ।
वण सय कुसुगिय चारु मणोहर, वहु मयरंद वन्त
बहु महुयर।
गुनगुमंत खणमणइं सुहावहिं, अहण्णट्ठ
पेम्मुउक्कोवहिं।
केसु व वणहिं धणासण फुल्लिय, णे विरहग्गे जाल
ण मिल्लिय।
घर घर णारि णिय तणु मंडहि, हिंदोलहि हिंडहि
उग्गायहिं।
वणि परदुट्ठ महुरु उल्लावहिं, सिहिउलु सिहि
सिहरेहिं धहावइ।
—वही, पृ० १०६ पर उद्धृत।

३३. वही, पृ० १०७।
३४. हा दइय दइय पाविट्ठ खला, पइ अम्ह मणोहर किय
विहला।
हा विहि विहीण पइं काइकिउ णिहि दरसिवि
तक्खणि चक्खुहिउ।
हा देव ण बुल्लहिं राइं तुहुं, हा सुन्दरि दरसहि किण्णु
मुहु।
हाधरणिहिं सगुण णिलयट्ठाहि, वर सेज्जहिं
मरभवणेहिं जाहिं। ५६, १
३५. हरिवंश पुराण (हस्तलिखित) ५१, ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसा की १२ वीं सदी का पूर्वार्द्ध माना है।[३६] किन्तु पण्डित परमानन्द जैन ने इसका रचना काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना है।[३७] काव्य की सन्धियों और पुष्पिकाओं में सिंह और सिद्ध दोनों नाममिलते हैं। पं० परमानन्द जैन का अनुमान है कि 'प्रद्यूम्न चरित' का मूल लेखक सिद्ध कवि था। बाद में इस ग्रन्थ के नष्ट हो जाने पर उपलब्ध खण्डित प्रति का उद्धार सिंह कवि ने किया।[३८]

ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य में प्रद्युम्न का चरित वर्णन है किन्तु प्रसंगवश कृष्ण का भी वर्णन है। ग्रन्थारम्भ में कवि ने जिन नाथ वन्दन, सरस्वती स्तवन एवं आत्म विनय प्रदर्शित किया है। बाद में परम्परागत रूप में दुर्जनों को भी स्मरण किया है।

कथा-क्रम में कवि ने कृष्ण और सत्यभामा का वर्णन किया है। कृष्ण-वन्दना करते हुए कवि ने चागूर, कंस आदि भयंकर असुरों के संहारक, शंख, चक्र और सारंग-धारी देवकी नन्दन आदि शब्दों से उनकी अभ्यर्थना की है—

चागउर विमद्दणु, देवइंणंदणु, संख चक्क सारंगधारु।
रणि कंस खयंकरु, असुर भयंकरु, वसुह तिखद्रहं गहिय
करु। १, १२

इसके अतिरिक्त कृष्ण की शोभा और उनके वैभव का भी कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया।

मेरुतुंगाचार्य :—वि० सं० १३६५ में मेरुतुंग ने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की रचना की। यह एक संकलन ग्रन्थ है, जिसमें वीर, श्रृंगार एवं निर्वेद भाव के पद संगृहीत हैं। इसके कुछ पद्यों में राजाओं और ऐतिहासिक महान् पुरुषों की प्रशस्ति है तथा कुछ सुभाषित हैं।

इस कृति में संकलित एक दोहे में राजा बलि को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गयी है—

अम्हणिओ सन्देसड़ो तारय कण्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहिं डुब्बिउ बल बंधणह मुहिज्ज॥

'मेरा सन्देश उन तारक कृष्ण से कहना, सारा संसार दारिद्रय में डूब रहा है, अब तो बलि को बन्धनमुक्त कर दीजिए।' इस दोहे में 'तारक' शब्द कृष्ण के प्रति परमात्म भाव का परिचायक है।

यशःकीर्ति :— कवि ने सं० १४९७ में 'पांडव पुराण' और सं० १५०० में 'हरिवंश पुराण' की रचना की। इन की लिखी ३ पुस्तकें—चन्द्रभ्रम चरित, जिनदत्तिकहा और रविवउकहा—भी प्राप्त हुई हैं।

कवि ने 'पांडवपुराण' में पांडवों की कथा और 'हरिवंशपुराण' में महाभारत की कथा को जैन-परम्परा के अनुसार काव्य-विबद्ध किया है। नारी के बाह्य रूप के साथ उसकी आन्तरिक भावनाओं का भी कवि ने हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थों में प्रसंगानुसार कृष्ण की कथा को भी प्रस्तुत किया गया है। कवि के युद्ध वर्णन सजीव नहीं हो सके क्योंकि उसने ऐतिहासिक घटनाओं को इतिवृत्तात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। विरह वर्णन एवं करुण रस की अभिव्यक्ति में भी कवि को अधिक सफलता नहीं मिली। 'कंस वध' पर जीवयशा का विलाप दर्शनीय है—

परिदेवइ कन्दइ णाइ णाह, का कहि गउ सामिय करि
अणाह।
महुहिय इछुहोप्पिणु गाढवाहु, हा वयरिहि मणि परि
किउ उछाहु।

× × ×

खणि खणि मुछिज्जइ महि विहाए, वह लंजण सामल
रत्तिणाह।
किउ संसवारु कंसहो वि तेहि, मिल्लेधिणु सकेहिं
जोयवेहिं॥

इससे स्पष्ट है कि कवि मार्मिक स्थलों पर विरह की तीव्रता प्रदर्शित नहीं कर सका। वैसे कवि की पद-योजना सरल और प्रभावोत्पादक है।

श्रुतकीर्ति :—इन्होंने 'हरिवंशपुराण' (वि० सं० १४९७) और 'परमेष्ठि प्रकाश सार' (वि० सं० १५५३) नाम के दो काव्य ग्रन्थ लिखे। 'हरिवंशपुराण' में महा-

३६. नागपुर यूनीवर्सिटी रिसर्च जर्नल, १९४२, पृ० ८२-८३।
३७. महाकवि सिंह और प्रद्युम्न चरित, अनेकांत वर्ष, ८ किरण-१०-११, पृ० ३९१-३९३।
३८. नागपुर यूनिवर्सिटी रिसर्च जर्नल, १९४२, पृ० ८२-८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत की कथा ४४ सन्धियों में लिखी गयी है। सन्धि की पुष्पिकाओं में कवि ने इस ग्रन्थ को 'महाकाव्य कहा है।

कवि ने सरस्वती वन्दन और आत्म-विनय से कथा आरम्भ की है और हृदय रूपी सरोवर से हरिवंशपुराण रूपी कमल के विकसित होने का संकेत किया है—

'हरिवंसु पयोरूह अदूरवण्णु, इह मरह खित
सरवरउवण्णु।' १०।१

कवि की ये कृतियां अद्यावधि अप्रकाशित हैं।[39]

अपभ्रंश में कृष्ण-काव्य के उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश में इसका विस्तार-काल ७वीं से लेकर १६वीं शती तक रहा। इन उपलब्ध कवियों के काव्य ग्रन्थों के अलावा और भी बहुत से प्रतिभासम्पन्न कवि हुए होंगे जिनके ग्रन्थ या तो नष्ट हो गये या अद्यावधि अज्ञात हैं। अनुसन्धित्सुओं को इस ओर काम करना चाहिए।

३९. अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० १२७।

स्वयंभू ने राम और कृष्ण कथा को प्रस्तुत करने में अपना दृष्टिकोण उदार और तटस्थ रखा है। उन्होंने इन दोनों के मानवीय पक्ष को अधिक प्रत्यक्ष किया है। जैन मत को मानते हुए भी उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का पालन किया। पुष्पदन्त ने हर जगह जिन-शासन की प्रधानता दिखाई है। बाद के अपभ्रंश-कवियों ने तो ब्राह्मण धर्म के पुराणों की बनाई लीक पर चलकर यत्र-तत्र कृष्ण-कथा को जैन धर्म की मान्यतानुसार प्रस्तुत किया है। डा० नामवरसिंह के विचार से "कुल मिलाकर अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा रचित राम काव्य और कृष्ण काव्य एकदम ऐहिक ढंग का चरित काव्य ही है जिसमें कहीं-कहीं धार्मिकता का रंग प्रायः नहीं है और भक्ति-भावना का तो उसमें सर्वथा अभाव है। हिन्दी के भक्त कवियों के राम काव्य और कृष्ण काव्य से उसकी कोई तुलना नहीं है।"[40]

४०. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, १९६१, पृ० २०२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स० पशुपतिराव
हिन्दी विभाग
आंध्र विश्वविद्यालय
वाल्तेयर (आंध्र प्रदेश)

तेलुगु लोक गीतों में नारी भावना

आंध्र प्रांत में लोक-साहित्य के लिए एक विशिष्ट स्थान है। उसमें भी स्त्री गीतों के लिए एक प्रमुख स्थान है। मानव-जाति के जीवन विकास का प्रतिबिम्व करने वाला साहित्य स्त्री गीतों में उपलब्ध होता है। इस तरह तेलुगु लोक-साहित्य में स्त्री-गीत अपार हैं।

लोक-गीतों में अनुष्ठानिक और निरनुष्ठानिक नाम के दो प्रकार के गीत प्रमुख हैं। इस तरह लोक-साहित्य में लोक-गीतों का प्रमुख स्थान है। इन्हीं गीतों को दो रूपों में जाना जाता है। अनुष्ठानिक गीतों को अवसर गीत कहते हैं। कुछ गीत विशेष अवसर पर विशेष व्यक्तियों द्वारा गाये जाते हैं इन्हें अवसर गीत कहते हैं और वैसे कुछ गीत हर समय गाये जाते हैं। इन्हें 'तीरिक वेक पाडु पाटलु' साधारण अवसर पर गाये जाने वाले गीत अनवरूर गीत कहते हैं।' ये गीत मुख्यत: स्त्रियों के लिए निर्धारित हैं।' ऐसे ही लोक-जीवन में स्त्री पूर्ण रूप से समा गई है। धन-संपत्ति, संतान-प्राप्ति, दीर्घायु तथा शत्रुओं पर विजय आदि लोक-जीवन की आवश्यकताएँ हैं। इनकी प्राप्ति के लिए देवी-देवताओं का प्रसन्न होना परमावश्यक है। इन अनुष्ठानिक गीतों में स्त्रियों के लिए शास्त्रानुमोदित व्रत-विधान की आवश्यकता नहीं है। आंध्र प्रांत में स्त्रियों के लिए 'नोमु' का विधान किया गया है। 'नियम' का तद्भव रूप ही नोमु है। 'नोमु' के साथ व्रत कथा, व्रत—माहात्म्य आदि विशेष अंग जोड़ दिये गये हैं।

तेलुगु कविता 'आशु, मधुर, चित्र एवं विस्तार' नामक चार भागों में विभाजित हैं। इनमें से 'मधुर' कविता के अन्तर्गत 'पद' एवं गेय रूप आते हैं। "देशी कविता को तेलुगु में "मधुर कविता' कहते हैं। गंधर्व गान मार्गी और यक्ष-गान देशी शैली का है। यक्ष-गानों में देशी लोक गीतों की अनमोल विभूति है। मंगल की आरतियाँ, कंदार्थ, तत्व कीर्तन आदि आध्यात्मिक-गीत हैं जो परमात्मा के लिए समर्पित किये गये हैं। शिव-कीर्तन, तत्व कीर्तन, हरि-भजन, पुराण काल-क्षेप के लिए घर पर बैठकर स्त्रियाँ गाया करती हैं। बचपन से ही मानो कन्या बनकर भी और आगे अपने जीवन पर्यन्त अटल तदिय, डंडाल तदिय, गोब्बिपंडुग, चिक्कुल्ल गौरी व्रतमु, चिट्टि बोट्टु, बतकम्मा, बोड्डेम्मा, मूगनोमु आदि विशेष रूप से स्त्रियाँ उन व्रतों को मनाती हैं तथा उन आनुष्ठानिक व्रत सम्बन्धी गीतों का गायन करती हैं।

नारी गृह की श्री देवी है। वह गृह की आशा ज्योति है। वही घर का उजियाला या दीपक माना जाता है। वही पति की जीवन-ज्योति भी मानी जाती है। घर ही उसका सर्वस्व है। वही स्त्री जीवन का आधार है। वह गृह में रहती है। वह बच्चों की देख-भाल तथा पालन पोषण किया करती है। पति की सेवा करती है, भाई-बन्धुओं का आदर सत्कार करती है तथा अतिथियों की सेवाशुश्रुषा में तल्लीन रहती है (अवकाश के समय माँ के रूप में बच्चों के लिए लोरियाँ गाती हैं, यौवन की गुदगुदी में प्रेम गीत गुनगुनाती है, आराम के समय में महापुरुषों का लीला संकीर्तन और पतिव्रता स्त्रियों के महात्म्य का गान करती है। वह चक्की पीसते और अनाज कूटते हुए अतीत स्मृतियों की रेखाओं की तीखी मुस्कराहट में कठिन समस्याओं को भी सुलझाती है।

भारतीय जीवन में पौराणिक गीत हिल-मिल गये हैं। ये गीत नित्य जीवन में पनपते हैं। इन गाथाओं के आधार पर भारतीय जीवन अमृतमय बन गया है। नित्य जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में राम, श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं के गान से जीवन सरस बनता है। इस प्रकार स्त्रियों के गीतों में केवल विनोद की छटा ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक जीवन का पुट भी मिलता है। इन गीतों में राम, कृष्ण, गोपाल, सीता यशोदा मनुष्यों के नाते चिरंतन सम्बन्ध बाँधते हैं। राम और सीता को अपने माता-पिता और अपने घर के वधू-वर के रूप में मानती हैं। उनसे प्रेरणा ग्रहण कर लेती हैं। इससे स्त्रियों को यही आशा पैदा होती है कि मानव भी अपनी शक्ति से देवता बन सकते हैं। भारतीय नारी अपने पति को ही सर्वस्व समझती है। सीता के लिए राम ऐसा ही है। सीता राम के साथ रहकर जंगल में भी मंगल मनाती है। इन्हीं दिव्य पात्रों का अनुसरण स्त्रियाँ करती हैं। इन गीतों की नारी में सावित्री, अनसूया व सुमति की दीक्षा है। सीता की अग्नि परीक्षा है और उर्मिला का त्याग है।

कन्या के रूप में नारी—भारतीय जीवन में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक-संस्कृति और लोक जीवन में नारी कन्या, वधू और माता इन तीन रूपों में परलक्षित होती है। कन्या की सुन्दरता, वधू की सरलता और माता की पवित्रता से ही नारी की इकाई परिपूर्ण होती है। अंतः तेलुगु वाले कन्या में अप्सरा या रंभा की जैसी सुन्दरता का आरोप लगाते हैं। और सीता माई की जैसी सरलता तथा पवित्रता का भाव दर्शाते हैं। इसलिए कवीन्द्र रवीन्द्र ने ऊर्वशी का वर्णन करते हुए कहा है—'नट्टभाता, नट्टकन्या, नट्टवधू। हे सुन्दर रूपिणी ऊर्वशी! नन्दन वासिनी ऊर्वशी! हे सुन्दर रूपणी ऊर्वशी!" तुम कन्या न हो, वधू न हो, माता न हो। इन तीनों का समाहार रूप ही नारी है।

(१) **कन्या के रूप में**—माँ अपनी बच्ची की सुन्दरता और रंग का वर्णन करती हुई कहती है—

"चिक्कुडू पुव्वेरुपु चिलक मुक्केरुपु,
चिगुरेरुपु चिंतल्ल दोरपंडेरुपु,
रक्केस पंडेरुपु रागि चेंबेरुपु,
ता एरुपु अम्यायि तनवारिलोन।"

अर्थात्—कली फूल के समान और तोते के नाक के समान उसकी बच्ची लाल है। इमली के पल्लव के बराबर और अधपका फल के सदृश्य लाल-लाल है। रक्केस फल के समान तथा पीतल, लोहे के सदृश्य लाल हैं। वैसे अपनी मुन्नी अपने सभी बन्धु जनों में भी अत्यन्त लाल रंग की है।

माँ अपनी बच्ची के लिए हमेशा साड़ियां और आभूषण पहनाने को लालायित हो जाती है। उसे वह इन शब्दों में व्यक्त करती है—

"चिन्न ना अम्मन्न चीर केडिस्ते,
नेय्य वोयि सालिवाडनेत्रंपु पट्टु,
वेय्य वोपि कंसालि वेंडि जलतारु।"

मेरी छोटी मुन्नी साड़ी के लिए रोती है, इससे जुलाहे! तुम नेत्रों को तृप्त करने वाली साड़ी बुनो। हे सुनार! तुम चाँदी की पट्टी लगाओ।

इस प्रकार अपनी बच्ची के आनन्द के लिए हर एक के लिए काम सौपती है। उस प्रकार बुनी हुई साड़ी अपनी मुन्नी को सौ वर्ष पहनने को कामना करती है।

इस तरह माँ को कंगनों को पहनाने का एक कौतूहल है। इससे वह अपनों मुन्नी के हाथों की प्रशंसा करती है, कहती है कि—

"पट्टणम नुंचि वच्चायि पच्च गाजुल्लु,
पच्यन्न या चिन्नि अम्मि चेतुल्लु।
ऊस तिरिगि वच्चायि उत्तगजुल्लु।
गुत्तान माचिन्नि अम्मि चेतुलु।
शहर से पीले कंगन आये हैं।
मेरी नन्हीं मुन्नी के हाथ पीले हैं।
गाँव घूमकर
मेरी छोटी बच्ची के हाथ कोमल हैं।

माताएँ पुत्रियों का लालन-पालन बड़े प्यार से करती है। माँ मधुर स्वप्नों में विचरती है और कंगन वाले का स्वागत करती है—

चिन्नारि पोन्नारि गाजुलशेट्टी,
तेरे मा अम्मायिकि तेने गाजुल्लु।
येरि येरि तोडिगिस्तु एई गाजुलु,
निलुचूनि तोडिगिस्तु नीली गाजुल्लु।
पाडुचु तोडिगिस्तु पच्च गाजुल्लु,
[illegible] [illegible]स्तु नल गाजुल्लु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कूर्चोनि तोडिगिस्तु गुड्ल गाजुल्लु,
"लाओ मेरी बच्ची को अच्छे-अच्छे कंगन,
चुन-चुन कर चढ़ा दूं लाल-लाल कंगन।
खड़े-खड़े चढ़ा दूं नीले-नीले कंगन,
गाते-गाते चढ़ा दूं पीले-पीले कंगन।
हँसते-हँसते चढ़ा दूं काले-काले कंगन,
बैठते-बैठते चढ़ा दूं मोटे-मोटे कंगन।

उक्त प्रसंग के सिलसिले में एक और बात कहनी होगी कि भाषा की तरह भाव भी कोमल और कल्पनामय हैं। कंगन मंगल के प्रतीक हैं। इसलिए पहले माँ बेटी से कहा करतीं है—बेटी ! कंगन सेठ को नमस्कार करो। बच्ची चटाई लाकर बिछाती है और सेठ को नमस्कार करती है। कंगन पहनने के बाद फिर माँ और मुन्नी दोनों नमस्कार करती हैं।

माता अपनी मुन्नी की सुन्दरता में अपने को प्रतिबिंबित देख मुग्ध बनती है और मुन्नी की प्रशंसा करती है—

"अम्मणि कन्नु तम्मिपूबुल
तम्मि पूवुलु लोनि कम्मतेनेलु
चिन्नारिकल्ललो कन्नीत जल्लु
कन्नीरु चूपके करगुमेडढल्लु।"

"बच्ची के नेत्र पद्म के फूल हैं, पद्म के पुष्पों में मधुर-मधु है। मुन्नी के नयनों में आँसू की झड़, आँसू मत दिखाओ पिघल जाय हृदय भी।

निम्नलिखित पंक्तियों में कन्या के नेत्र और रूप वर्णन तथा प्रसन्नता को दर्शाया जाता है—

"किल-किल नव्विते कलुबल्लु पूसे,
कलुव पूवुलेमे कलिकि चुपुल्लु।
विच्यमंदेनंत वेयारुलिझि,
मोच्यगल वेमोयेप्पु मुद्रदु नान्नै।"
"किलकिल हँसती तो कमल ही विकसे।
कमल के फूल हो सुन्दरी की वीणाएँ।
नाता जुड़ जाय, हजार परछे दे दो।
वहन कर सकती हो कह बच्ची मेरी बेटी।"

इस तरह एक ओर कमल की तरह किलकिल हँसने वाली कन्या का जीवन आगे चल कर उदासीनता में और शोक-सागर में डुबकियाँ लेता रहता है। क्योंकि दहेज प्रथा की भीषण जंजीरों की जकड़न से उबारने का एक भी उपाय आज तक नहीं सूझ रहा है। इसलिए वह कन्या अपने माता-पिता के लिए बोझ-सी बन गयी। अतः कन्या का जन्म अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता है।

(२) **वधू के रूप में**—कन्या ही युवती बनती है। उसकी शादी की जाती है। बाद को वह परायी बन ससुराल जाती है। वधू उस घर की बहू और पत्नी बन कर जाती है। इस तरह वह भावी जीवन के सुखों का मधुर स्वप्न देखती है। उस परिवार का सारा बोझ उसे उठाना पड़ता है। अतः यह कहा जाता है कि कुटुम्ब का सौभाग्य बहू पर ही निर्भर करता है—

"इल्लु मुद्दु इल्लालु मुद्दु,
मुद्दु पाप मुल्लोकमुनमुद्दु।"
"घर मनोहर है, गृहणी मनोहर है।
मुन्नू बच्चा त्रिलोक में मनमोहक है।
सास बहू को बहुत सताती है।

वह हमेशा यह सोचती है कि मैं इस पीड़ा से कब छुटकारा पाऊँ ? अगर कोई सास सीधी-सादी है तो बहू उसे खूब तंग कर सकती है। इस प्रकार सास और बहू के बीच में बाघ और बकरी का सा सम्बन्ध बना रहता है।

सास हमेशा अपनी बहू से कुछ-न-कुछ पूछताछ करती रहती है। वैसे वह बहू से पूछती है—

"कोडला कोडला कोडुकु पेक्कामा
पच्चि पाला मीद मीगडक्कु येमि ?
वेडि पाला मीद वेन्नलु येमि ?
नूने मुंतल मीद नुरगल्लु येमि ?"

"री ! बेटे की पत्नी कच्चे दूध पर की मलाई कहाँ है ? गरम दूध पर की मक्खन कहाँ है ?

ऐसे सास के कटु वचनों से ऊब कर समय पाकर आस-पास की पड़ोसनों से कहती है—

अत्तगारि आरक्लु चित्तगिचारा।
पेत्तनम लागेस्ते पेचीलु पोनु
आरक्ल अत्तयिन ! सवति पोरयिने
तिल्लिल्लु दूरमन धरियिंचलेमु॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सास की कटूक्तियाँ देखी हैं । अधिकार छीन लेने से ठीक हो जायेगा । अपमान करने वाली सास होने पर, सौतीली का झगड़ा होने पर और मायकी का दूर रहने पर भी शरीर धारण नहीं कर सकती ।

सास व बहू का और एक चमत्कारपूर्ण संवाद सुनिये ।

"कोडला कोडला कोडुकु पेक्कामा ?
कोड्कु ऊक्कोलेड्डु मल्ले लेक्कडिमि ?"

अरे ! बहु मेरा बेटा गांव में नहीं है । मखमल कहाँ से आये हैं ?

इसका उत्तर बहू देती है—

"गंपंत मब्बेसिंदि गालि विसिरिंदि ।
कोल्ललुगु मल्लेलु कोप्पुलो राले ।"

टोकरी भर मेघ छा गये हैं । हवा बही है । सैंकड़ों मखमल जूड़े में से गिर पड़े ।

बहू सास और ससुर का परिहास करती दिखाई देती है यहाँ—

"मा अत्तमाम अरेगुतुंटे
चुह पीकेलु रेंडु ! चूडोच्चिनायि
महगिडसलु रेंडु माट्लाडिनायि
कंदिरीगलु वच्चि ! कत नडिपिनायि
वोदुरु कप्पलु वच्चि ! भागातमाडु ।
"हमारे सास-ससुर जुलूस में निकले,
तो चुरुट के दो टुकड़े देखने आये,
दो महगिडस बोलने लगे ।
बरै दो आकर कक्षा चलाने लगे ।
मेंढ़क आकर नाचने लगे ।।"

वैसे सास और बहू के इस प्रकार के व्यवहार से यह सूक्ति लोक में प्रचलित है—

"अत्तलेनी कोडलुत्तमुरालु,
कोडलू लेनत्त गुणवंतुरालु ।"
"सास रहित बहू उत्तमा है,
बहू रहित सास गुणवती है ।"

यह सूक्ति लोक-व्यवहार में सत्य-सी सिद्ध हुई है । ननद की आशा है—

"चिलकल्लु चिलकल्लु अंहारे कानि
चिलुकलकु रूपेमि ? पलुकुले गानि
हँसल्लु हँसल्लु अंहारे कानि
हंसलकु रूपेमि ? आतले कानि
पावुराल्लु पावुराल्लु अंहारे कानि
पावुराल्लकु रूपेमि ? कूतले कानि
कोमल्लु कोयल्लु अंहारे कानि
कोयलकु रूपेभि पातले कानि ।
चिलुकलु मांपिति चिन्निकोडल्लु
हंसल्लु मांयिति आडपड्डुचुलु
पावुराल्लु मांयिति बाल पापल्लु
कोयल्लु मांपिटि कोत्त कोडल्लु ।"

"तोते-तोते कहते हैं पर, तोतों का रूप क्या ? बोली ही है ।

हंस की हँस कहते हैं पर कबूतरों का रूप क्या ? कूक ही है ।

कोयल—कोयल कहते हैं पर कोयलों का रूप क्या ? गान ही है ।

"तोते हमारे घर की ननदें हैं ।

कबूतर हमारे घर के मुन्नू-चुन्नू है । कोयलें ही हमारे घर की नयी बहुएँ हैं ।

वैसे बहू की सुन्दरता पर सास खुश होती है ।

हमारे यहाँ पति-पत्नी का गठबंधन को पवित्र माना जाता है । लोक साहित्य में पति के प्रति पत्नी तथा पत्नी के प्रति पति के प्रेम पूर्ण व्यवहार के द्योतक कुछ संवाद मिलते हैं । वे यों हैं—

"कूडेंते वंडेवु । कुन्दन पुचिलुका
कूटि मीद चारल्लु येंदुकुन्नायि ।"
"अन्न तो पकाया कुंदन शुक !
अन्न पर रेखाएँ क्यों हैं ?"
मारु देशम नुंडि मावारु वस्ते
मावारु संढडिनि पमचितिनोय राजा ।
वड्लु पंडिचेरु । वल्लभुलु मीरु ।
वड्लक्लु केकीलु यदुकुन्नायि ?
"परदेश से मेरे प्रिय, आये,
उसी गड़बड़ में मैं भूल गयी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धान पके वल्लभ हैं तुम।
धान में खखरी क्यों हैं ?"
चेनुलो नीरेहि सानित केकिते
सानि जालमाये नीरिकिपोयि
नीरिकि पोयेना नीहि पोल्लाये
गोलकोंड पयिनंवु किरुकुचेप्पुल्लु
चूडवे नादेवि काल्क पोवकुल्लु
"खेत सींच कर रंडी के घर गया
रंडी के वश में हुआ पानी सुख गया।
रंडी के जाल में फंस पानी सूख गया।
पानी सूख गया पानी व्यर्थ हुआ
गोलकोंडा प्रमाण, हे थरभर जूते हैं
देखो मेरी देवी पैरों में छाले हैं।"
"नाचेति रोकल्लु ! नल्ल रोकल्लु
नेनु दंचु धान्यालु। तीगे मेरुपुल्लु
मा तम्मुलैतेनी मंचि पंटलु
पंडिचिवेसेरु ! परुपु गादेल्ल।"

"मेरे हाथ में मूसल हैं काले मूसल हैं देखो मेरे राजा हाथ में छाले हैं।

मैं कूट रही हूँ धान-तीगे मेरुपु हैं
मेरे पीछे हैं भाई राम-लक्ष्मण
मेरे भाई दो तो अच्छी फसल
पका कर कोठी भर देते हैं।"

इसमें सूक्ष्म रूप से विनोदपूर्ण व्यंग्य भरा पड़ा है। स्त्री अपने पति के सामने चमत्कार दिखाती है—वैसे—

"वोक्कण्णि नोक्किपहिवोक्कण्णि चुहवेहि
वोक्कडि कोसमु येदुरु चूस्पून्नावोय राजा।

"एक को दबा कर, एक को घुमा कर, एक की प्रतीक्षा करती हूँ हे राजा !"

"एवडिनी नोक्किपहि, एवडिनि चुहवेहि
एवडि कोसमु येदुरु चूस्तून्नावोय भामा।"
"किसको दबा कर, किसको घुमाकर,
किसके लिए प्रतीक्षा करती हो हे सखी !"
"वक्कैन नोक्कि पहि। आकैन चुहवेहि
सुन्नमु कोसमु येदुरु । चूस्तून्नानोय राज।"

"सुपारी को दबा कर, पान को घुमा कर
चूने के लिए प्रतीक्षा कर रही हूँ ओ मेरे राजा।"

इस प्रकार स्त्री को बहुत कुछ होने पर भी मायके जाने के लिए अधिक लालायित होती रहती है। वैसे उसके प्रयाण में कोई विघ्न आ जाय तो कहती है कि—

"एन्नेनि जन्मालु एत्तिना कानि
ई आडजन्मभू इकनेत्तरादु
आडजन्मा एत्ति अडलुता कंटे
अडविलो वृक्षमै अतुलुंहे मेलु।"

"कितने भी जन्म लेने पर भी, यह स्त्री जन्म और न लेना। स्त्री जन्म धारण कर भय कंपित होने से जंगल में पेड़ बन कर रहना ही भला हैं।"

इस तरह सुख-दुख के चक्र में नारी का जीवन कभी सुखप्रद और विषादमय भी बनता है। वैसे वह घर की नारी है। सर्वसमर्थनीय सत्ता है। घर की ज्योति है। बहू के रूप में उसका पारिवारिक जीवन बड़ा उज्ज्वल और आनन्द का प्रतीक बनता है।

(३) "**मातृ देवी के रूप में**—वह वधू ही पत्नी बनती है। पत्नी बन कर ही माता बनने के लिए नारी लालायित होती है। और जीवन भर संतान के लिए तड़पती है। अपने मातृ-हृदय को निचोड़ कर दिखाती है। अपनी संतान के प्रति माँ के रूप में असीम ममता उंडेल देती है। उसी में अपने जीवन की सार्थकता मानती है। इसके लिए कई तीर्थ व व्रत किये जाते हैं।

लोक दृष्टि में प्रथमतः पुत्र का जन्म होना उत्तम माना जाता है। वैसे स्त्री की सुन्दर कामना और मधुर कल्पना का एक झांकी यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

"तिटेनु दानिम्म
पंडे तिनालि।
कंटेनु तोलिचूलु
कोडुकुनु गनाली।।"

अगर खाना चाहे तो अनार का फल खाओ, वैसे जन्म देना चाहे तो प्रथमतः पुत्र को जन्म देना चाहिए। समाज में संतान हीन स्त्री को आदर नहीं प्राप्त होता। इसलिए कहा जाता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"किनारा क्या ? नौका क्या ? धन दौलत क्या ?
बिना संतान माँ का सौंदर्य क्या ?

पुत्र हो तो सब लोग स्त्री का आदर-सत्कार करते हैं, पुत्री हो तो सब लोग माँ की बुराई करने लगते हैं पुत्र तो कुल का दीपक होता है। पुत्री तो पराया धन है—

"श्रीराम जैसे कपोल और भौंहे।
आज सवेरे भाग्यवान जा जन्म हुआ।।
पुत्र हुआ वंश चलेगा,
धन संपत्ति कमायेगा।
पुत्री का जन्म हुआ,
पराया धन है।

इसलिए—

"लड़की की माँ कुएँ पर जाती है,
मुँह फेरे पड़ोसिनें काना-फूसी करने लग जाती है।"
लड़के की माँ पनघट पर जाती है,
खिल उठते हैं अशोक के फूल, मौलसरीं के फूल।"

तथा कण्व मुनि ने भी शकुन्तला को पराया धन-दौलत अथवा धरोहर के सदृश्य बताया था।

बाँझ स्त्री की दशा का वर्णन विभिन्न उपमानों के द्वारा किया जाता है—

"कोत्तचिंत पंडु, गोनेल्लचीकु
गोड्रालि वस्त्रालु, पेहेल्लचीकु
पातचिंतपंडु बस्ताल चिबुकु
बालेंत वस्रालु पसुपुल्ल चिवुकु
कोड्कुल कननिवाल्ल कड्पेमि कड्पु ?
कुलमुद्दरिंचनि। कोड्केमिकोड्कु ?
पिडिकेड़ु वित्तनालु मडिकेल्लजालु
वक्कडे कोड्कैना वंशानचालु।"
नई इमली गोनियें में पुलपुलाती है,
बाँझ के कपड़े संदूकों में पुलपुलाती है।
पुरानी हमली बोरियों में पुलपुलाती है,
सच्चे के कपड़े हल्दी से पुलपुलाती है।
पुत्रविहीन माता का गर्भ ही क्या ?
कुल उद्धार न करने वाला पुत्र ही क्या ?
मुट्ठी भर बीज क्यारी भर के लिए काफी है।
एक पुत्र वंश के लिए काफी है।

इस तरह एक ओर से बाँझ की अवहेलना दिखाई देती है।

हमारे प्राचीन इतिहास से यह परिलक्षित होता है कि अयोध्या के राजा दशरथ और तारशिला पट्टण के राजा देवराम वीर और उनकी धर्म पत्नी देवशिरोमणि आदि ने पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक व्रत, तीर्थ और पुण्य कार्य किए।

वैसे इधर लोक में संतान प्राप्ति के लिए इस प्रकार के 'नोमु' या व्रत विधान किए जाते हैं। इस प्रकार करने की परम्परा स्त्रियों में चलती है जैसे—

सिंहाद्रि अपना गुक्लमुंदार
पट्टारु गोड्राक्कु प्राणाचप्रालु
येंदुकु पट्टारु ? मेल पट्टारु ?
कोड्कुल्ल यिय्यमनि। कोरि पहारु
संतुलिय्यमनि। चाल पहारु
बिड्डल निय्यमनि पहु पहारु
सिंहाद्रि अप्पन्नकु लंचालु येमि ?
गुडितिरुगु वस्त्रालु। गुम्मडिपल्लु
दागल्लवडपप्पुलु। दंडु वेल्लालु
बिड्डलु लेरते। गोड्राल नीकु
आडितिवि अंतरेजु गंगस्नानालु
आडिन लेदम्मा, अन्नकारुलकु
पाडिनलेंदम्मा, पाप कारुलकु
बिड्डलु लेरहे। गोड्रालनीकु
ईखसडु गुल्लकु यिटुकलु मासेवु,
रामय्या गुक्लकु रालु मोसेवु
राविय्य चेड्रुकु। प्रदक्षिणालु चेसेवु।"
"सिंहाद्रि अप्पन्ना मंदिर के आगे
करती हैं वंध्याएँ प्राणाचार
क्यों करती हैं ? कैसे करती हैं ?
पुत्र प्राप्ति के लिए करती हैं ?
संतान के लिए करती हैं।
बाल-बच्चों के लिए करती हैं।
सिंहाद्रि अप्पना के लिए बख्शी क्या ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंदिर लपटे कपड़े, कुम्हाड़
धुली हुई दाल, अच्छा गुड़
कोई संतान नहीं है वंध्या तेरी
क्या अंतर्वेदी गंगा स्नान नहा चुकी है।
गाने पर भी नहीं है पापियों के लिए
संतान कोई नहीं है वंध्या तेरी
ईश्वर के मंदिर में ईंट ढोई
राम मंदिर में पत्थर ढोया।
पीपल की प्रदक्षिणा भी की।

अगर यों ही पुत्र का जन्म माँ के लिए होता है तो वह माता इस प्रकार आनन्द में विभोर होकर गुनगुनाती गाती है—

"गुम्मडि पूसिदि, वंगवालिदि
अतिराच गाराल। पंडु पंडिदि
गुम्मडि मा यिल्लु। वंग मा वंशम्।"
अतिराच गाराल। पंडु अब्बायि।"

"कुम्हड फूला, बैंगन झुका
कोमल सुंदरी का फल पक गया,
कुम्हाड हमारा घर, बैंगन हमारा वंश।
कोमल सुंदरी के लिए फल पुत्र है।

वही माँ अपने पुत्र की सुन्दरता और महिमा की प्रशंसा करती हुई फूले न समाती है। देखिए :—

"वीधि नेंदरुन्न विसरदेगालि,
रच्चमेंदरुवुन्न। रादम्मवान,
ना चिन्नि अब्बायि वीधि निलुचुंते
मोगिलि पुव्वुल गालि, मुत्यालवान॥"

"वीथि में कितने ही हो हवा नहीं चलती।
सभा में कितने हो पानी नहीं बरसता,
मेरा छोटा मुन्ना वीथि में खड़े हो,
गेंदे की हवा, मोतियों की वर्षा॥

वास्तव में माँ का हृदय अपने बच्चे के लिए हमेशा चिंतित रहता है तथा उसका श्रेय व मंगल चाहता है। जिस प्रकार कुम्हार के आँवें की आग रह-रहकर धधक उठती है उसी प्रकार माँ की ममता होती है। प्रत्येक माँ अपने लड़के को कृष्ण और राम समझती है।

माँ अपने लाल को पुचकारती है, खिलाती है, और चन्द्रमा को दिखाकर गाती है—

"चन्दमाम रावे जाबिल्लि रावे!
कोंडेक्कि रावे, कोटिवेलुतेवे!
बंडिक्कि रावे, बंतिपूलुतेवे!
तेरुमीद रावे, तेने पहुतेवे!
पल्लकी लो रावे, पालु पेरुगुतेवे!
परुगेत्ति रावे, पनसपंडुतेवे!
ना मात विनवे, नहित बेहवे!
अन्नीनि तेवे, अब्बाथि किय्यवे।"

"चंदमामा आ रे, शशांक आ रे।
पर्वत पर चढ़ आ रे, करोड़ हज़ार ला रे।
गाडी पर चड़ आ रे। गेंदे के फूल ला रे।
रथ पर आ रे, शहद का छत्ता लाओ।
पालकी में आ रे, दूध-दही ला रे।
दौड कर आओ, कटहल फल लाओ।
मेरी बात सुनो, बीच घर में रख दो।
सब कुछ ला मुन्ना को दे दो।"

माँ अपनी बच्ची के लिए हवा से इस प्रकार मनौती करती है—

"चल्लनी गालिमा, चंटिपापायि,
वोल्लार्चि भ्रमतीर्चि वोयि स्वंत लाली।"

"ठंडी हवा है, मेरी मुन्नी।
थकावट मिटा दो थोडा।"

आंध्र की माता की उत्कट अभिलाषा रहती है कि उसका शिशु महान बने। शिशु के मंगल के लिए वह देवी-देवताओं से प्रार्थना करती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भला हो, भला, शिशु को सुख मिले ।
शिशु की रक्षा करो, देवी-देवताओं ।
उसको सुख मिले, मेरा लाल रत्नों में खेले ।
शिशु को हरे-हरे केले दो,
उसको दूध और मक्खन दो ।"

झूले के गीत में माँ अपने बच्चे की रक्षा करने को मनौती करती हुई परिलक्षित होती है ।

"सागे पहु उय्याल
निलुपुंचु उय्याल
निद्र पुच्चु उय्याल
अंकत नुन्न उय्याल,
अंग रक्षक उय्याल ।"

"शमबांस झूला
सुंदर मुन्ने का झूला
रुकते झूला
सुलाने का झूला
आँगन में झूला
अंग रक्षा है झूला

इसी तरह सब बच्चों की रक्षा पृथ्वी माता करें ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेशचन्द्र झा 'किंकर'
हिन्दी विभाग, भाषा-साहित्य भवन
गुजरात विश्वविद्यालय,
अहमदाबाद (गुजरात)

हिन्दी उपन्यास-साहित्य को बिहार की देन

आधुनिक युग के भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने का सबसे बड़ा माध्यम उपन्यास है। कथा और नाटकों को सिंहासन से हटाकर उपन्यास आज वहाँ जा बैठा है। यह आधुनिक युग की देन है, इसमें राई-रत्ती भर भी अब सन्देह नहीं रहा।

उत्तर प्रदेश के लाला श्री निवासदास के मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (सन् १८६२ ई०) और बिहार के फणीश्वरनाथ रेणु की 'परती परिकथा' के दो बिन्दुओं के बीच फैली हिन्दी उपन्यास की रेखा आज अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण बन गई है। आज हिन्दी उपन्यास का जो भव्य भवन खड़ा है, उसके निर्माण में अनेक हिन्दी भाषी प्रदेशों में बुद्ध, महावीर, चन्द्रगुप्त, अशोक और जयप्रकाश नारायण की भूमि बिहार-प्रदेश का भी हाथ रहा है; और है, प्रायः लोग यह तथ्य भूल जाते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हिंदी उपन्यास के आरम्भ-काल से ही बिहार हिन्दी-कथा-साहित्य को अपनी औपन्यासिक भेंट अर्पित करता रहा है, जिसका अध्ययन, विवेचन तथा मूल्यांकन आज अपने में बड़ा ही रोचक और महत्त्वपूर्ण बन गया है।

हिन्दी-उपन्यास को बिहार की क्या देन है, इसकी जाँच-पड़ताल के लिए यह आवश्यक है कि बिहारी हिन्दी-उपन्यास के उद्भव और विकास की रेखा हम युग-खण्डों में विभाजित करके खींचें।

आरा निवासी श्री सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०) से लेकर अब तक के बिहारी उपन्यासकारों में हम उन उपन्यासकारों को भी लेने के लिए बाध्य होंगे, जिनका जन्म तो विहारेत्तर प्रान्त में हुआ, लेकिन जिनकी साधना-भूमि प्रायः बिहार प्रान्त में रही है, और उन्हें भी जिनका जन्म तो बिहार में हुआ, लेकिन जिनकी साधना-भूमि प्रायः बिहार प्रान्त के अतिरिक्त दूसरे प्रदेश भी रहे। जैसे—देवकीनन्दन खत्री आदि। बिहारी हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास को मुख्यतः तीन युगों में में विभाजित किया जा सकता है :—

१. प्रथम उत्थान :—'खत्री-गोस्वामी-युग' (१८०० से १६०० ई० तक)
२. द्वितीय उत्थान :—'ब्रजवल्लभ-युग' (१६०० से १६१६ ई० तक)
३. तृतीय उत्थान :—'अत्याधुनिक-युग' (१६१६ से बाद—अब तक)

प्रथम उत्थान : खत्री-गोस्वामी युग : (१८०० से १६०० ई० तक)

बिहारी हिन्दी उपन्यास का प्रथम उत्थान सन् १८०० ई० से १६०० ई० तक माना जा सकता है। यह बिहारी हिन्दी उपन्यास का प्रभात-काल है, जिसमें उसके विकास का धुँधलका और विकास की आशा का सूर्योदय दोनों प्राप्त होते हैं। आरा निवासी सदल मिश्र की गद्य-कथा 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०) में बिहारी हिन्दी उपन्यास का धुंधलका मिलता है। यह ध्यान देने की बात है कि 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना के करीब अस्सी वर्ष बाद उत्तर प्रदेश के लाला श्री निवासदास का हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' प्रकाशित हुआ था, लेकिन बाबू देवकीनन्दन खत्री, जिनका जन्म बिहार में हुआ था, की उपन्यास साधना लाला श्री निवासदास से कुछ समय पूर्व (१८८१) से ही आरम्भ हो गई थी। इस प्रकार सदल मिश्र के धुंधलके से निकलकर अस्सी वर्षों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद हम देवकीनन्दन खत्री के साथ 'बिहारी हिन्दी उपन्यास' का सूर्योदय देखने लगते हैं। 'बिहारी हिन्दी उपन्यास' के इस प्रभात काल में हम चार प्रमुख औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ पाते हैं :—

(अ) धार्मिक-पौराणिक—: सदल मिश्र कृत : 'नासिकेतोपाख्यान'

(आ) तिलस्मी-उपन्यास : देवकीनन्दन खत्री कृत।

(इ) रोमाँस-प्रधान उपन्यास : किशोरीलाल गोस्वामी कृत।

(ई) पारिवारिक उपन्यास, पंडित भुवनेश्वर कृत : 'धराऊँ घटना'।

श्री सदल मिश्र :—आपका जन्म बिहार के आरा जिले में हुआ था। फोर्ट विलियम कालिज में आप काम करते थे। जिस प्रकार उक्त कालिज के अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूलाल ने खड़ी बोली गद्य की पुस्तक तैयार की, उसी प्रकार सदल मिश्र ने भी। आपका 'नासिकेतोपाख्यान' (सन् १८०३ ई०) उस समय की लिखी गद्य-कथा है। आपने व्यावहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया। इसमें ब्रज भाषा के रूप हैं और पूर्वी बोली के शुद्ध प्रयोग तो स्थान-स्थान पर मिलते ही हैं। 'फूलन्ह के बिछोने, चहुदिसि, सुनि सोसन्ह के थम्भ' आदि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं। आपके उपन्यास धार्मिक एवं पौराणिक उपन्यास के अन्तर्गत आते हैं। आपने अपनी कृति के माध्यम से समाज में धर्म का प्रचार और प्रसार खूब किया, जिस धर्म के चलते समाज के व्यक्तियों में सन्निहित बुराइयाँ जाती रहीं। प्रायः सभी लोगों के हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा-भक्ति एवं स्नेह की भावना जगी। लोगों के बीच में जो अज्ञान का पर्दा पड़ा था, उस पर्दे को आपने अपनी कृतियों के द्वारा हटाया, और यही कारण है कि लोगों में जो सद्‌विचार का उद्‌भव हुआ, उसमें आपका ही सक्रिय हाथ रहा।

श्री देवकीनन्दन खत्री :—बिहार के प्रथम मौलिक उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन जी खत्री का जन्म सन् १८६१ ई० में अपनी ननिहाल—मुजफ्फरपुर जिले के मालीनगर के एक समुन्नत परिवार में हुआ था। आपकी बाल्यावस्था उत्तर बिहार और युवावस्था दक्षिण बिहार के टिकारी दरबार में बीती। आपने अट्ठारह वर्ष की अवस्था में गया जाकर अंग्रेजी और फारसी का अध्ययन किया। आपने चौबीस वर्ष की अवस्था तक मुजफ्फरपुर और गया जिलों में रहकर अपना जीवन बिताया तो शेष साहित्यिक-जीवन बनारस और मिर्जापुर जिलों में रहकर। आपका स्थान तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासकारों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

आपकी रचनाएँ हैं :—'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता-संतति', 'सफेद शैतान', 'काजर की कोठरी', 'गुप्त गोदान' 'नरेन्द्र मोहिनी', 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्र वीर' और 'खून भरा कटोरा' आदि। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने आपके विषय में लिखा है, 'हिन्दी के पाठक इन्होंने जितने तैयार किए उतने किसी ने भी नहीं।" आपके उपन्यास नवयुवकों और नवयुवतियों के हृदय का हार बन गए। उनके पाठक उनके साथ तिलस्मी इमारतों में घूमने लगे। 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता संतति' ने केवल हिन्दी के अगणित पाठक तैयार ही नहीं किए, बल्कि लेखकों की एक अच्छी-खासी मण्डली भी तैयार की। सन् १८९१ ई० में श्री देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' नामक उपन्यास प्रकाशित किए। इनके प्रकाशित होते ही हिन्दी उपन्यास साहित्य के युग में एक धूम सी मच गई और इनके समक्ष पूर्ववर्ती सामाजिक उपन्यास फीके पड़ गए। लोगों का कहना है कि 'चन्द्रकान्ता' को पढ़ने के लिए कितने ही उर्दूदाँ व्यक्तियों ने भी हिन्दी सीखी। इस उपन्यास की प्रेरणा श्री देवकीनन्दनजी को 'तिलस्म-होश-रुवा' नामक फारसी ग्रन्थ से मिली थी। हिन्दी उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द के लिए जमीन तैयार करने में आपका बड़ा हाथ रहा है। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की कथावस्तु भी करीब-करीब वैसी ही है जैसी 'रानी केतकी' कहानी की। लेकिन एक अन्तर है। 'रानी केतकी' की कहानी में जहाँ नारी को पाने की अभिलाषा के लिए राजाओं में युद्ध होता है और शोणित की सरिता प्रवाहित होती है, वहाँ 'चन्द्रकान्ता' में ऐयारों की चाल-बाजियों और उनके सम्भव-असम्भव कौशल से ही मामला निपट जाता है। 'चन्द्रकान्ता' में एक ही कुमारी के लिए दो प्रेमियों के बीच—जिनमें एक कुटिल है और दूसरा भला—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष की कहानी वर्णित है। 'चन्द्रकान्ता' हमारे समक्ष हिन्दू ललना का आदर्श प्रस्तुत करती है। जिसे वह एक बार अपने हृदय-मन्दिर में स्थान दे चुकी, उसे फिर कभी वह हटा नहीं सकती।

'कुसुम कुमारी' उपन्यास में बतलाया गया है कि किस प्रकार दो मित्रों के मध्य एक नारी के कारण वैमनस्य होता है। 'वीरेन्द्र वीर' और 'खून भरा कटोरा' भी शिक्षाप्रद, बड़े ही रहस्यमय और मनोरंजक उपन्यास हैं। देवकीनन्दन खत्री के सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने अपने पिता की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए 'रक्त मण्डल और 'सफेद शैतान' जैसे साम्राज्य विरोधी उपन्यास लिखे। बाबू देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी मार्ग पर चलने वालों में बाबू हरेकृष्ण जैन विशेष उल्लेखनीय हैं। खत्री जी ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसे थोड़े पढ़े-लिखे लोग भी समझ सकें। आपके उपन्यास घटना-प्रधान, मनोरंजक और कौतूहल-वर्धक कहे जाते हैं। आपके उपन्यासों का विधान तिलस्मी और राजसुखी उपन्यासों को लेकर किया गया है, जो पिछले समाज के जमींदारों और सामंतों के क्रीड़ा-विलास के परिचायक हैं। देवकीनन्दन जैसे साहसी वीर को हम नहीं भूल सकते—जिन्होंने उपन्यास क्षेत्र में प्रवेश कर हिन्दी पाठकों को जूठी पत्तलों के चाटने से बचाया और उनकी रुचि को उद्दीप्त कर भावी उपन्यासकारों का मार्ग प्रशस्त किया। आपकी कृतियों के द्वारा ही बिहारी हिन्दी उपन्यास साहित्य की कीर्ति-पताका फहर सकी।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी :—आप बाबू देवकीनन्दन खत्री के समसामयिक उपन्यासकार हैं। उपन्यास को साहित्य की कोटि में बैठाने का श्रेय आपको ही प्राप्त है। उपन्यासों का ढेर लगाने वाले मौलिक उपन्यासकार पण्डित श्री किशोरीलाल गोस्वामी का जन्म सन् १८६५ ई० में अपने मातामह गोस्वामी कृष्ण कौन्तेय के यहाँ हुआ था। आपके औपन्यासिक जीवन का आरम्भ बिहार के आरा शहर से हुआ। सेठ कृष्णदास के कृष्ण-मन्दिर में आप कई साल तक पुजारी रहे। आपके प्रमुख उपन्यास निम्नलिखित हैं :—'ताराचपला', 'त्रिवेणी', 'तरुण-तपस्विनी', 'रजिया-बेगम', 'लवंग-लता', 'लीलावती', 'राजकुमारी', 'आदर्श रमणी', 'आदर्श बाला', 'सुख-शर्वरी', 'आदर्श सती', 'चाकूती चाली', 'तिलस्मी', 'शीशमहल', 'मस्तानी', 'हृदय-हारिणी', 'हीरावाई', 'लखनऊ कीं कब्र', 'मलिकादेवी', 'सौतिया-डाह', 'प्रेम-मयी', 'गुलबहार', 'लावण्यमयी', 'प्रणयिनी-परिचय', 'चन्द्रावती', 'जिन्दे की लाश', 'इन्दुमती' और 'कटे मूड़ की दो बातें' आदि। भारतेन्दु के नेतृत्व में युगधर्म की शिक्षा पाकर हमारे साहित्यिकों ने उपन्यास क्षेत्र में सम्पन्नता लाने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध में किशोरी लाल गोस्वामी का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है। इन्होंने 'त्रिवेणी' (१८८८), 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८६), 'हृदय-हारिणी' (१८९०) आदि उपन्यास लिखकर हिन्दी उपन्यास के इस अंग की पुष्टि और राष्ट्र-प्रेम का प्रचार एवं प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का मूलोच्छेदन किया।

उपन्यास लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी का वही स्थान है, जो नाट्यकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का। हिन्दी में स्काट की शैली में उपन्यास लिखने वालों में किशोरीलाल गोस्वामी का सबसे पहला स्थान है। आपकी रचनाएँ साहित्य कोटि में आती हैं। आपके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप-रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी पाया जाता है। साहित्य की दृष्टि से आप प्रथम उपन्यासकार हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा है :—"और लोगों ने भी उपन्यास लिखे, पर वास्तव में वे उपन्यासकार न थे, और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर जा पड़ते थे। पर गोस्वामी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिए चुन लिया और उसी में रम गए।" गोस्वामी जी ने ऐयारी, सामाजिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रयास किया। इन उपन्यासों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी के प्रायः सभी नायक एक समान कामुक और सभी नायिकाएँ एक-सी सुन्दरी हैं। एक बार साक्षात्कार होने से हृदय में प्रेम-पीर उठने लगती है और फिर तड़पते ही दिन बीतते हैं। आपने कुल पैंसठ उपन्यास लिखे हैं। आपके उपन्यासों से कम-से-कम पाठक होशियार, चौकन्ने और जीवट वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो बन ही जाते हैं। संक्षेप में गोस्वामी जी के उपन्यासों की महत्ता इसी में हैं कि वे उस युग की स्मृति हैं, जबकि हिन्दी उपन्यास रहस्य और कौतूहल के एकमात्र क्षेत्र को छोड़ कर समाज की बहुमुखी परिस्थितियों की ओर उन्मुख हो उठे थे। चरित्र-चित्रण की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी और औपन्यासिक अंगों का बीज-वपन किया जाने लगा था, जो आगे चलकर विशाल वट वृक्ष का रूप धारण करता गया है। आपकी औपन्यासिक कृतियों से बिहारी हिन्दी उपन्यास साहित्य की वल्लरी हरी-भरी ही नजर आती है।

पण्डित भुवनेश्वर मिश्र :—आपका जन्म बिहार के दरभंगा जिले में हुआ था। आपका 'धराऊँ घटना' नामक उपन्यास लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित होकर हिन्दी संसार में काफी प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी के मौलिक उपन्यासों में 'धराऊँ घटना' आरम्भिक काल का उपन्यास माना जाता है। यह उपन्यास गृहस्थ जीवन का सजीव चित्र है। इसमें गृहस्थ जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। जिस तरह प्रायः सभी के घरों में आए दिन घटनाएँ हुआ करती हैं, उसी तरह से आपने अपने इस धराऊँ घटना' में घटनाओं का ताँता लगा दिया है—घटनाओं को एक कड़ी के रूप में गूँथ दिया है। आपकी भाषा फड़कती हुई और चित्त लुभानेवाली है। इस प्रथम उत्थान काल में विशेषतया तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों का प्राधान्य रहा। रोमाँस प्रधान उपन्यासों की भी इस काल में विशेष रूप से रचना हुई। इस काल के उपन्यासों में भाषा शैली का पुष्ट रूप नहीं पाया जाता। भाषा शैली के द्वारा तो पाठकों की हृत्तन्त्री झंकृत नहीं हो पाई, किन्तु पाठक के हृदय पर धार्मिक, सामाजिक एवं गार्हस्थ-जीवन का सुन्दर विचार अवश्य ही स्थान ले पाया है। सुतराँ, यह निर्विवाद है कि इस काल में तिलस्मी-ऐयारी एवं रोमाँस-प्रधान उपन्यास की ही प्रधानता रही।

द्वितीय उत्थान का सिंहावलोकन और देन

द्वितीय उत्थान : ब्रजवल्लभ युग (सन् १९०० से १९१९ तक)—बिहारी हिन्दी उपन्यास के द्वितीय उत्थान की अवधि सन् १९०० से सन् १९१९ तक मानी गई है। आरा के बाबू बृजनन्दन सहाय इस युग के अतिख्याति प्राप्त उपन्यासकार थे, अतः इस युग को ब्रजवल्लभ युग कहा जा सकता है।

'पंडित जगदीश झा 'विमल' :—'विमल जी का जन्म बिहार प्रान्त के भागलपुर के कुमेठा नामक स्थान में सन् १८७८ ई० में हुआ था। आप एक लम्बे अरसे से कहानी और उपन्यास लिखते आ रहे हैं। आपके उपन्यास पर्याप्त रीति से लोकप्रिय रहे हैं। आपकी रचनाएँ हैं 'आशा पर पानी', 'केशर', 'मामा', 'मानस-तरंगिनी' और 'द्वार का विनोद' आदि। आपने अपनी कृतियों के द्वारा बिहार-हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की काफी सेवा की। आपकी रचनाओं में ऐसे भाव भरे हुए हैं कि वे पाठक के हृदय पर अपना प्रभाव छोड़ ही जाते हैं। आपके उपन्यासों को पढ़ने के बाद पाठक पुनः उन्हें पढ़ने के लिए लालायित रहते हैं। यही कारण है कि आपकी रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हो गई हैं। आपकी भाषा-शैली बड़ी ही प्रभावोत्पादक एवं मन-मोहक है।

श्री ईश्वरीप्रसाद शर्मा :—आपका जन्म १८८४ ई० में आरा जिले के मिश्रीटोला नामक स्थान में हुआ था। आपका उपन्यास 'मागधी-कुसुम' बड़ा ही सुप्रसिद्ध है। यह उपन्यास बड़ा ही सुन्दर है। इसमें भाव एवं रस भरे हुए हैं। आपकी इस कृति का खूब ही प्रचार व प्रसार बिहारी-हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के पाठकों के बीच हो चुका है। इस उपन्यास के द्वारा आपके गहन अध्ययन का पता लगता है। आप बड़े ही अध्ययनशील व्यक्ति हैं। आपकी कीर्ति सदैव बिहारी-हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में अमर रहेगी।

बाबू ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ :—आपका जन्म भी सन् १८७४ में आरा जिले में हुआ है। आप पहले वकील रहे एवं तदुपरान्त नागरी प्रचारिणी सभा के मंत्री। आप एक प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। आपकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं : 'सौन्दर्योपासक', 'राधा कान्त', श्यामा-स्वप्न', 'लाल चीन' और 'मिश्र दर्शन' आदि। आपके सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है, "श्री ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ' बिहार के यशस्वी उपन्यासकार हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, "काव्य कोटि में आने वाले भाव-प्रधान-उपन्यास, जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो—चरित्र-चित्रण या घटना-वैचित्र्य का लक्ष्य नहीं—हिन्दी भाषा में न देख और बंग भाषा में काफी देख, बाबू ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ' बी०ए० ने जो उपन्यास सन् १९११ ई० में इस ढंग से उपस्थित किया—'सौन्दर्योपासक' एवं 'राधाकान्त'। 'श्यामा-स्वप्न' के अन्तर्गत प्रेम एवं विरह के वर्णन में प्राचीन सदियों का ही अनुसरण है और है युग रुचि के अनुसार ही अद्भुत एवं आश्चर्यजनक तथ्यों का समावेश। परन्तु 'सौन्दर्योपासक' अति सूक्ष्म कथावस्तु को लेकर स्वच्छन्द प्रेमानुभूति एवं विरहाकुलता की अभिव्यक्ति करता है। इस उपन्यास का सौन्दर्योपासक नायक अपनी साली के रूप-यौवन पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगता है, किन्तु दोनों का संयोग-सम्भोग सम्भव तो था नहीं और साली का-जो स्वयं जीजा जी से प्रेम करती थी, विवाह किसी अन्य पुरुष के साथ हो जाता है। ये दोनों प्रेमी अब विरहाकुलता में धीरे-धीरे धुलने लगते हैं। इसके फल-स्वरूप साली एक दिन इस दुखद संसार से सदा के लिए प्रयाण कर जाती है और इधर सौन्दर्योपासक की पत्नी जिसे अपने पति के मनोभाव का पता लग गया था, प्राय: दुखी रहने लगती है। इस दारुण-दुख से ऊबकर एक दिन उसके भी प्राण-पखेरू इस असार संसार से सदा के लिए उड़ जाते हैं। अब अपनी पत्नी और प्रिया की मृत्यु पर रोने के लिए केवल सौन्दर्योपासक बच रहता है। तब उसकी जो दशा होती है, वही जानता है। सचमुच 'समाज की आंखों' से बचकर किसी मृगनयनी से प्यार करना अपने सुनहले जीवन को मिट्टी में मिलाना है। इतनी-सी ही कथा को लेकर इस उपन्यास की रचना हुई। प्रेमी के हृदय में अपने प्रति, प्रिया के प्रति और इस निष्ठुर जगत के प्रति जो भावनाएँ उठती हैं, उनका अत्यधिक भाव-प्रवणता के साथ वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह उपन्यास घटना-चरित्र की उपेक्षा कर केवल भावानुभूति एवं भावोच्छ्वास पर आधारित है। सामाजिक दृष्टि से इसमें स्वच्छन्द प्रेम का प्रतिपादन एवं अनमेल विवाह की ओर संकेत है। आपकी भाषा की आलंकारिकता, लम्बे-वाक्यों की खींच-तान और भावात्मक उद्‌गारों की भूल-भुलैयों में पाठक अपने को भुला देता है। आपके उपन्यासों में भावुकता, सौन्दर्य-प्राधान्य एवं व्यक्तिपरकता के गुणों का अच्छी तरह समन्वय हो पाया है।

श्री जैनेन्द्रकुमार जैन :—आपका जन्म आरा में हुआ था। आप नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्यों में से एक हैं। आपने उस समय उपन्यास लिखे जिस समय हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की संख्या उंगलियों पर गिनी जाने योग्य थी। आपकी कृतियाँ इस प्रकार हैं :—'प्रमिला', 'सुलोचना', 'मनोरमा', 'कमलिनी', 'गुलनार', 'समस्ती', 'चुड़ैल', 'परख', 'शोभा', 'तपोभूमि' त्यागपत्र एवं 'सुनीता' आदि। आपकी भाषा बड़ी ही सुमधुर और सरस है। आपकी सरस भाषा नीरस से नीरस वस्तुओं को भी सरस बना देती है। आप हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में एक नई धारा को लेकर आए। आपने उपन्यास को कोरी कथा कहने के क्षेत्र से निकालकर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के गम्भीर क्षेत्र में रख दिया। उपन्यास की यह रूप-रेखा प्रस्तुत करके आपने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है। इस दिशा में आपका प्रयास पूर्णरूपेण सफल है और है सराहनीय भी। आपकी तकनीक कुछ नई अवश्य जान पड़ेगी, परन्तु आपने इस नवीन बाह्य कलेवर में आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। इनके हृदय की अपरिमेय सहानुभूति ने इनकी तकनीक को पूर्ण सजीव रखा है। कथावस्तु, संवाद, चरित्र-चित्रण आदि के विषय में रूढ़ियों का उल्लंघन करके भी, आपने अपने उपन्यासों में कोई त्रुटि नहीं आने दी है। आपके गुण बहुत हैं और अवगुण बहुत ही कम। आपके विचारों के सम्बन्ध में सम्पादक का कथन है, "जैनेन्द्र की ऐसी सूझ है, जो पहेली से भी अधिक गूढ़ है। वे इतने सरल हैं कि उनकी यह सरलता ही वक्रता लगने लगती है। वे इतने निराभिमान हैं कि वही उनका अभिमान है।" सम्पादक जी आपके बहुत निकट हैं अतएव वे आपकी वास्तविक सरलता, निराभिमानता आदि को समझ सकते हैं, परन्तु यदि भाषा-शैली एवं व्यंजना के अन्य तरीकों को देखकर पाठक यह कह उठे कि जानबूझकर पहेली बुझाने, वक्रता लाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि का प्रयास किया जा रहा है, तो हम उनका मुँह बन्द नहीं कर सकते। जब हम लोगों को यह कहते-सुनते हैं कि जैनेन्द्र में अहंकार (सेल्फ कांशसनेस) है, तो हमें बहुत ही क्षोभ होता है। लोगों का यह अभियोग अधिकांश में उनकी भाषा-शैली के कारण है। आपकी भाषा में अंग्रेजीपन अधिक है। आपके उपन्यासों में इस प्रकार का जादू भरा हुआ है कि एक बार उठा लेने के बाद समाप्त करके ही पाठक दम लेता है। आपकी प्रतिभा प्रोद्भासित सी दीख पड़ती है। आपकी भाषा ही हम सभी पाठकों को आपके गम्भीर तथा विशद अध्ययन का परिचय देती है। आपकी इस उपन्यास कृति से बिहार हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का संकुचित पथ प्रशस्त बन गया है। बिहार-हिन्दी-उपन्यास-साहित्य आपकी कृतियों का चिरकाल तक ऋणी बना रहेगा।

श्री चन्द्रशेखर पाठक :—आपका जन्म विहार शरीफ में सन् १८७७ ई० में हुआ था। आप पाठक एण्ड कम्पनी, कलकत्ता के स्वामी रह चुके हैं। आपके सुन्दर उपन्यास इस प्रकार हैं :—'रामाबाई', 'वारंगना रहस्य' और 'मायापुरी' आदि। आपने 'वारंगना-रहस्य' में स्त्रियों के रहस्य को बहुत ही अच्छी तरह से प्रस्तुत किया है।

इस द्वितीय उत्थान में उपन्यास औपन्यासिक रोमाँस और तिलस्म से हटकर युग-जीवन की ओर चला आता है। अवश्य ही जीवन-जगत् का चित्रण भावुकतापूर्ण शैली में किया गया है। भावुकतापूर्ण शैली में ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ' का उपन्यास 'सौन्दर्योपासक, हिन्दी-साहित्य में अपना स्थान रखता है, जिसकी महत्ता का उल्लेख श्री रामचन्द्र शुक्ल को भी अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में करना पड़ा था। जैनेन्द्र के उपन्यास अधिकाँश में उभरे जीवन से सम्बन्धित हैं और प्रेम के आधार पर सामाजिक समस्याओं का चित्र उतारते हैं। द्वितीय उत्थान में बिहारी-हिन्दी-उपन्यास विषय की दृष्टि से समाज की ओर अवश्य बढ़े, परन्तु कला की दृष्टि से ये अर्द्धविकसित हैं। इस काल के अन्तर्गत विविधताएं तो आई हैं, किन्तु उतनी पर्याप्त मात्रा में नहीं। तकनीक की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों में कोई विकास नहीं मिलता।

तृतीय उत्थान (१९२० के उपरान्त)

तृतीय उत्थान बिहारी हिन्दी उपन्यासों का आधुनिक युग है, जो १९२० ई० के बाद से प्रारम्भ होता है। यह युग अपनी उपलब्धियों में बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा है। इस युग के कई उपन्यासकार हिन्दी कथा साहित्य में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। इस तृतीय उत्थान को दो खण्डों में विभक्त करके आसानी से समझा जा सकता है :—(१) प्रथम सोपान एवं (२) द्वितीय सोपान।

प्रथम सोपान

तृतीय-उत्थान के प्रथम-सोपान में बिहारी हिन्दी उपन्यास साहित्य के अन्तर्गत तीन नई प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं :—

१. **स्वच्छन्द चेतना-प्रवाह** :—उदाहरणस्वरूप प्रो० उमानाथ मिश्र कृत 'प्यास' नामक उपन्यास को हम ले सकते है। इस उपन्यास ने हिन्दी उपन्यासों को एक नया मोड़ दिया है।

२. **भावुकता प्रधान उपन्यास** :—मिसाल के तौर पर हम श्री अवध नारायण जी कृत 'विमाता' नामक उपन्यास को ले सकते हैं।

३. **आंचलिक उपन्यास** :—उदाहरणस्वरूप श्री शिवपूजन सहाय कृत 'देहाती दुनिया' जिसका आगे चल कर सुदृढ़ विकास रेणु जी के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में हमें दिखाई पड़ता है। आँचलिक उपन्यास के क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त हिन्दी उपन्यास साहित्य में यह पहला ठोस कदम है, इसलिए यह ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

श्री कमलाप्रसाद वर्मा :—आपका जन्म सन् १८७२ ई० में पटना में हुआ था। आपकी रचनाएं इस प्रकार हैं :—'कुलकलंकिनी', 'भयानक भूल' और 'परलोक की बातें' आदि। आप एक अच्छे उपन्यासकार हैं। आपके उपरोक्त उपन्यास काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। 'कुलकलंकिनी' आपकी बड़ी ही सुन्दर रचना है। इसमें आपने एक नारी पात्र को अपने कुल को कलंक की कालिमा से कलंकित करते हुए चित्रित किया है। आपने उस अधम नारी को कुल-कलंकिनी की संज्ञा दी है। सचमुच वैसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नारी अपने कुल की मर्यादा को धूल में मिला ही देती है। अन्त में आपने दुरावस्था भी दिखलाई है। वास्तव में ऐसी कुनारी की यही दुर्दशा होनी चाहिए। जो नारी अपने कुल, धर्म, मर्यादा, चरित्र, शील-संकोच का ख्याल न करके अपनी मदभरी जवानी के पथ पर अबाध गति से अपना अवैध कदम उठाती है वह नारी नारी नहीं अपितु कुल-नाशिनी है, कुल-पिशाचिनी है किंबहुना वह समाज द्रोहिणी और विश्वासघातिनी है। आपकी भाषा-शैली देखते ही बनती है। आप एक सामाजिक उपन्यासकार हैं।

श्री कृपानाथ मिश्र :—आपका जन्म-स्थान भागलपुर है। आप साइन्स कालिज पटना में अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं। 'प्यास', 'देश की बात' और 'बालकों का देश' आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। सन् १६२३ में आपका 'प्यास' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ था जिसमें आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासकारों और अंग्रेजी गद्य की प्रमुख विशेषताएं सफलतापूर्वक सन्निविष्ट की गई हैं। जेम्स ज्वायस और वरजिनिया वुल्फ के युगांतरकारी प्रयोगों का इस उपन्यास में बड़े अधिकार के साथ समावेश किया गया है। यह एक बड़ी ही आकर्षक रचना है, किन्तु हिन्दी उपन्यास साहित्य का दुर्भाग्य है कि आप जैसे उपन्यासकार उदासीन हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि आज से लगभग बावन वर्ष पूर्व श्री कृपानाथ मिश्र ने स्वच्छन्द चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम आफ कान्शसनेस) को 'प्यास' में सन्निहित कर अज्ञेय की 'शेखर: एक जीवनी' के लिए भूमिका तैयार कर दी। आपकी भाषा-शैली बड़ी ही सुललित, परिमार्जित एवं परिष्कृत है।

श्री अवध नारायण :—श्री अवधनारायण जी का जन्म सन् १८७५ ई० में दरभंगा नगर के अन्तर्गत बागमती नदी के पश्चिम तट पर शुभंकपुर नामक स्थान में एक श्रेष्ठ कायस्थ कुल में हुआ था। आप एक बहुत ही कुशल उपन्यासकार हैं, किन्तु खेद हमें इस बात का है कि आपकी प्रसिद्धि अधिक नहीं हो पाई है। क्योंकि आपके शिष्यों ने ढोल बजाकर आपका विज्ञापन नहीं किया। हमें इस बात का दुख है कि आप जैसे करुण रस के उपन्यासकार की कृति 'विमाता' की हिन्दी के दिग्गज इतिहासकारों ने चर्चा तक नहीं की है। आपके जैसा भावुक उपन्यासकार शायद ही समस्त बिहार भर में उपलब्ध होगा, जो आपके करुणा-प्रधान 'विमाता' उपन्यास के जोड़ का उपन्यास प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके। इसमें रघुनन्दन नामक मातृहीन बालक की हृदय-विदारक करुण कहानी अंकित है।

निष्कर्षत:, अब यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के वृक्ष के बीज की अंकुरित व्यवस्था से लेकर उसके पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होने तक बिहार के हिन्दी उपन्यासकारों ने अपना एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को बिहार की यह देन चिरकाल तक हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के इतिहास में जाज्वल्यमान नक्षत्र की तरह प्रज्वलित होती रहेगी और इसके 'आलोक से हिन्दी-उपन्यास-साहित्य सदैव आलोकित होता रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राकेश 'प्रेम'
कवि-बन्धु
१०२६, कटड़ा व कूचा भाई सन्त सिंह,
अमृतसर (पंजाब)

साहित्य—मूल्यांकन के मानदण्ड निर्धारण की समस्या

मानव जीवन निरन्तर परिवर्तन की धुरी पर गतिशील रहता है। परिवर्तित होते हुए जीवन में नवीन मानवीय चेतना का उदय अनिवार्य है। अर्थात् जीवन की गतिशीलता के साथ जीवन के मानदण्ड युगबोध के अनुरूप बनते बिगड़ते रहते हैं। इनके प्रभावान्तर्गत युगीन कला और साहित्य सृजित होता है। उसमें समकालीन परिवेश की अभिव्यक्ति, युगीन चिन्तन तथा जीवन-दर्शन की उत्कट अनुभूति समाविष्ट रहती है। युग की श्रेष्ठ कला-कृतियों के प्रभावान्वित साहित्य-मूल्यांकन के सामान्य मानदंड निर्धारित किए जाते हैं। स्थापित मान-दंडों को दो अवस्थाएँ प्रभावित कर पाती हैं :

(१) परिवर्तित होती हुई जीवन-दृष्टि

(२) उच्च कोटि की नवीन कला-कृति का सृजन

जीवन-दृष्टि के परिवर्तन से कला-सृजन के अनुभूति पक्ष में अनिवार्यत: अन्तर आता है। व्यक्ति के निजी परिवेश के परिवर्तित होने तथा स्थापित मूल्यों के संक्र-मित हो जाने पर ऐसा संभावित रहता है। उच्चकोटि की कलाकृति के सृजन से भी प्राय: मूल्यांकन के मानदंड परिवर्तित हो जाते हैं।

छायावादी युग में जीवन-दृष्टि के परिवर्तन के साथ कविता के क्षेत्र में कोमल-कान्त पदावली के सृजन, सूक्ष्म मनोभावों के उपगूहन तथा लाक्षणिक शब्द योजना से गीतिकाव्य के सृजन से छायावाद युगीन साहित्य-मूल्यांकन के मानदंड द्विवेदीयुगीन मानदंडों से अलग करने पड़े। कवियों के द्वारा प्रयुक्त रीतिकालीन तथा पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित छन्द-योजना एवं कौशल के अनुरूप ही उन्हें जाँचना पड़ा। प्रयोगवादी कविता ने छायावादी भाषा तथा शिल्प को अनुपयुक्त मानते हुए भाषा में ठेठ-पन, भावों में यौन-कुण्ठा, भदेस, दैनन्दिन जीवन के उपेक्षित क्षण, आत्मविगर्हणा, आक्रोश, अहंम्मन्यता तथा व्यंग्य को आत्मसात करते हुए गद्योन्मुखी होकर शिल्प के नये प्रयोगों को प्राथमिकता प्रदान की। स्वभावत: उसे भी प्रचलित मानदण्डों से थोड़ा अलग होकर जाँचने की आवश्यकता अनुभव की गई।

हम इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि समकालीन साहित्य दो प्रकार की दृष्टियों को प्रधानता देता है। पहली दृष्टि के अनुसार साहित्य-सृजन का अभिप्राय जीवन-व्याख्या तथा दूसरी के अनुसार कला-दिग्दर्शन कराना है। 'प्रयोगवाद' की अनुवर्तिनी काव्य धारा 'न केनवाद' परवर्ती विचारधारा की पोषक थी। एक दृष्टि से देखें तो रीतिकालीन काव्य भी कला-कौशल के दिग्दर्शन (आचार्यत्व) के लिए ही सृजित होता था। तत्कालीन जन-जीवन से तो उसका छत्तीस का नाता था। यौन प्रसंगों की उद्भावना तथा शैल्पिक प्रयोगों के प्रभावान्त-र्गत चमत्कारिक माध्यम से अपने कवित्व तथा आचार्यत्व की स्थापना तत्कालीन कवियों का मुख्य उद्देश्य था।

साहित्य को जीवन के संदर्भित माध्यमों से अन्वीक्षित किया जाए अथवा कला के निर्वैयक्तिक मानदंडों से विवेचित ? यह प्रश्न विचारणीय है। कला के वे मान-दंड जो कि जीवन में अस्पष्टता, अनगढ़ता, सन्दर्भहीनता तथा पलायन-वृत्ति को सम्पुष्ट करके रेशमी उपकरणों के सृजन में खो जाएँ, त्याज्य हैं। कला के उपयोगिता-वादी सिद्धान्त की निंदा आपकी और हमारी साँझी स्वीकृति है। कला-सृजन का उद्देश्य मानवीय सौन्दर्य चेतना को परिष्कृत तथा समृद्ध बनाना है। यह सौन्दर्य चेतना व्यक्तिगत तथा सामूहिक जन-जीवन में सृजन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये आयामों की आधारशिला बनती है। अतः आलोचना के मानदण्ड मानवीय सौंदर्य चेतना को परिपुष्ट करने में सक्षम होने चाहिएँ, जो कि जीवन को गति तथा सार्थक अभिव्यक्ति दे पाएँ। मतवाद का आग्रह मानवीय चेतना को निरन्तर परिष्कृत न करके जड़ता से अभिप्रेत करता है। ठहरे हुये जल में जैसे काई जम जाए, दुर्गन्ध आने लगे, यही गति मतवादी तथा मताग्रही साहित्य की होती है। हमारी प्रगतिवादी-काव्य धारा का पतन इसका प्रकट उदाहरण है। पूर्वाग्रहहीन रचनाकार का सृजन लोकहितवादी होता है अर्थात् मानवीय चिन्तन की दशाओं को निरपेक्ष भाव से अभिव्यंजित करता है। कालरिज तथा स्काट जेम्स ने काव्य-सृजन के लिये मानवीय चिन्तन की ठोस अनुभूतियों को प्रमुखता दी है। उनके शब्दों में "कोई भी व्यक्ति उच्चकोटि का दार्शनिक हुए बिना अपने समय का महान् कवि सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि कविता सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान, चिन्तन, सुख-दुखानुभूति तथा भाषा की चेतना (सुगन्धि) तथा सौन्दर्य है।"[१]

अतएव मूल्य-संक्रमण के इस काल में विवेक तथा मानवीय निष्ठा से अलोचना के मानदण्ड स्थापित करना अपेक्षित होगा। अतीत का जो कुछ समकालीन परिवेश में सार्थक है अथवा थोड़े-बहुत परिष्कार से सार्थक हो सकता है, उसके प्रति हीन भाव दर्शाना आधुनिकता का लक्षण नहीं है। विश्व-राजनीति के अखाड़े में दाव-पेंच लड़ाना, नगर की कुण्ठा तथा संत्रास में जीवन व्यतीत करना तथा अधुनातन वैज्ञानिक ज्ञान-वर्द्धन से जीवन परिचालित करना निस्सन्देह आधुनिक है। इसके साथ ही मानवीय संवेदना, जीवन-निष्ठा, पारस्परिक आस्था तथा प्रकृति का उन्मुक्त साहचर्य भी अनाधुनिक नहीं कहे जा सकते। समकालीन परिवेश में जीवन के लिये जो कुछ सार्थक है वह आधुनिक, शेष पुरातन तथा त्याज्य है।

साठोत्तरी कविता के मूल्यांकन के मानदण्ड पारम्परिक मानदण्डों से हटकर प्रतिष्ठित हुये हैं। रस के स्थान पर बौद्धिक रस, काव्य-बिम्ब करके स्थान पर सपाट बयानी, अर्थ गर्भ भाषा के स्थान पर सीधी-नंगी भाषा और भाव प्रवणता के स्थान पर बुद्धि को प्रतिष्ठित किया गया है। साम्प्रतिक आलोचना के नव प्रतिष्ठित मानदण्डों की विवेचना इसलिए भी आवश्यक है कि गुटबन्दी के तुमुल नाद में जीवन की ठोस अनुभूतियों के निकट से बहने वाले विवेक धर्मा कवि तथा आलोचकों को अनाम कुहासे का शिकार होना पड़ता है। गत दो दशकों में जीवन में हुये परिवर्तन इतने बहुमुखी नहीं रहे जितनी प्रतिक्रिया साहित्य में परिलक्षित हो रही है। इस संदर्भ में डा० रामदरशमिश्र का मत औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। डा० मिश्र के शब्दों में "इतने ही वर्षों में क्या इतने विविध परिवर्तन हुए कि तरह-तरह के लोगों ने उनसे तरह-तरह के प्रभाव ग्रहण किये? तब तो यही कहना पड़ेगा कि बदली हुई परिस्थितियों को या तो इस या उस साइनबोर्ड के खेमे ने समझा नहीं या अपने-अपने ढंग से समझा। यह परिवर्तन युग-प्रसूत नहीं, कुछ लोगों के सायास आयोजन का परिणाम है और इस तरह छोटे-छोटे सेक्शनों में बंटकर चर्चित होने और नेतृत्व करने की होड़ मची है न कि अच्छी कविता लिखने की।"[२]

आज जबकि स्थापित जीवन-मूल्य संक्रमित हो रहे हैं, गुटबन्दियों के कारण थोथी नारेबाजी का दादुर-नाद अपनी पराकाष्ठा पर है। साहित्य के क्षेत्र में नित्य नये सिद्धान्तों को बलपूर्वक स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है। कवि स्वयं आचार्य होने का दम भरने लगे हैं। साम्प्रतिक साहित्य को जाँचने-परखने के सामान्य मानदंड लुप्तप्राय हो गए हैं। इसी अवस्था में श्रेष्ठ तथा हेय, उच्च तथा मध्यम कोटि के साहित्य को अलग कर पाना असंभव प्रतीत होता है। इस संक्रामक अवस्था में निष्पक्षता से ऐसे मानदण्डों की खोज अनिवार्य हो जाती है जो श्रेष्ठ साहित्य को प्रोत्साहित करके प्राणवत्ता तथा जीवन्तता प्रदान करें।

१. No one can be a great poet without being a Profound philosopher......

२. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी कविता : तीन दशक : पृ० १६७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निर्विवाद है कि जीवन के बदलते दृष्टिकोण के साथ-साथ साहित्य-मूल्यांकन के मानदण्ड समानुरूप परिवर्तित करने की आवश्यकता होती है। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि जीवन के स्थापित मानदण्डों के संक्रमित होते ही आप साहित्य के स्थापित मानदण्डों की अवहेलना आरम्भ कर दें। जब तक नवीन मूल्य विघटित मूल्यों का स्थान ग्रहण नहीं कर पाते तब तक आलोचना के मानदण्डों को प्रतिष्ठित करना अविवेक पूर्ण सिद्ध हो सकता है। सृजित हो रहा नया साहित्य जब अलग से अपनी पहचान देने लगे, उसके मूल्यांकन के लिये स्थापित मानदण्ड अपर्याप्त प्रतीत हों, तब नये मानदण्ड स्थापित करने में किसी प्रकार का संकोच, संकीर्णता तथा अपमान-बोध उचित नहीं हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने पुराने निकषों के स्थान पर आलोचना के नये मानदण्ड स्थापित करने पर बल देकर गत बीस वर्षों के साहित्य-सृजन पर टिप्पणी करते हुए इस प्रसंग को छुआ है। उनके अनुसार "विभिन्न प्रकृतियों के माध्यम से आज का नया भाव-बोध इन बीस वर्षों में व्यक्त होता जा रहा है। यदि इन बीस वर्षों में प्राचीन काव्य-शास्त्र द्वारा इस बीस वर्ष के साहित्यिक कृतित्व का मूल्यांकन नहीं हो सका, तो यह आवश्यक है कि इस बीस वर्ष की साहित्यक प्रवृत्तियों में निहित मूल्यों की विवेचना और उनकी सौन्दर्यात्मक उपलब्धियों के विश्लेषण का शास्त्र इसी काल के साहित्य से निर्मित किया जाये। आज के संदर्भ में यह अनिवार्य तो है ही, साथ ही यह उचित भी होगा।

भारतीय काव्य-शास्त्र में साहित्य-मूल्यांकन के मानदण्ड के रूप में इस को विशिष्ट महत्व तथा अनुमोदन प्राप्त रहा है। आचार्य भरत ने एक 'नाट्य-पुरुष' की परिकल्पना करते हुए सर्वप्रथम रस को नाटक की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। तदुपरान्त यह मानदण्ड काव्य के क्षेत्र के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। आचार्य भरत के अनुसार रस के बिना कोई भी अर्थ परिवर्तित नहीं होता (न हि रसाहृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते)। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य को परिभाषित करते हुये रसयुक्त वाक्यों को इसकी कोटि में परिगणित किया (वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्)। पण्डितराज जगन्नाथ ने मुख्यतः रस का विरोध करके रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्यांशों को प्रमुखता देते हुए प्रकारान्तर से रस की महत्ता को स्वीकारा (रमणीयः अर्थाः प्रतिपादका काव्यम्)। इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम रस के प्रभावाछन्न होकर नयी कविता में उसे पारम्परिक रूप में स्वीकृति प्रदान कर दें। यदि आज की कविता उत्कट भावावेश से सृजित नहीं हो रही, तब रस के पारम्परिक मानदण्ड से उसकी व्याख्या करना हास्यास्पद प्रतीत होता है। आधुनिक संदर्भ में रस को पुनर्मूल्यांकित तथा पुर्नविवेचित करना होगा।

रस-चक्र में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव की सह-समन्विति भावक के मन में स्थायी भाव को परिपुष्ट करके रस-दशा को व्युत्पन्न करती है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर भावक के मन में स्थायी भाव सुषुप्तावस्था में सदैव विदयमान रहते हैं जिस प्रकार एक साधारण लोहे के टुकड़े में चुम्बक के कण (अव्यवस्थित अवस्था में)। चुम्बक का स्पर्श पाते ही वे कण व्यवस्थित होकर लोहे के टुकड़े को चुम्बक में परिणत कर देते हैं। इसी प्रकार भावक के मन में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का संसर्ग पाकर रस-दशा को विनिर्मित करते हैं। मानव कितना भी आधुनिक हो जाए उसके हृदय के किसी कोने में संवेदना की मृदुल तरंगें हिल्लोलित होती रहेंगी जो कि अवस्था-विशेष में उसे भावनिमग्न करके रसास्वादन कराएंगी। यद्यपि यह रसास्वादन पुरातन काव्य-शास्त्रीय मानदण्डों पर खरा न उतरे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसकी व्याख्या करते हुये 'हृदय की मुक्तावस्था' तथा 'अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार' अथवा 'व्यक्तित्व का परिहार' को रस-दशा का अनिवार्य तत्व कहकर व्याख्यायित किया था। तुलसी इसलिए उनके प्रिय कवि थे कि वे रस सिद्ध थे। रससिद्धता के लिये भावात्मिकावृत्ति का विकास अपरिहार्य है। यह भावात्मिकावृत्ति आनन्द की चरमावस्था में पहुँचाती है। 'चिन्तामणि' में 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक अपने निबन्ध में शुक्ल जी ने रसात्मक अनुभूति के दो पक्ष ठहराए हैं :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) अनुभूति-काल में, अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार और

(२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।[3]

आचार्य शुक्ल का उपरोक्त मत नयी कविता के मूल्यांकनार्थ सहायक सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि नयी कविता रस के धरातल पर सृजित न होकर 'रिझाने' के स्थान पर 'सताने' के धरातल पर सृजित हो रही है। डा० जगदीशगुप्त के अनुसार"नयी कविता आकर्षण को ही नहीं विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर कर देना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है, सताती अधिक है।..."[4]

डा० जगदीश गुप्त ने 'रसानुभूति' के स्थान पर 'सह-अनुभूति' का उल्लेख किया है। सह-अनुभूति में व्यक्तित्व का परिहार नहीं, व्यक्तित्व का आभास आवश्यक है। पाठक अथवा श्रोता आलम्बन के प्रभावान्वित साधारणीकरण की अवस्था को प्राप्त करके भी अपने व्यक्तित्व की सजगता में काव्यास्वाद के धरातल पर उतरता है। डा० गुप्त ने 'नयी कविता स्वरूप और सीमाएं' में बौद्धिक रस की चर्चा की है, अर्थात् नयी कविता में भी रस की भूमिका को झुठला पाना उनके लिए संभव नहीं हुआ। आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' नामक अपने निबन्ध में भावना को बुद्धि के प्रभाव में विस्तार देने पर बल देते हुए कहा था कि"अब मनुष्य का ज्ञान क्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्म-स्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम, और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा।..."[5] आचार्य शुक्ल की यह मान्यता स्पष्ट निर्देश देती है कि काव्य में बौद्धिकता के प्रवेश से वे चिन्तातुर न थे। उनके मन में विचारात्मकता के प्रति विग्रह न था। विचारात्मकता को वे सहजता के उस धरातल पर ले आना चाहते थे जो कि भावविशेष को उद्दीप्त करके सृजन की मनोभूमि को उर्वर बनाने में सक्षम हों। विचारात्मकता सूत्र-वाक्यों की संरचना का आधार ग्रहण करती है। निस्संदेह जीवन में सूत्रात्मकता का विशिष्ट महत्व है। उस सूत्रात्मकता को भावस्पर्शी बनाकर प्रस्तुत करना कि वह मर्मस्पर्शी हो सके एक महत् गुण है। 'तीसरा सप्तक' में अज्ञेय जी की दृष्टि में इस गुण का महत्व प्रतिपादित हुआ है। उनके शब्दों में "...वाक्‌सिद्ध कवि भी बड़ा होता है, किंतु और भी बड़ा कवि रससिद्ध होता है।..."[6]

रस सम्बन्धी उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट लक्षित होता है कि साम्प्रतिक काव्य में रस की भूमिका को झुठला पाना असंभव है। यदि कुछेक कविताएँ रस के धरातल पर खरी नहीं उतरतीं तो रस का निषेध नहीं किया जा सकता। यह भी कि मात्र रस ही काव्य की 'उत्तम' अथवा 'अधम' कोटियों का निर्णायक नहीं है। उसकी भूमिका युगानुरूप परिवर्तित हुई है। उत्तम काव्य के मानदण्ड की अनेक अन्य कसौटियों के साथ रस भी स्थायी महत्व का है। वह साधन है, स्वयं साध्य नहीं।

काव्य-बिम्ब किसी ऐन्द्रिय तथा मूर्त भाव चित्र को अनुभूतिजन्य भावयोजना के माध्यम से बोधगम्य बनाते हुए चेतना के पटल पर सृजित करता है।

डा० नगेन्द्र ने काव्य में बिम्ब की भूमिका पर विचार करते हुए इसे अत्यन्त प्रभावी माध्यम होने

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (पहला भाग) पृ० २००

४. डा० जगदीश गुप्त : नयी कविता स्वरूप और सीमाएँ : पृ० ८३

५. आचार्य शुक्ल : चिन्तामणि (पहला भाग) : पृ० १२५

६. अज्ञेय : तीसरा सप्तक : पृ० १७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी काव्य-सृजन में अनिवार्य तत्व नहीं माना है। उनके शब्दों में···बिम्बकाव्य का अत्यन्त प्रभावी माध्यम है और इसलिये काव्य के संदर्भ में उसका मूल्य असंदिग्ध है, परन्तु वह स्वतन्त्र नहीं है, माध्यम ही है, प्राणतत्व नहीं है, काव्य का सहकारी मूल्य अवश्य है, प्राथमिक मूल्य नहीं है···।[७] डा० नगेन्द्र का मत सर्वथा उचित है। काव्य-सृजन का अभिप्राय कवि के व्यक्तिगत भाव-चिंतन को सार्थक अभिव्यक्ति देना है। सृजन प्रक्रिया के तीसरे क्षण (मुक्तिबोध के शब्दों में फैंटेसी के शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता···[८]) में शिल्प के जो उपकरण (बिम्ब-प्रतीक, रूपक आदि) सहज भाव से समन्वित हो जाएँ, वही अभिव्यक्ति के सक्षम रूप में उभर पाते हैं। बिम्ब काव्य-सत्य को उजागर करने में जहाँ तक सहायक हो पाए उसी सीमा तक उसकी सार्थकता है। अनावश्यक मोह चिन्तन की स्वच्छन्द धारा तथा अभिव्यक्ति के सहज आयाम को कुंठित कर देता है। काव्य में घटाटोप बिम्बन से विमोह स्वरूप साम्प्रतिक कविता में 'सपाटबयानी' का मोह आरम्भ हुआ है। अशोक बाजपेयी ने श्रीकान्तवर्मा के दो काव्य-संग्रह···मायादर्पण···तथा···दिनारम्भ···की समीक्षा करते हुए बिम्ब के विरोध में सर्वप्रथम 'सपाटबयानी' शब्द प्रयुक्त किया। उनके मतानुसार···नयी कविता बिम्ब-केन्द्रित रही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराके ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब प्रधान कविता कुछ शक की चीज बन गई और सपाटबयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा। उनमें से हरेक ने सपाटबयानी के मूल्य को पहचाना लेकिन उसे अपनी बिम्बधर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ संयोजित किया और अपने मुहावरों को और उनसे उजागर होने वाले काव्यसंसार को समृद्ध किया, चित्रमयता को खोए बिना उसे रोज़मर्रा की जीवंतता दी।···[९] अशोक बाजपेयी सपाटबयानी का प्रयोग जब कवि द्वारा 'अपने मुहावरों और उनसे उजागर होने वाले काव्य-संसार को समृद्ध' करने के संदर्भ में करते हैं, हमारे उपरोक्त मत की पुष्टि होती है कि कला-सौष्ठव के उपकरण अभिव्यक्ति में सहायक होने चाहिएं। डा० नामवर सिंह ने सामासिक बिम्ब-योजना का विरोध करते हुए सपाटबयानी के महत्व पर बल दिया है। 'बिम्ब रचना कभी-कभी वास्तविक का अमूर्तन' भी करती है अतएव···बिम्बों के कारण कविता अक्सर बोल-चाल की भाषा से दूर हटी है, बोलचाल की सहज लय खण्डित हुई है, वाक्य विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अन्तर्गत क्रियाएँ उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य-कथ्य की ताकत कम हुई है।[१०] मात्र इन्हीं कारणों से यदि डा० नामवर काव्य-बिम्ब का विरोध करें तो उन्हें जान लेना होगा कि सपाटबयानी में उपरोक्त अधिकांश त्रुटियाँ निहित हैं। वाक्यविन्यास की गड़बड़ी, क्रियाओं का उपेक्षित होना, भाषा में बड़बोलापन आना, ये दोष काव्य-कथ्य को सटीक ढंग से सम्प्रेषित न कर पाने के साथ ही कविता को बोलचाल की भाषा से दूर ले जाते हैं। इसके साथ ही सपाटबयानी सामान्यीकरण की प्रवृत्ति को अनावश्यक बल दे रही है जिससे कि काव्य कथ्य कोरे मुहावरों में ढल कर रह गया है। धूमिल, लीलाधर जगूड़ी तथा मणिमधुकर की लम्बी कविताओं के एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

"जिसके पास थाली है/हर भूखा आदमी/उसके लिए, सबसे भद्दी — गाली है···(धूमिल — संसद से सड़क तक, पृ० ११५-१६)

७. डा० नगेन्द्र : काव्य-बिम्ब : पृ० ६२
८. मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी : पृ० २५
९. अशोक बाजपेयी : धर्मयुग, २३ जून ६८
१०. डा० नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान : पृ० १३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…चारों ओर/कंगाली के पास। आटा नहीं। गाली है। और जिस पर कोई नहीं/खाना चाहता/ आजादी एक झूठी थाली है।… (लीलाधर जगूड़ी आलोचना, जु०सि० १९६८, पृ० ९१)

…महसूस तो करता हूँ कि/मुझ में जो गर्मी या गर्मी की शैली है (मौलिकता पर भरोसा/नहीं रहा) अमेरिका या रूस, वह किसकी शैली है।…

(मणिमधुकर — खंड खंड पाखंड पर्व, पृ० २८)

एक छापामार हड़बड़ी के उपरोक्त उदाहरण पूर्णतः प्रभावहीन होकर रह गए हैं। अतएव सपाटबयानी तथा बिम्ब काव्य को जहाँ सक्षम कर पाएँ तथा सायास न हों, वही उचित है।

एक सजग साहित्यकार के लिए भाषा की कोई समस्या नहीं होती, उसकी समस्या सार्थक शब्द की होती है। अज्ञेय ने रचनाकार के नाते अपनी इस समस्या को संकेतित किया है। उनके शब्दों में…केवल सही शब्द मिल जाये तो…। लेखक के नाते, और उससे भी अधिक कवि के नाते मैं अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है। मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निस्सन्देह, लेकिन कवि के नाते मैं जो कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा…[११] शब्दों को संस्कारित करके ही उनमें नया अर्थ प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इससे भाषा समृद्ध होती है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्सन्देह महान् कवि है…[१२] उसकी महानता इस बात में निहित रहती है कि वह शब्द की केंचुल को फाड़कर उसमें नया अर्थ प्रतिष्ठित कर सके। परिवर्तित होते हुए जीवन-सन्दर्भों के साथ ही नये भावों को कविता में अभिव्यक्त करने के साथ-साथ भाषा को नया रूप देने में भी आज का कवि पर्याप्त जागरूक है। अज्ञेय ने तारसप्तक के अपने 'वक्तव्य' में भाषा के पुराने व्यापकत्व को अर्थ-सम्प्रेषण के लिए अपर्याप्त मानते हुए लक्षित किया है कि…कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है—शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।[१३] सम्भवतः अर्थ-बोध के इस संकट से प्रेरित होकर नया कवि 'नंगी भाषा' के प्रयोग की ओर प्रवृत्त हुआ है। डा० नामवरसिंह के मतानुसार नंगी भाषा का आग्रह विम्ब-विरोध के रूप में कुछेक कवि तथा आलोचकों द्वारा हुआ। लक्ष्मीकांत वर्मा ने भी भाषा तथा बिम्बों की निरर्थकता को नंगी भाषा का जनक माना है। उनके शब्दों में भाषा और बिम्बों की यह निरर्थकता ही हमें अब 'नंगे-शब्दों' की ओर ले जा रही है। 'ताजी कविता' जिस भाषा की खोज में है वह नंगी भाषा है—आवरणहीन, संस्कार हीन और इन सबसे अधिक ऐसा नंगापन जिसमें आभिजात्य जंगली पन के ऊपर एक समय-बोध की छाप लग सके…[१४] वर्मा जी का यह मत हमारे लिए न सही, 'ताजी कविता' के लिए अवश्य भ्रामक सिद्ध हो सकता है। बासी भाषा से, संस्कारहीन भाषा से 'ताजी कविता' की संरचना होगी अथवा ऊबकाहट देने वाली कविता की, यह विचारणीय है। ध्यातव्य है कि 'ताजी' तथा 'संस्कार-हीन' शब्द परस्पर विरोधी हैं। वही भाषा काव्य-सृजन के लिए उपयुक्त है जो कि सार्थक शब्दों को वहन करें, जैसा कि कवि श्री अज्ञेय ने 'सही शब्द' की खोज के विषय में कहा है।

निस्सन्देह बीसवीं शती शुद्ध वैज्ञानिक युग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान को विज्ञान की तुला पर तोला जा रहा है। पुराना श्रद्धा-भाव प्रश्न चिन्हों की जागरूकता में विलयित हो गया है। तथापि कविता के क्षेत्र से भावना का पूर्ण तिरस्कार साहित्यिक स्थिति का सही

११. अज्ञेय : आलवाल : पृ० 10-11

१२. मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी, पृ० २५

१३. अज्ञेय : तारसप्तक : पृ० २७०

१४. लक्ष्मीकांत वर्मा : नये प्रतिमान पुराने निकष : पृ० १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकलन नहीं कहा जा सकता। चिन्तन का प्रत्येक क्षण भावना के झरोखों से छन कर ही आता है।[15] तात्विक दृष्टि से भी भाव तथा विचार का वर्गीकरण एक जटिल समस्या है। मुक्तिबोध ने ज्ञान तथा संवेदना (भाव) की इसी द्वयी को 'संवेदनात्मक ज्ञान' अथवा 'ज्ञानात्मक संवेदना' कहकर नयी कविता के आत्मसंघर्ष पर सूक्ष्म पर्यालोचन किया है। यह कहना अवश्य उचित है कि समकालीन कविता भावावेग की क्रोड़ में उन्मीलित न होकर प्रत्येक भाव को विचार की कसौटी पर परख रही है। कल्पना की उन्मुक्त उड़ान के स्थान पर जीवन के अनुभूत-वास्तव की निकटवर्ती सीमाओं के पार्श्व में प्रवाहमान है। कविता की सार्थकता कवि के अनुभूत-वास्तव की समर्थ पहचान कराने में निहित है, किसी भाव-विशेष अथवा विचार-विशिष्ट की व्याख्या में नहीं। तदर्थ कोरा वैचारिक आग्रह मत विशेष की ओर प्रेरित करके अथवा बौद्धिक जुगाली को साग्रह अपना कर कविता को सम्प्रेषित अथवा मूल्यांकित करने के स्थान पर बाधक सिद्ध होगा।

१५. Nothing is in the intellect that is not first in the senses – The Poetry of Ezra Pound, P. ७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स० कृष्ण बाबु
हिन्दी विभाग
आंध्र विश्वविद्यालय
वाल्तेयर, (आंध्र प्रदेश)

आलोचक श्री सी० आर० रेड्डी और उनका 'कवित्व तत्व विचारमु'

साहित्य मनुष्य की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों की भाषाबद्ध अभिव्यक्ति है। लेकिन आलोचना की विशेषता यह है कि वह मानवमन की गंभीर विवेचना शक्ति का परिचायक है जिसमें बुद्धि की सारी विचार शीलता निहित रहती है। अत: यह साहित्य मार्ग का परीक्षण कार्य नहीं करती वरन पाठक और साहित्यकार के बीच एक माध्यम बनकर साहित्यकार की अनुभूतियों को अभिव्यंजना पद्धति का मूल्यांकन करती है। ऐसी ही विशेषता के कारण उसके लिए अपने जन्मजात स्वभाव के साथ-साथ मानसिक गम्भीरता, बुद्धिपक्ष की प्रधानता, पांडित्यपूर्णता, मननशीलता जैसी शक्तियां अत्यंत आवश्यक हो जाती हैं। अत: कोई एक प्रतिभावान व्यक्ति ही किसी साहित्य का युगप्रवर्तक एवं मौलिक समालोचक बन सकता है। आधुनिक तेलुगु साहित्यक क्षेत्र में श्री सी. रामलिंगारेड्डी जी ही एक ऐसे समालोचक हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम अपनी मौलिक कृति 'कवित्व तत्व विचारमु' के माध्यम से अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत किया था। रेड्डी जी का यह ग्रंथ उनके विस्तृत अध्ययन, अपूर्व शोधानुशीलन तथा विचारशीलता का परिचायक है। साहित्यिक पद्धतियों तथा आंदोलनों का क्रमिक विकास, व्यष्टि एवं समष्टि के रूप में कलाकारों के स्तर एवं प्रबंध काव्यों के गुण-दोषों का विवेचन तथा मूल्यांकन आदि अनेक विषय इस ग्रंथ में पाये जा सकते हैं।

श्री रेड्डी जी ने अपने इस आलोचनात्मक ग्रंथ को प्रधानतः तीन भागों में विभाजित किया है। इनमें से प्रथम भाग तीन अनुच्छेदों में आया है।

प्रथम भाग के प्रथम अनुच्छेद में श्री रेड्डी जी ने तेलुगु के प्रसिद्ध प्रबंध कवि श्री पिंगलि सूरना के समय को अत्यंत तर्कसंगत एवं औचित्यपूर्ण रूप से निर्धारित किया है। उनका कहना है कि श्री कृष्ण देवरायलु के अनंतर तथा प्राय: रामराजभूषण कवि के पूर्व ही सूरना जी जीवित रहे हैं। और ये इंग्लैण्ड के कवियों में ख्याति प्राप्त शेक्सपियर के समकालीन हैं।

श्री रेड्डी जी यह मानते हैं कि साहित्यकार का गौरवपूर्ण संदर्भ उसकी भावनाशक्ति ही है। समाज तथा अपने चारों ओर फैले वातावरण के रंगबिरंगे चित्रों, सौंदर्यपूर्ण बिंबों तथा मार्मिक प्रसंगों का निर्माण करने में साहित्यकार की भावनाशक्ति का अपरिमेय उपयोग होता है। इन्हें वह रसज्ञ पाठकों के हृदयपटल पर अंकित ही नहीं करता अपितु उन्हें चिरंतन रूप से स्थापित भी कर लेता है। भावनाशक्ति का महत्व तभी स्पष्ट होगा जब लेखक अपने जन्मत: प्राप्त होने वाली मानसिक दृढता से उसका उपयोग कर सके। अलंकारशास्त्र, लक्षणग्रंथ तथा व्याकरण के सूत्रों के गंभीर अध्ययन मात्र से भावनाशक्ति का काम नहीं चलता। श्री रेड्डी जी तेलुगु के सर्वप्रसिद्ध कवि वेमना का उदाहरण लेकर कहते हैं कि वेमना ने तेलुगु वालों के दैनंदिक जीवन के सामान्य से सामान्य विषयों को लेकर उनमें क्रांति रूप तथा प्राणों की प्रतिष्ठा की थी तथा कुटिल धार्मिक विचारों, अंधविश्वासों एवं ढोंग की कटु आलोचना की। अपनी व्यंग्य भरी भाषा में जीवन के गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन भी किया था। भावनाशक्ति का यह उपयोग जीवन की अनुभूति का फल है।

वेगमयी कथाप्रवाह में अलंकारों का अधिकाधिक प्रयोग करने की क्षमता, विषयवस्तु के प्रतिपादन में अलंकारों को सीमित रूप में प्रयोग करने की शक्ति,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्राकृतिक वर्णनों से विषयवस्तु में विकार के आने से बचाने की कुशलता; देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुकूल विषयवस्तु तथा उसके साथ अन्यान्य चित्रमय प्रयोग करने की अनुपम कुशलता तथा अभीष्ट रस के निमित्त पाठकों को भ्रम में डालने के प्रयत्न में असंपूर्ण वर्णनों से बचने का सामर्थ्य—ये सभी तो भावनाशक्ति की ही अनुपम लीलायें हैं।

रेड्डी जी सादृश्य निरुपण के लिए तो साहित्य के अंतर्गत अलंकारों का यथोचित स्थान मानते हैं। लेकिन सामान्य रूप से उनकी अनिवार्यता को नहीं मानते। यदि अलंकार स्वयं कथा प्रसंग में आ जाते हैं तो उनमें स्वाभाविकता की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है, किंतु जब साहित्यकार कठिन प्रयास के अनंतर उन्हें कविता में उपस्थित कर पाता है तो उनमें कृत्रिमता का स्पष्ट आभास दिखाई देता है। वर्णन करने के लिए साहित्य के अंतर्गत अलंकार केवल साधन हैं, साध्य नहीं। अतः हमारे हृदय से निर्बाध रूप से प्रवाहित होने वाले भावना श्रोत को कृत्रिम अलंकारों के बंधनों से बांधने की अपेक्षा उन्हें यथावत् रूप से प्रकट करना ही अत्यंत उचित होगा। रेड्डी जी सभी अलंकारों में उपमा और उत्प्रेक्षा जैसे दो तीन तुलनात्मक तथा सादृश्यमूलक अलंकारों को महत्व देते हैं। श्लेष आदि अलंकारों को वे कविता को बाँधनेवाले कुयुक्तिपूर्ण पाश मात्र मानते हैं। आगे वे यह भी कहते हैं कि सहजोपमाओं तथा ध्वनियों से संबंधित उपमाओं की योजना करना उचित है। विशिष्ट वस्तु को देखने पर उत्पन्न होने वाले भावों के अनुरूप सादृश्यों का प्रयोग ही समीचीन है। रेड्डी जी कविता की वस्तु एवं कवि के भाव दोनों को परस्पराश्रित मानते हैं। क्योंकि किसी वस्तु को देखने पर कवि के मनमें तदनुकूल भावनाओं का जागृत होना अत्यंत सहज है। जैसे आनंदमय रहते वक्त सारा संसार उज्ज्वल एवं प्रकाशमान दीख पड़ता है और दुख में रहते समय संसार की समस्त वस्तुओं में दुख का आभास मिलता है। लेकिन काव्य सृजन के लिए आवश्यक कला-कुशलता के अभाव में भी कविता अनादरणीय हो जाती है। क्योंकि प्रवाहपूर्ण एवं औचित्य मंडित काव्य-शैली के बिना पाठकों के मन में रस का सम्यक बोध नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री रेड्डी जी साहित्य सृजन के लिए वस्तु और कला दोनों को समान रूप से प्रधान मानते हैं।

पात्रों के चरित्र-चित्रण के संबंध में श्री रेड्डी जी के कुछ विचार इस प्रकार हैं। विषयवस्तु को स्वाभाविकता के लिए संसार की विविध रीति-रिवाजों का अनुसरण करने वाले तथा देशकाल परिस्थितियों के अनुकूल व्यवहार करने वाले गुण-दोषपूर्ण पात्रों का चित्रण आवश्यक है। सर्वकाल सर्वावस्थाओं में कोई भी व्यक्ति एक तरह से नहीं रह सकता जिस समाज का वह सदस्य है, उसके वातावरण से तथा समय के साथ परिवर्तित होने वाली उसकी परिस्थितियों से प्रभावित होकर उसको मनोवृत्ति बदलती ही रहती है। और उसी के अनुकूल उस व्यक्ति की प्रतिक्रियायें भी बदलती रहती हैं। इस दृष्टि से देखने पर सैद्धांतिक रूप से निर्धारित तथा परंपरा से चले आने वाले नायक-नायिका-भेद कुछ अस्वाभाविक से लगते हैं। हमारे आचार्यों तथा काव्यशास्त्रज्ञों ने इनके लिए कुछ विशेष तत्वों का ढाँचा तैयार कर रखा है जिसमें ढले हुए पात्र ही काव्यशास्त्र की दृष्टि से सही माने जाते हैं। लेकिन रेड्डी जी ने इस प्रकार के पात्र चित्रण की कटु आलोचना की है। और पात्र चित्रण को स्वाभाविक बनाने के लिए पात्रों की गुणदोषपूर्णता ही को एक सहज मानदंड स्वीकार किया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य में उदात्त पात्रों का अस्तित्व ही न हो, पर उनमें भी प्रभाव-वैरुध्य, मानसिक प्रवृत्तियों की भिन्नता को दिखाने से काव्य की स्वाभाविकता में चार चाँद लग जाते हैं।

दूसरे अनुच्छेद में श्री रेड्डी जी ने तेलुगु प्रबंधों के लक्षणों का विचारविमर्श किया है। राजाश्रय में लिखे जाने के कारण बहुधा तेलुगु के सभी प्रबंध काव्य कवियों की स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ और स्वरुचिपूर्णता से वंचित रहे हैं। साथ ही उन काव्यों की कथावस्तु में प्राचीनता; वर्णनों में बहुव्यापकता; मूल रहित अति प्राचीन ग्रंथों के प्रतिकूल कुछ मौलिक प्रयोग; पुराने संस्कारों का विरोध जैसे लक्षण सभी में समान हैं। लेकिन इन प्रबंध काव्यों में इतिवृत्त इतने छोटे हैं कि वे उन कवियों की प्रज्ञा-हीनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्पष्ट आभास देते हैं। इनके परिणामतः आगे के युग में याने श्री रेड्डी जी के युग में भी अनेकानेक सारहीन एवं रसहीन कथायें उत्पन्न हो गयी थीं। तेलुगु के प्रबंध काव्यों की यह एक विशेषता है कि उसकी भाषा की विविध वक्रताओं और भंगिमाओं को देखकर कोई भी रसज्ञ आलोचक आश्चर्य चकित हो जाते हैं। तेलुगु के प्रसिद्ध प्रबंध कवि रामराजभूषण विरचित 'वसुचरित्रमु' के वर्णनों में उपज्ञा का पूर्ण अभाव देखा जा सकता है। रेड्डी जी ऐसी वणर्नात्मक पद्धति का पूर्ण विरोध करते हैं। और कहते हैं कि उसमें व्यापक और अस्वाभाविक कल्पनाओं की ही प्रधानता होने के कारण रसज्ञ पाठकों के हृदयों में विकृत एवं असह्य भावनाओं को उत्पन्न करने की अपेक्षा कोई दूसरी महत्वपूर्ण शिक्ति नहीं रहती।

तीसरे अनुच्छेद में आकर श्री रेड्डी जी अपने उपर्युक्त सैद्धांतिक विषयों की दृष्टि से कलापूर्णोदयम्, प्रभावती प्रद्युम्नम् जैसे तेलुगु के प्रबंध काव्यों का व्याख्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। तेलुगु प्रबंध काव्यों की विशेषता उनका शृंगार रूप है। बहुधा भारतीय कवि नायिका के नखशिख पर्यन्त विविध शारीरिक अंगों का सूक्ष्म वर्णन करते रहते हैं। हमारे साहित्य में युवतियों के लिए उनका रूप ही मोह का आलंबन बन गया है। इसीलिए उनमें मानसिक विकास दिखाई नहीं देता। रेड्डी जी का कथन है कि हमारे प्रबंध काव्यों में तुच्छ वासनाओं से पूर्ण स्त्रियाँ ही अधिक हैं। लेकिन पाश्चात्य साहित्य में ऐसा नायिका-वर्णन देखने को नहीं मिलता। वे नायिका की आँख, नाक जैसे वाह्य अंगों के वर्णन तक ही करके उनके मानसिक औन्नत्य की ओर अग्रसर हो जाते हैं। और उनके गुणों का अभिनंदन करने में लग जाते हैं। ऐसे संदर्भ में वे असंबद्ध एवं अनावश्यक भावों का प्रतिपादन नहीं करते। इस दृष्टि से काव्य के सृजन क्षेत्र में पाश्चात्यों की यह प्रवृत्ति अत्यंत प्रशंसनीय है।

रसों की स्थापना के संबंध में रेड्डी जी का मत है कि किसी एक विशेष रस का काव्य में अंगीरस बनना और बाकी रसों का अंग रस होना उचित नहीं। हमारे प्रबंध काव्यों में शृंगार रस को रसराज मानकर हमारे कविगण केवल उसी के वर्णन में लग गये। ये वर्णन इतनी पराकाष्ठा तक पहुँच गये हैं कि जगह-जगह पर मनुष्य में तुच्छ नीरस और अरुचिकर वासनाओं को जगाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। रेड्डी जी का कहना है कि मनुष्य की विलक्षण प्रवृत्ति अपरिवर्तनशील वस्तुओं में नहीं लगती। अतः काव्य के प्रवाह में एक ही रस की प्रधानता को न मानकर विविध रसों के वर्णनों को तथा वियोग शृंगार जैसे मिश्रम रसों की स्थापना को प्रधानता देना किसी भी साहित्यकार के लिए अत्यंत आवश्यक है।

रेड्डी जी साहित्य और नीतिशास्त्र के प्रत्यक्ष संबंध को स्वीकार नहीं करते। नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के आधार पर साहित्य की परख करना भी उन्हें उचित नहीं लगता। काव्यशिल्प का उद्देश्य है मानव-मन को आकृष्ट करना। अगर शिल्प में ऐसी वशीकरणशक्ति निहित हो तो नीति के न होने पर भी कोई कमी नहीं है।

'कवित्व तत्व विचारम्' के दूसरे भाग में आकर श्री रेड्डी जी वस्तु निरमण पद्धतियों पर प्रकाश डालते हैं। उनके मतानुसार किसी भी कथा वस्तु को प्रस्तुत करने की दो तरीके होते हैं। एक तो विषयों का वर्णन प्रस्तुत करना और दूसरा सरस एवं मनोहर वर्णनों से कथा का आरंभ करते हुए विगत और भावी का निर्माण करते जाना। इस दूसरी पद्धति को पाश्चात्य समालोक तर्क क्रम पद्धति कहते हैं। कार्य का विवेचन करते हुए उस कार्य के कारणों को जानना ही तर्क क्रम पद्धति है। श्री रेड्डी जी इसी को कार्यक्रम कहना उचित मानते हैं। रेड्डी जी वस्तु निर्माण की उपर्युक्त दोनों पद्धतियों में अंतिम का समर्थन करते हैं। क्योंकि काव्य में कालक्रम की अपेक्षा उसकी रसमयता को ही प्रधानता दी जाती है। अतः कारणक्रम के अनुसार जहाँ कथा का विन्यास होता है वहीं काव्य की सरसता बढ़ जाती है। आगे रेड्डी जी यह भी कहते हैं कि केवल वस्तुओं के सर्वसामान्य लक्षणों से काम चला लेना, अनुभवहीन वर्णनों से काव्य को भर देना किसी उच्चकोटि के कवि को उचित नहीं।

श्री रेड्डी जी कलापूर्णोदयम् के सभी पात्रों में से कलभाषिणी के पात्र को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। इसका कारण यही है कि कलभाषिणी काव्य के अंत में अपने प्रियतम मणिकंधर के सुख एवं उज्ज्वल भविष्य के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है। पात्रों का ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्शपूर्ण व्यवहार रेड्डी जी को बहुत ही पसंद लगता है।

कवित्वतत्व विचारमु के तृतीय भाग में श्री रेड्डी जी कहते हैं कि प्रबंधों में कवि की भावनाशक्ति का अभाव और बाल्यविवाह, अशिक्षण जैसे सामाजिक समस्याओं के कारण ही वासना प्रधान शृंगार का वर्णन किया गया है। इस कोरे शृंगार वर्णन के समर्थन में ऐसा भी कहा जा सकता है कि काम और मोक्ष दोनों पुरुषार्थों को समान रूप से महत्व देने के लिए प्रबंध कवियों ने अपनी कृतियों में ऐसे शृंगार वर्णन को स्थान दिया था। लौकिक एवं अलौकिक विषयों से संबंधित इन क्षेत्रों की संभावना अस्वाभाविक नहीं है किंतु काव्य को इस प्रकार लोक संबंधी धारणाओं के कलात्मक वर्णनों से भर देने पर उसका सौष्ठव प्रायः बिगड़ जाता है। समय-औचित्य के संबंध में उनका मत है कि समयानुसार परिस्थितियों का, तथा परिस्थितियों के अनुकूल पात्रों का परिवर्तित होना सर्वसामान्य है। इस समय औचित्य के प्रमुखतः दो अर्थ लिये जा सकते हैं। एक तो हर एक पात्र को समय परिवर्तन के अनुसार चित्रित करना तथा दूसरा कवि के अंतर्गत स्थित विविध संदर्भों की समयानुकूल कल्पना करना।

रेड्डी जी की इस आलोचनात्मक कृति से यह स्पष्ट होता है कि वे स्वयं प्रणालीबद्ध, आदर्शप्रधान आलोचना पद्धति को मानदंड के रूप में लेकर आगे बढे। प्रयोग की चिंतनशीलता को लेकर तेलुगु समीक्षा क्षेत्र में पदार्पण कर गये। अपनी रुचि के बल पर ही विचारने वाले श्री रेड्डी जी अपने आलोचना कार्यक्रम के लिए कुछ मौलिक सिद्धांत निर्धारित कर लेते हैं और उन्हीं के आधार पर किसी भी साहित्य की निस्संकोच समालोचना करते। श्री रेड्डी जी सहज विषयवस्तु तथा भावव्यंजना के सदैव समर्थक रहे। वे काव्य में चमत्कार बाद के घोर विरोधी थे। वे स्थान-स्थान पर काव्य के बाह्यांगों और उनके उपकरणों का सारगर्भित विवेचन भी करते रहे।

श्री रेड्डी जी साहित्यकार की भावनाशक्ति को ही सभी साहित्यिक क्रीडाओं का आधार माननेवालों में से हैं। भाव और कला के द्वंद में न पड़कर दोनों की समान सत्ता को माननेवाले श्री रेड्डी जी साहित्य के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन में विश्वास रखते हैं। अत्याधुनिक युग में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने वाले अंतरानुशीलन प्रधान अनुसंधान को उसी समय रेड्डी जी प्रधानता दे बैठे। लेकिन उनकी विशेषता यह है कि वे साहित्य के नैतिक अध्ययन को उचित नहीं मानते। नीति व्यक्ति चेतना से संबंधित सामाजिक वस्तु है। कोई भी विशेष प्रवृत्ति को हम नहीं कह सकते कि वह असत चेतना से संबंधित है या सत् चेतना से। वैयक्तिक दृष्टिकोण की विभिन्नता के अनुसार उसका नैतिक मूल्य भी बदलता जाता है। समालोचना क्षेत्र में पदार्पण करने के बाद मानव को मेधा शक्ति का इस ढंग से दुरुपयोग करने की अपेक्षा उसे समालोचना की अन्य विधाओं के काम में लगाना उचित होगा।

इसी कारण क्रम और कार्यक्रम की पद्धति से अमलिन शृंगार और मिश्रम रसों की व्याख्या एवं स्थापना भी रेड्डी जी के निजी विचारों के अनुकूल है। कुछ लोगों का यह कहना है कि पाश्चात्य समालोचना से प्रभावित होकर ही श्री रेड्डी जी ने इन विचारों को प्रस्तुत किया है और इसीलिए उनमें मौलिकता की बिलकुल कमी है, किंतु इसके विरुद्ध हम यह कह सकते हैं कि पाश्चात्यों की खूबियों को अवगाहन करके और हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियों से उनकी तुलना करके उनकी महत्ता को प्रस्तुत करने मात्र से उन्हें विजातीय प्रभावित व मौलिकता से वंचित नहीं कह सकते। श्री रेड्डी जी का तुलनात्मक अनुभव साहित्यिक प्रवृत्तियों को सुधारने में अमूल्य सहायक रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[illegible]लेख-परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाहिद काज़मी
द्वारा डॉ० आर० एल० नरूला
२ ई/८७, एन० आई० टी०
फरीदाबाद (हरियाणा)

विशुद्ध अध्यात्म व दर्शन के महान कवि

कुछ वर्ष पूर्व ग्वालियर के एक निजी संग्रहालय 'शाह ग़मगीन एकेडमी' में एक हस्तलिखित ग्रन्थ 'श्री भगवदप्रसाद' देखने को मिला था। उस संग्रहालय के स्वामी स्व० श्रीयुत रज़ामोहम्मद हज़रतजी ने बताया कि यह ग्रन्थ ग्वालियर के एक मुस्लिम बुज़ुर्ग और संत हज़रत ऐनुल्लाह शाह द्वारा रचा गया एक उत्तम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ ही इस खोज-कार्य का प्रथम सूत्र बना।

संक्षिप्त जीवन परिचय—'ऐन' शाह का जन्म संवत १८४६ वि० के लगभग ग्वालियर में हुआ था। वे जाति के बगंस पठान थे और उनके पिता तत्कालीन महाराजा ग्वालियर की रिसाला पल्टन में नौकर थे। पिता के मरणोपरान्त वह नौकरी इनको मिल गई थी। किन्तु यह संत-प्रवृत्ति के थे और साँसारिकता की अपेक्षा इनकी रुचि अध्यात्म की ओर अधिक थी। नौकरी में इनका मन न लगा और किसी सतगुरु की खोज में घर से पैदल निकल पड़े। अजमेर आदि स्थानों पर होते हुए यह देहली पहुँचे और २३ वर्ष की आयु में हज़रत फ़िदा हुसैन नामक एक बुज़ुर्ग के दर्शन करके कुछ इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्हीं का शिष्यत्व ग्रहण करके विधिवत उनसे फ़क़ीरी प्राप्त की। यह फ़िदाहुसैन सा० सूफ़ियों के 'रसूल शाही' फ़िरके के अनुयायी थे। उल्लेखनीय है कि यह फ़िरका अलवर के किसी रसूलशाह नामक बुज़ुर्ग ने प्रचलित किया था। इसलिए इसे 'रसूलशाही' कहा जाता है। इनके गुरू ने ही इनका उपनाम 'ऐन' रखा था और एक पंक्ति 'जान अजान परगट गुपत सरवमई भगवान' दी थी जिस पर उन्होंने हिन्दी में कुण्डलियाँ कहना प्रारम्भ किया था। अपने एक ग्रन्थ 'ऐन बिहार में इन्होंने यह उल्लेख इस प्रकार से किया है—

"...उस बखत हुज़ूर ने हिन्दवानी वेद का कलाम फ़रमाया 'जान अजान परगट गुपत सरवमई भगवान'। उस वख़त यह हमने भी कहा। तब हुज़ूर सतगुरु साहब ने फ़रमाया कि तुम इस पै कुंडलियाँ कहा करो सो हमने सिजदा किया। उस वख़त हुज़ूर सा० की ऐसी कृपा करामात हुई कि इस बैंत के सुनते ही हिन्दवानी विद्या सब खुल गई चारों वेद, छैहों शास्त्र, गीता, भागवत, ऊँकार का अरथ, वेदान्त, सिद्धान्त खुल गया। हुज़ूर सतगुरु साहब हज़रत फ़िदा हुसैन की कृपा करामात से सो यह उपदेस मुझे दिया जो ऊंकार के मंत्र के मानिंद है। देखो भाई, दोस्तो संगियों! जो के अनहोनी होवे सो अचरज की बात है सोई करामात है। सो यह हज़ूर की करामात के मेरे मुख से बानी-कला कहवाया। सो सतगुरु की कृपा करामात से यह बानी अनुभव हुई उसी वक़्त कई कुंडली वेद व हुज़ूर की मरजी माफ़क हुई फिर कुंडलियों के होने का पार नहीं है।"

काफ़ी दिनों तक गुरु की सेवा में रहने के पश्चात् यह गुरु के आदेश से भ्रमण को निकल पड़े और हिन्दी में कई हज़ार कुंडलियों के विशाल ग्रन्थ रचे। देहली, अलवर, जयपुर, अजमेर, ग्वालियर, दतिया आदि स्थानों पर गये और ठहरे भी। कुछ जगहों पर आज भी इनके आश्रम तथा गद्दी मौजूद हैं। जन-सामान्य में ही नहीं अपितु राज घरानों तक में इनका बड़ा आदर और सम्मान रहा। ग्वालियर के राजा जनकोजी राव सिंधिया के पुत्र और भाई दौलतराव सिंधिया, भाऊ फालके, बालाजी यादव, काशी नरेश के पुत्र राजा दतिया के कृष्णदास गुसाईं इनको गुरु मानते थे। जयपुर तथा अलवर में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके शिष्य थे। अलवर में तो कुछ वर्ष पहले तक इनकी शिष्य परम्परा के हिन्दू परिवार मौजूद थे।

इनकी कुटिया पर जो धर्म-चर्चा होती थी उसे 'सत्संग' कहा जाता था। इसमें 'हिन्दवी-चर्चा' के नाम से विधिवत एक विशेष गोष्ठी का प्रयोजन होता था। जिसमें हिन्दू धर्म तथा शास्त्रों पर विचार-विमर्श किया जाता था। अँन शाह रसूलशाही फिरके के अनुसार अपने सारे शरीर पर भभूत लपेटें रहा करते थे, सिर के बालों के साथ-साथ भवें भी मुंडाये रहते और सिर पर लाल रंग का एक रुमाल बाँधे रहते थे। ऐसा भी कहा जाता है कि वे अपने मस्तक पर 'औ३म का तिलक लगाते थे और उन्होंने अपना एक पंथ भी चलाया था, किन्तु यह अनुमान सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि रसूलशाही फिरके पर उनकी अगाध श्रद्धा थी। इनके मुस्लिम शिष्य उन्हें अँनुल्लाह शाह और हिन्दू शिष्यगण श्रद्धावश अँन साईं या 'ऐनानंद' के नाम से पुकारते थे। इसीलिये अधिकतर इनका उल्लेख ऐन साईं या साईं ऐनानंद के नाम से भी मिलता है। मिश्र बन्धु विनोद (भाग चतुर्थ) 'बुन्देल वैभव' (तृतीय भाग) आदि पुस्तकों के अतिरिक्त ना०प्र० सभा काशी की खोज विवरण पत्रों और कुछ पत्रिकाओं में उनका संक्षेप में परिचय मिलता है। किन्तु अधिकांश हिन्दी विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं जा सका है। इनका अन्तिम ग्रन्थ 'स्वयं परकास' है जिसकी रचना सं० १६०१ वि० में समाप्त हुई थी। इस अनुमान के अनुसार वे अधिक आयु तक नहीं जिये और सम्भवतः संवत १६०० वि० के बाद या उसके कुछ इधर-उधर स्वर्गवासी हुए दतिया में अब भी उनका एक आश्रम है जहाँ प्रत्येक गुरुवार को छोटा-सा मेला भी लगता है। उनका देहान्त ग्वालियर में हुआ था और वहाँ उनका मज़ार भी है।

ग्रन्थ परिचय—हज़रत अँन शाह ने अपने जीवन में कुल कितने ग्रन्थों की रचना की उनकी सही संख्या अब तक ज्ञात नहीं हो सकी है। किन्तु जो सूची तैयार हो सकी है उसमें इक्कीस ग्रन्थों का समावेश किया जा सकता है। संभव है इसके अतिरिक्त भी उनके और भी ग्रन्थ हों जिनकी खोज की जा रही है। इनके समस्त ग्रन्थ किसी एक ही शैली में न होकर विभिन्न पद्य-शैलियों में रचे गए हैं। प्रमुखता कुंडलियाँ छंद को दी गई हैं। इनके समस्त ग्रन्थ वृहदाकार हैं और उनमें भारतीय अध्यात्म एवं दर्शन के गूढ़ तत्वों की सुबोध तथा सरलतम व्याख्या करके हिन्दी पद्य साहित्य एवं हिन्दीपाठी दोनों पर ही बहुत बड़ा उपकार किया गया है। अपने ग्रन्थों में उन्होंने अन्य बातों के अलावा गीता की व्याख्या को वरीयता प्रदान की है और कई ग्रन्थों की रचना गीता की भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या के रूप में की है। दूसरे शब्दों में कदाचित् गीता के दर्शन तथा विषयों ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया था। केवल एक ग्रन्थ (ऐन–विहार) को छोड़कर इनके समस्त ग्रन्थ काव्य में हैं। ऐन विहार में उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है विशेष रूप से फकीरी लेने और इसके बाद की आप-बीती का वर्णन किया है। 'इनायत हुज़ूर' नामक ग्रन्थ में कुरान की अरबी आयतों की हिन्दी कुण्डलियों में व्याख्या की है। और 'सुरा-रहस्य' नामक ग्रन्थ में राग-रागनियों पर आधारित कुछ गेय पद भी हैं।

इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अँन शाह के जो ग्रन्थ खोजे जा चुके और दृष्टिगत रहे हैं उनमें 'श्रीभगवत्प्रसाद' के अलावा निज के संग्रह में हैं। जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है —

श्री भगवत्प्रसाद—इस ग्रन्थ की रचना संवत १८८६ वि० में जयपुर नगर में समाप्त हुई.९″ × ७″ आकारीय लगभग छः सौ पृष्ठों पर लिपिबद्ध यह ग्रन्थ इक्कीस अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय में औसतन पचास कुंडलियाँ हैं। जिनकी कुल संख्या कोई एक सहस्र है। इन कुंडलियों में वेद, पुराण, शास्त्र आदि के मूल उद्देश्यों की व्याख्या के साथ ही, उनके द्वारा एक ब्रह्म की उपस्थिति का ज्ञान, एकेश्वरवाद के समर्थन के साथ-साथ भगवत धर्म, सृष्टि की रचना एवं विध्वंसना, अवतारों की कथाएं, आत्म-विद्या, विधि एवं निषेध, वर्ण एवं वर्णाश्रम, योगपथ, सिद्ध योग, ब्रह्म ज्ञान, प्रेम ज्ञान, विज्ञान, इन्द्री एवं तत्त्व आदि की विवेचना, तत्त्वों की वास्तविक संख्या, सांख्य विधि, मनुष्योचित गुण एवं कर्म, वृत्ति एवं उनके लाक्षणिक सम्बन्धों की विवेचना आदि के वर्णन सहित अध्यात्म सम्बन्धी लगभग एक सौ प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है। प्रसंगानुकूल रूप में बीच-बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हंस-गीता, भिक्षुक-गीता और संक्षेप में उर्वशी की कथा आदि का भी समावेश है उदाहरण के लिए निम्न कुंडलियाँ दी जाती हैं—

सुन्दर सुन तो से कहूँ भक्ति ग्यान विग्यान।
प्रकृति पुरुष महत्तत अरु अहंकार पहिचान।
अहंकार पहिचान, पाँच तन माला जनो।
सत, रज, तम गुन तीन, इन्द्री दस यक मन मानो।
'अैन' भूत मिल पांच ये अठाईस परधान।
सुन्दर सुन तो से कहूँ भक्ति ग्यान बिग्यान।

येई अठाइस से मिल प्रगट हुआ संसार।
थावर, जंगम, विविध भाँत नाना रूप प्रकार।
नाना रूप प्रकार, इनौ बिन कोई नांई।
ताते येकी दिष्ट देखिये सब के माइं।
'अैन' ग्यान या के तईं कहे साधु मुनि सार।
येई अठाइस से मिल, प्रगट हुआ संसार।

और येकै अठाइस जब मानै माया मर्म।
आतम और परमातमा जाने येकी ब्रह्म।
जाने येकी ब्रह्म, देह सब मिथ्या मानै।
ज्यों रसी पहिचान सरप की बुद्धि न आनै।
सुन्दर यह विग्यान का 'अैन' जानिये धर्म।
और यकै अठाइस जब मानै माया मर्म।

ता कर देखे ब्रह्म ही जाहि कहें विग्यान।
आदहु ते और अंत लौं सोई मध्य में जान।
सोई मध्य में जान बरन परगट है जोई।
आदि अंत कछु नांहि मध्य में मिथ्या सोई।
केवल तीनों काल में 'अैन' येक भगवान।
ता कर देखे ब्रह्म ही जाहि कहें विग्यान।

— बारहवाँ अध्याय

स्वयं परकास——श्री अैनशाह द्वारा रचित यह वृहदाकार ग्रन्थ ७″ × ९″ के आकार वाले पाँच सौ पचहत्तर पृष्ठों में लिखा गया है। इसमें बावन अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को परकास (प्रकाश) कहा गया है। संवत ..१ वि० में इसकी रचना जयपुर में समाप्त हुई। ग्रन्थ चौपाई, दोहा-सोरठा शैली में है। इसमें २१५० चौपाई, १४० दोहे और १४० सोरठे अर्थात् कुल २४२९ छंद हैं। ग्रन्थ के मुख्य विषय समाधान ज्ञान, गीता द्वारा मुक्त-बन्ध का निर्णय, आदि सिद्धान्त ज्ञान, विभिन्न उपदेशों द्वारा संग्रहीत ज्ञान, अध्यात्म ज्ञान, इरफ़ान ज्ञान, अनुभव ज्ञान, छेहों शास्त्रों का निर्णय ज्ञान, विद्या-निर्णय ज्ञान, कारज-कारण ज्ञान, मीमांसा ज्ञान, चारों वेद, द्वादश-वाक्य ज्ञान, कारण आदि ज्ञान, कारण उपादान तथा कारण निमित्त ज्ञान, केवल ज्ञान, सिद्धान्त ज्ञान इत्यादि-इत्यादि हैं, इनके अन्तर्गत अध्यात्म के सैकड़ों विषयों की तर्कपूर्ण तथा सुन्दर विवेचना प्रस्तुत की गई है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसके चार अध्यायों में सूफ़ीमत के चार सोपानों (शरीअत, तरीकत, मारिफ़त, हक़ीकत) की तुलनात्मक व्याख्या उपासना कांड एवं कर्म कांड आदि के सिद्धान्तों पर उत्तम रूप में की गई है। राजा परीक्षित एवं अन्य दो तीन संक्षिप्त कल्पित कथाओं का भी समावेश है। वाणी का नमूना पढ़िये—

चौपाई—पाँचों इन्द्री ग्यान की जोयी,
पाँचों इन्द्री कर्म की सोई।
चार इन्द्री या अंतर माँही,
यों चौदह इन्द्री कहलाई ॥३१॥
सो इन्द्रीं अध्यातम कहिये,
जिनके करम यौं अद्‌भुत लखिये।
चौदह जो अध देव कहाई,
सो इन्द्रिन के देवा भाई ॥३२॥
सबद एक गुन नभ में होवे,
सबद परस गुन बाय में दोवे।
सबद, परस, अरु रूप, गुसाईं,
यह चारों गुन हैं जल माहिं ॥३३॥
सबद, परस, रस, रूप गुसांई,
यह चारों गुन हैं जल मांही।
सबद, परस, रस, छवि, खुसबोयी,
पृथ्वी मांहि पाँच गुन जोयी ॥३४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोहा—ज्ञानी तीनों कांड में, देखत अद्वै ब्रह्म।
करम कांड के बीच में, दरपन सम प्रभु धर्म ।।
उपास कांड के बीच में, प्रभु नचावन हार।
कठपुतरी की सी तरह, नचत सकल संसार ।।
ग्यान कांड के मध्य में, ज्यों के त्यों भगवान।
जैसे के तैसे सदा, रहवत 'अँन' समान।

सोरठा—निराकार निष्काम, ग्यानी देखत ज्ञान से।
सकल सिस्ट के धाम, गहै न जावै ध्यान से ।।
अनुभव में सब कोय, जड़ चेतन पंछी पसू।
ठूंढ खायें चुन खोय, अनुभव कर कर जीव सब ।।

उपदेस हुलास—इस नाम का यह ग्रन्थ भी ९" × ७" के पृष्ठों पर लिपिबद्ध किया गया है। प्रारम्भ के लगभग बत्तीस पृष्ठ व अन्त के कुछ पृष्ठ गायब हैं अत: प्रामाणिक रूप से इसकी वास्तविक पृष्ठ संख्या के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, कुछेक पृष्ठ मध्य के भी नहीं हैं। तथापि वर्तमान दशा में यह पौने सात सौ पृष्ठों के करीब है। जिसमें दो सौ बाइस कुण्डलियाँ हैं। अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इसकी विशेषता यह है कि प्रत्येक कुण्डली के बाद उसमें वर्णित प्रसंग का व्याख्या (टीका) तत्कालीन गद्य में भी प्रस्तुत की गई है। ग्रन्थ की लेखन-विधि और स्थान-स्थान पर की गई काटा-छांटी से स्पष्ट विदित होता है कि यह अभी भी मसविदे के रूप में ही है। अक्षर बहुत घसीट हैं। अत: इसका पढ़ना अपेक्षाकृत अन्य ग्रन्थों के थोड़ा कठिन है। ग्रन्थ का मुख्य विषय भगवान कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र में दिये गये गीत के उपदेश हैं। यहाँ प्रस्तुत है एक कुण्डली, टीका सहित—

अंत समै हरि याद में, मरै सो हरि को पाय।
मरै और जो याद में, सो पावत है ताय।
सो पावत है ताय, अंत जो सुमिरन होइ।
तातै अरजुन 'अँन' नित्य, तू सुमिरन कर मोइ।
सो सब तज प्रभु को भजै, मिला जो ब्रह्महि चाय।
अंत समै हरि याद में, मरै सो हरि को पाय।

टीका—जो अंत समै हरि की याद में मरै सो हरि को प्रापत होय है। और जो और किसी की याद में मरै सो जो जिस की याद में मरै जिसमें मिल है। सो अंतकाल में जिसका सुमरन होय जिस ही में समावै है। सो यों श्री भगवान ने अरजुन सै कहा। जो जिसके सुमिरन में मरता है। सो उसकूँ पाता है। जिससे जो तुम मो में मिला चाहो तो नित्य सुमरन मेरा करो। क्योंकि जो जिसकी नित्य सुमरन करता है सो अंतकाल में याद आवै है सो सिवा भगवान के और देवता नित्य नहीं हैं। जिससे जो काल से बचा चाहे तो काल के स्वामी भी भगवान हैं। जिनका सुमरन करै नित्य। सो अंतकाल भी याद रहै श्री भगवान की। जब भगवान में प्रापत होय। जिससे और सबकी याद छोड़ि के ये भगवान की याद करै जो ब्रह्म से मिला चाहै तो सच करिके।"

सि० सा०—'सि० सा०' अक्षरों से अँन शाह के तीन ग्रन्थों के नामों का बोध होता है। 'सिद्धान्त सागर' नामक ग्रन्थ दतिया के श्री नारायणदास चौधरी के पास है और वे बड़े श्रद्धाभाव से उसे पढ़ते हैं 'सिद्धान्त सार' नामक ग्रन्थ भी दतिया में किसी के पास है। एक और ग्रन्थ 'सिद्धान्त सारिका' का उल्लेख इनके 'उपदेस हुलास' में मिलता है। अनुमानत: प्राप्त पृष्ठ इनमें से किसी ग्रन्थ के हैं। पृष्ठ क्रमांक ४ से लगाकर ५० तक के यह पृष्ठ बड़े ही सुन्दर लेख में और अन्यों की अपेक्षा मोटे कलम से लिखे हुए हैं। उस ग्रन्थ की (जिसके यह पृष्ठ हैं) रचना-काल, रचना-स्थल आदि की कोई जानकारी हमें नहीं मिल सकी है। प्राप्त पृष्ठों में कुण्डलियाँ ही हैं जिनकी संख्या अस्सी के लगभग है। अनुमान है कि कई अध्यायों वाला यह भी वृहदाकार ग्रन्थ रहा होगा। कुछ कुण्डलियों का रसस्वादन कीजिए—

हरि हर जा हर होर हे हरि हर आप सहाय।
रछा कीनीं गरभ में जहाँ कोई पहौंचत नांय।
जहाँ कोई पहौंचत नांय किया तहाँ पालन साईं।
अब हरि हर जा होर हे हरि हर 'अँन' सहाय,
अपनी आतम के सिवा हरि हर जन को चाय,
हरि हर जा हर होर हे हरि हर आप सहाय।
रषत रहे राषी सदा राषत है भगवान,
जो सुमरै दुख दरद में तिन सुख दीने आन,
तिन सुख दीने आन, दया दासन पै कीनी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगतन की भगवान बात तुम ही रष लीनी,
'अैन' हर तरह रष लई हरि जन की हर काँन,
रषत रहे राषी सदा राषत है—भगवान।
खुसी हमारी है वही खुशी ब्रह्म की होय,
मरजी बिना हुजूर की पात हिल नहिं कोय,
पात हिलै नहिं कोय होय जो कुछ हरि चावै,
करै जु कुछ करतार वही मेरे मन भावै,
'अैन' ब्रह्म से मिलत ही रही फिकर नहिं मोय,
खुसी हमारी है वही खुसी ब्रह्म की होय।
हम नाहिं हम हैं नहिं हौ तुम ही मुख्तयार,
जब हम थे तब तुम न थे अब तुम हौ करतार,
अब तुम हो करतार, करौ जो चाहौ साईं,
चाहौ दुख में रहौ चाहौ सुख के माहि,
तुम हरि अपना आप से 'अैन' करत ब्यौहार,
हम नाहिं हम हैं नहिं हौ तुम ही मुख्तयार।

अैनानंद सागर—खेद का विषय है कि 'अैनानंद सागर' नामक इस ग्रन्थ के कुछेक पृष्ठ ही प्राप्त हो सके हैं, इसमें भी कई अध्याय थे और प्रत्येक अध्याय को 'हिलोर' कहा गया है। इसमें चौपाई, दोहा, सोरठा शैलियों में रचनाएं हैं। कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

चौपाई

अकथ अगाध कहा नहिं जाई।
ताकौं मन बुध चित नहिं पाई॥
नेत नेत कर वेद भि गावैं।
सबदातीत ग्यान नहिं पावैं॥
ग्रह-काल-नर-राछस-देवा।
कोई न पावत प्रभु को भेवा॥
मन बुध इंद्री सबद विचारा।
यह नहिं पहौंचत जहां करतारा॥

दोहा

निरवाचा प्रभु के तईं, बेद बेदांत बताय।
गूंगे के से सैन है, 'अैन' पाय सो पाय॥

सोरठे

चैंटी कैसी प्यास, मम बुध प्रभु गुन कहन कौं।
प्रभु गुन सिंधु सुवास, केती प्यास पपील की॥
व्यापक हैं यक सायं, प्रभु अखंडित गगन ज्यौं।
सब कौं सदा सहाय, नभ जड़ प्रभु चैतन्य हैं॥

उपर्युक्त वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त अैन शाह के मूल ग्रन्थों की खोज में की गई दतिया यात्रा के समय जो जानकारी हमें मिली है उसके अनुसर एक ग्रन्थ दतिया के रामचन्द्र लखेरे के पास है किन्तु उसे देख न पाने के कारण उसका नाम ज्ञात नहीं हुआ। उस समय वह ग्रन्थ उनके पास नहीं था, शायद उसका नाम 'सिद्धान्त सार' होगा। 'ऐैन बिहार' तथा 'नर चरित्र' नामक दो मूल ग्रन्थ श्री उदय शंकर जी शास्त्री (आगरा वि० वि०) के पास हैं जो उन्हें दतिया के श्री हरिदास 'हरिहर' से प्राप्त हुए हैं। वैसे श्री हरिहर ने हमसे एक भेंट में बताया था कि उनके पास १२ मूल ग्रन्थ थे जो उन्होंने श्री शास्त्री को कुछ वर्ष पूर्व ही 'डोनेट' कर दिये थे, किन्तु श्री शास्त्री ने अपने एक पत्र में हमें यह साफ शब्दों में बताया कि श्री हरिहर जी से उन्हें केवल दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। हमारा अनुमान है कि अन्य ग्रन्थ अब भी श्री हरिहर के पास हैं, किन्तु पता नहीं क्यों उन्होंने हमें वे बताना पसन्द नहीं किया (?) 'हरि प्रसाद' नामक एक ग्रन्थ दतिया के चौ० नारायण दास के पास है। साथ ही 'सिद्धान्त सागर' नामक ग्रन्थ का भी बहुत बड़ा भाग उनके पास हैं। श्री हरिमोहन लाल वर्मा के मतानुसार (अभिनंदन-स्मृति-पुस्तिका) अैन शाह की एक पुस्तक 'अैन साईं की हिलोर' प्रकाशित भी है। हमने उनसे ही नहीं—इस विषय में जानकारी पाने के लिए दतिया के अन्य लोगों को भी काफी पत्र लिखे किन्तु किसी ने हमारे जवाबी पत्रों तक का उत्तर नहीं दिया। श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने अपने एक लेख (सरस्वती जु० ६६ ई०) में अैन शाह के ग्रन्थों की जो सूची दी है वह रचना-काल के क्रमानुसार इस प्रकार है:—

१. गुरु-उपदेस-सार (पद्य) रचनाकाल १८७३-७४ वि०
२. सिद्धान्त-सार ,, ,, १८७४ ,,
३. भक्त रहस्य ,, ,, १८८४ ,,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. इनायत हुजूर	,,	,,	१८८४-९१	,,
५. सूर-रहस्य	,,	,,	१८८४	,,
६. अनुभव-सार	,,	,,	१८८६	,,
७. ब्रह्म विलास	,,	,,	१८८७	,,
८. सुख विलास	,,	,,	१८८८	,,
९. भिक्षुक-सार	,,	,,	१८८८	,,
१०. भगवत प्रसाद	,,	,,	१८८८	,,
११. श्याम हितकार	,,	,,	१८८९	,,
१२. हित-उपदेस	,,	,,	१८९१	,,
१३. हरी प्रसाद	,,	,,	१८९१	,,
१४. ऐन बिहार	(गद्य)	,,	१८९२	,,
१५. नर चरित्र	(पद्य)	,,	१८९६	,,

इस सूची में भगवतप्रसाद का रचनाकाल उन्होंने गलत बताया है। वह १८८९ वि० में रचा गया था। इस लेख में जिन ग्रन्थों का परिचय दिया गया है, उनमें 'भगवतप्रसाद' के अतिरिक्त और किसी का नाम इस सूची में नहीं आया है। अर्थात् वे इससे पृथक हैं। इस प्रकार पन्द्रह—ये और जो इस लेख में दिए गये उन सहित—ऐन शाह के ग्रन्थों की संख्या इक्कीस तक पहुंची है, सम्भव है उस अप्रतिम विभूति ने और भी ग्रन्थों का प्रणयन किया हो जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० हिम्मतसिंह जैन
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, हिसार
(हरियाणा)

प्रसिद्ध कवि आनन्द का अज्ञात ग्रन्थ रासपंचाध्यायी

कवि परिचय

इनके अन्य नाम गंगाराम तथा कृष्णनन्द भी थे ! ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इनकी जन्मभूमि दिल्ली थी परन्तु यहाँ से वृन्दावन चले गए। तत्पश्चात् इन्होंने काशी में निवास किया। ग्रन्थ की रचना सं० १८३५ में की गई,[1] अतः यही समय उनका उपस्थिति काल है।

विभिन्न खोज विवरणों द्वारा इनके सात ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं। १. अर्जुन गीता, २. आनन्दानुभव, ३. दान लीला, ४. प्रबोध चन्द्रोदयनाटक, ५. भगवद्गीता, ६. भागवत दसम स्कंध, ७. रासपंचाध्यायी।

स्वरूप तथा सामान्य परिचय

इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति इलाहाबाद के राजकीय संग्रहालय में विद्यमान है। इस ग्रन्थ का परिचय न तो किसी खोज विवरण में प्राप्त होता है और न ही किसी लेखक ने इसका उल्लेख किया है।

ग्रन्थ की पत्र संख्या ४७ है। प्रति का आकार ७", ५" है। इसके आरम्भ में मंगलाचरण नहीं है। ग्रन्थ की फलश्रुति आदि व अन्त दोनों स्थानों पर वर्णित है।

प्रबन्ध सौष्ठव

ग्रन्थ की कथा-वर्णन-शैली पुराणों जैसी है। राजा परीक्षित को सारी कथा शुक मुनि द्वारा सुनाई गई है। स्थान-स्थान पर राजा उवाच के अतिरिक्त श्री भगवान उवाच भी अंकित है। अनेक स्थानों पर नृप शंका उपस्थित करते हैं तथा ऋषि विस्तृत उत्तर द्वारा उनकी शंका का समाधान करते हैं, परन्तु उन्होंने पुराणों की भाँति शंका समाधान के लिए प्रासंगिक घटना नहीं सुनाई।

कथा आरम्भ में अन्य पंचाध्यायी की भांति कृष्ण वेणु बजाते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते, अपितु यह ग्रन्थ कृष्ण जन्म से आरम्भ होता है। इसके पश्चात् वर्षगांठ मनाना तथा गौचारण आदि का अति संक्षिप्त वर्णन है। एक दिन वह काम के वश में हो गए, उस दिन उन्होंने रास रचा। इस प्रकार कवि ने कथा का आरम्भ नवीन ढंग से किया।

इसी प्रकार कथा का अन्त भी भिन्न प्रकार से किया है। रास समय राधा रूठ गई। शिव पार्वती वहाँ पर आए तथा उन्होंने रास देखने तथा वृन्दावन वास की इच्छा प्रकट की। राधा ने वृन्दावन वास का महत्व विस्तृत रूप में बताया। ब्रह्मा भी दर्शन के लिए आए। इसके पश्चात् कृष्ण जी घर लौट आये। अगले दिन कृष्ण जी ने दुर्वासा ऋषि के समक्ष भक्ति का निरूपण किया। कवि ने कथा के अन्त में काल्पनिक प्रसंगों का समावेश तो अवश्य किया, परन्तु आज के पाठक के लिए ये रुचिकर नहीं।

कथा के मध्य में कवि ने कहीं मौलिकता नहीं दिखाई और न ही कोई काल्पनिक प्रसंग सम्मिलित किया। भागवत पुराण की भांति ही इसमें गोपियों द्वारा छोड़े गए गृह-कार्यों की सूची प्रस्तुत की गई। इसी प्रकार गोपी विरह वर्णन प्रसंग में विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों का नाम लेकर पुकारा गया। कवि ने यह प्रसंग इतना अधिक विस्तृत कर दिया कि पाठक का मन ऊबने लगता है।

१. आनन्द वन काशीपुरी, ठारह सौ पैंतीस।
तामैं कथा वनाय के, हरिह नवायो सीस ॥
पत्र सं० ४७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि ने कथा के कुछ महत्वहीन स्थलों का विस्तृत वर्णन किया है। कृष्ण द्वारा गोपियों की शील धर्म का उपदेश आवश्यकता से अधिक विस्तृत है। प्रत्येक गोपी की मुरली प्रति उक्ति कहलाकर इस प्रसंग को व्यर्थ में विस्तृत बना दिया गया है। गोपियों की कृष्ण प्रति विनती अत्यधिक विस्तृत है।

कवि ने अपनी भक्तिभावना की तुष्टि के लिए भी कथा को नीरस बना दिया है। इसमें अनेक स्थानों पर कृष्ण भक्ति की स्थापना की गई तथा भक्तजनों को उपदेश दिया गया। भक्ति भावना से प्रेरित होकर कवि ने कृष्ण लीला का विस्तृत गान किया।

परिगणन शैली का भी अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। रास के दर्शक विभिन्न देवताओं के नाम गिनाए गए हैं। गगन के छः भूप तथा उनके पुत्रों तथा पत्नियों की सूची बनाई गई। इसके अतिरिक्त विभिन्न रोगों के नामों का वर्णन करके नीरसता में वृद्धि ही की गई है।

ग्रन्थ का कथा चयन भक्त हृदय के लिए चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न हो, प्रवन्ध सौष्ठव की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता। कथा का श्रृंखलावद्ध वर्णन करने पर भी कवि सरस स्थलों की योजना न कर सका, न ही नीरस स्थलों का परित्याग कर सका।

चरित्र अंकन

इस ग्रन्थ में कृष्ण तथा गोपियाँ केवल दो ही पात्र है परन्तु कवि उनका चरित्र भी भली-भांति अंकित न कर सका।

कृष्ण :—कवि ने कृष्ण के चरित्र को गिराया है। वह कामातुर चित्रित किये गये हैं। काम के वश में होकर ही उन्होंने रास रचा।

सबके कांधे पर भुज धरें, काम कलोल महा तव करें।
कबहू कुच गहते वनवारी, कबहू कपोल गहे गिरधारी ॥[२]

२. रास पंचाध्यायी पत्र सं० २७

राधा के मान करने पर अधीर हो उठते हैं तथा कामुक नायक की भांति गिड़गिड़ाते हुए कहते हैं—

हाथ जोड़े बोले बनवारी, विनती सुन मेरी प्रीत प्यारी।
कौन चूक हम सौं भई, जो तुम कीजो मान ॥[३]

कृष्ण का ईश्वरीय रूप कवि ने भली-भांति चित्रित किया है। वह भगवान् के स्वर में बोलते हैं—

जो तिय पति आज्ञा में रहे, अन्त काल मेरो दर्शन लहे।[४]

गोपियाँ :—इसमें राधा के अतिरिक्त आठ गोपियों का उल्लेख है। राधा तो इतनी सुन्दर है कि "एक घरी में चेते हरि, तवे दृष्ट राधा पै पड़ी"[५] आनन्द कवि की गोपियों की एक ही विशेषता है कि वे भी कृष्ण की भांति कामातुर हैं।

खायो सवन काम को वान, कछु न मन में कीयो ज्ञान।[६]

वे रास समय भी कृष्ण से लिपट-लिपट कर कर काम पिपासा की तृप्ति करती हैं—

एक जो भई प्रेम रस माती,
जा लिपटी मोहन की छाती।[७]

वर्णन कौशल

कवि में वर्णन शक्ति का अभाव है। उसने प्रकृति को छूआ ही नहीं, रास तथा रूप का वर्णन भी अति नीरस बन पड़ा है।

रास वर्णन :—आनन्द कवि ने रास वर्णन में संगीत तथा नृत्य की झँकार का वर्णन नहीं किया। अपितु इसे केवल काम साधना का रूप प्रदान किया गया—

काहू के हरि कुच गहे, काहू के गहे कपोल।
काहू के चुकटी भरे, या विध करे कलोल ॥[८]

३. रासपंचाध्यायी पत्र सं० ३७
४. वही पत्र सं० ६
५. वही पत्र सं० ६
६. वही पत्र सं० ७
७. वही पत्र सं० ३८
८. रासपंचाध्यायी पत्र सं० १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप वर्णन :—कवि ने रूप वर्णन में कोई नवीनता नहीं दिखाई अपितु पात्रों का रूप वर्णन परम्परागत शैली में किया गया।

हीरन को सिर मुकुट राजे,
जाकी चमक देख शशि लाजे।
कान मक्राकृत कुंडल सोहें,
और हीरन के क्रम कहें॥[९]

रस-परिपाक

ग्रन्थ में एक मात्र रस शृंगार है। इसके दोनों पक्ष संयोग तथा वियोग इसमें चित्रित हैं।

संयोग चित्रण में कामुकता का समावेश होने के कारण कवि पूर्ण रूप से सफल न हो सका—

इक-इक बाला कृष्ण बुलाई, अत रुच सौं गरे लगाई।[१०]

विरह चित्रण में कवि ने भागवत पुराण का अनुकरण किया है। अत: इसमें न मौलिकता है न ही सरसता—

पुन आई जहां ठाढ़ो चंदन,
पूछत तैं देखे नंद नंदन।
तुम सहावे अग लगावे,
अंग कहा है सीस चढ़ावै॥
तुम हो सब वृक्षन के ईस,
चढ़े सकल देवन के सीस।
श्री नन्द नन्दन हमें बताओ,
तब दुख कंदन नाम कहाओ॥[११]

भाषा-शैली

कवि की भाषा अव्यवस्थित तथा भावों का भार वहन करने में असमर्थ है। भाषा में लालित्य न होने के कारण ग्रन्थ कई स्थान पर नीरस तुकबन्दियों का घर बन गया है।

एक सखी ने पग के नूपर, बांधे दोऊ भुज के ऊपर।
एक पिछोड़ी कर मैं बांधै, और लहँगा को डारत कांधे।[१२]

९. वही पत्र सं० ३
१०. वही पत्र सं० १२
११. रासपंचाध्यायी पत्र सं० १३
१२. वही पत्र सं० ५

छन्द-विधान

इसमें केवल दो छन्द दोहा व चौपाई प्रयुक्त हैं। अधिकतर इनकी मात्रा संख्या ठीक है परन्तु कुछ स्थानों पर मात्रा की न्यूनाधिकता भी मिलती है।

गैल, भट्, ताती आदि ग्रामीण शब्द भी इसमें प्रयुक्त हैं।[१३] सरस संस्कृतमयी शब्दावली का इसमें पूर्ण अभाव है। मुहावरों का प्रयोग किंचित मात्र भी नहीं किया गया।

दोहा

हरि के सनमुख आय के=१३
तिन पूछे दोऊ नैन[१४]=१२
हाथ जोड़ बोली तबे=१३
सुनो स्याम सुख दैन=११

चौपाई

सर मैं कमल फूल कूँ देखो=१७
हरि के कमल नैन ज्यों पेखो[१५]=१६
कमल औड देखो धर ध्यान=१५
कमल नैन के नैन समान=१५

अलंकार-योजना

कवि की रुचि अलंकरण की ओर किंचित मात्र भी नहीं है। ढूँढ़ने से निम्न अलंकारों के उदाहरण एक दो स्थान पर प्राप्त होते हैं—

अनुप्रास—इक जल की सिर ल्यावत मटकी,
सोभुम पटकी नट ढिग सटकी।[१६]

पुनरुक्ति प्रकाश—इक इक वाम और इक इक स्याम,
पूरण कीने सब के काम।[१७]

उपमा—सर मै कमल फूल कूँ देखो,
हरि के कमल नैन ज्यों पेखो।[१८]

प्रतीय—इक शशि निकसी बीच अकाश,
दूजो भुम मै भयो प्रकाश।
शशि राधा कों देख लजावे,
क्षिण क्षिण बदरी मैं छिप जावे॥[१९]

रूपक—चन्दा ते देखे कहूँ श्री व्रजचन्द्र कुमार[२०]

१३. दे० वही पत्र सं० ६, १६, ४६
१४. रासपंचाध्यायी पत्र सं० १०
१५. वही पत्र सं० १६
१६. वही पत्र सं० ४
१७. वही पत्र सं० ३०
१८. वही पत्र सं० १६
१९. वही पत्र सं० ६
२०. वही पत्र सं० १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-विषय

जनवरी १९७५ से दिसम्बर १९७५ तक

नाम	विषय
उर्मिला रानी सोनी	अद्यतन हिन्दी उपन्यास का समाज-मनोवैज्ञानिक संसार
श्रीमती स्वर्ण दत्त	आधुनिक हिन्दी उपन्यास में बदलते सामाजिक संबंधों का स्वरूप १९३६ से १९७२ तक
शशि प्रभा	दी स्ट्रक्चरल स्टडी आफ कॉन्टेम्पोरेरी हिन्दी ड्रामा
शशि बाला शर्मा	हिन्दी साहित्य में ललित निबन्ध का विकास : भारतेन्दु युग से १९७४ तक
सुदर्शन डोगरा	घनानन्द काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन
रश्मि शर्मा	हिन्दी भक्ति कविता में प्रतीक विधान—भक्ति कालीन काव्य के आधार पर
सन्तोष	हिन्दी मध्यकालीन भक्ति के विकास में हिन्दी के मुसलमान कवियों का योग
उषा सिंघल	सन्त कवि चरणदास का साहित्य
निशा अग्रवाल	रीतिकाव्य की श्रृंगारेतरभाव व्यंजना का अध्ययन एवं स्वरूप विश्लेषण
शशि प्रभा	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार और समाज
सुदर्शन कुमारी आहूजा	आत्मकथानक शैली के हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन
शरदचन्द्र बहुगुणा	आधुनिक कहानी में मानवीय संवेदना के विविध स्वरूप और उनका विकास : १९३६ से १९७२ तक
उषा शर्मा	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध साहित्य में व्यंग हिन्दी नाटकों में संघर्ष
शशि मलहोत्रा	हिन्दी नाटकों में संघर्ष : स्कन्दगुप्त से आधे अधूरे तक
पीताम्बरदत्त शर्मा	ए डिस्क्रिप्टिव एनलेसिस आफ गढ़वाली : विद स्पेशल रैफरेन्स टू रथवाली सब-डायलैक्ट :
ईश कुमारी	हिन्दी के उपन्यासकारों के उपन्यास-सिद्धान्त
युगल किशोर	दिनकर की काव्य-चेतना
ब्रह्म दत्त शर्मा	गुरमुखी लिपि में उपलब्ध योग वाशिष्ठ भाषा : एक अध्ययन
[illegible]त्री देवी	दिनकर का काव्य : एक मूल्यांकन : रोमांटिक बोध के सन्दर्भ में
शमशेर गुप्ता	हिन्दी में सन्दर्भ ग्रन्थों की परम्परा एवं प्रयोग
उषा कुमारी	मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में राधा, रास और रहस्य तत्व का अध्ययन एवं स्वरूप विश्लेषण
ओम प्रकाश	पौराणिक प्रबन्ध-काव्य परम्परा और महाकवि दिनकर
सुरेन्द्र कोछड़	हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के कृष्ण-काव्य के विकास का अध्ययन एवं स्वरूप-विश्लेषण
ललिता देवी	गुरु नानक काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन
आत्माराम शर्मा	कबीर और तुलसी के जीवन दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

दिसम्बर १९७५ तक

शोधक का नाम	विषय
१. सुवर्ण रानी	हिन्दी के नायक-विहीन उपन्यास
२. उषा गुप्ता	हिन्दी काव्य में युद्ध वर्णन
३. मदन लाल	हिन्दी राम काव्यों के प्रमुख पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन—संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के राम काव्यों के सन्दर्भ में
४. कान्ता शर्मा	ए क्रिटिकल स्टडी आफ पारसभाग विद स्पेशल रैफरैन्स टू सेवा पंथ एण्ड टू हिन्दी लिटरेचर-कलटीवेटिड अण्डर दी एजीस आफ सेवा पंथ
५. मुक्ता	छायावादोत्तर काव्य में प्रकृति
६. मायानन्द बोहरा	गुरु प्रताप सूरज : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन
७. पुष्पा नरेजा	भारतेन्दु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना
८. पुष्पा रानी डे	प्रेमचन्द तथा शरत्चन्द्र के कथा साहित्य के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन
९. सुरेन्द्रकुमार गुप्ता	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति
१०, बलबीरसिंह रावत	हिन्दी काव्य में राम का स्वरूप और मूल्यांकन : तुलसी से निराला तक :
११. कुसुमलता	हिन्दी नाट्य चिन्तन का विकासात्मक अध्ययन : १८५० से १९७० तक :

तेईसवां अंक, जनवरी, १९७६

मूल्य : पाँच रुपया

प्रकाशक तथा वितरक

डॉ० गोविन्दनाथ राजगुरु

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

पंजाब यूनीवर्सिटी, चण्डीगढ़

डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज द्वारा सम्पादित और माडर्न प्रिंटर्स, के-३०, नवी नशाहदरा दिल्ली-३२ द्वारा मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

Lib. 13

27-1-77

१४

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशोध

सम्पादक : डा० धर्मपाल मैनी
सह सम्पादक : डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
डा० यश गुलाटी

क्रम

सम्पादकीय

साहित्य की मूल-चेतना :		डॉ० धर्मपाल मैनी

शोध निबन्ध

प्रसाद की कहानियों में नारी	७	डॉ० कृष्णा रैना
समकालीन साहित्यालोचन की निजतम एवं प्रामाणिक पद्धति : संवेदनशास्त्रीय ग्रालोचना	१३	गुरुचरण सिंह मोंगिया
नगरीकरण, नगरबोध तथा ग्राधुनिक बोध	१७	डॉ० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
महाकवि भारवि के काव्य में भारतीय संस्कृति का चित्रण	२७	शशिधर शर्मा
ग्रपने ग्रपने ग्रजनबी : मरण ग्रौर वरण के बीच	४२	डा० श्यामसुन्दर दुबे
ग्राचार्य नड़पाद् कृत सेकोद्देश टीका	४७	डा० विष्णुदत्त राकेश
'न्याय दर्शन' के ग्रनुसार 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का विश्लेषणात्मक ग्रध्ययन	५४	डॉ० ग्ररुणा गोयल
गुरु तेगबहादुर की भक्ति-साधना	६४	डॉ० ग्राशानन्द वोहरा
ग्राधुनिकता का ग्रारंभ बिन्दु : उपाध्याय पण्डित बदरी नारायण चौधरी —'प्रेमघन' की कविताएं	७६	डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय
शंकर देव के नाटकों में राम का स्वरूप	८७	दर्शन कुमार जैन
तुलसी ग्रौर सूर परम्परा के कविरत्न भक्त कवि बारठ ईसरदास	९०	भूर चन्द जैन
गुरुभक्त सिंह 'भक्त' के प्रणय-काव्य का स्वच्छन्दतावादी स्वरूप	९३	डॉ० लखनलालसिंह 'ग्रारोही'
गुरु तेग बहादुर का जीवन ग्रौर वाणी: एक ग्रध्ययन	१०२	प्रेमभूषण गोयल
रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' कृत 'चन्द्रकला भानु कुमार' नाटक में चरित्र योजना	११४	उषा शर्मा

पुस्तक-परिचय

लहरों के राजहंस :विविध ग्रायाम	१२१	डॉ० सत्येन्द्र तनेजा

हस्तलेख-परिचय

ग्रज्ञात कवि सुन्दर सिंह विरचित पंचाध्यायी	१२५	डॉ० निजामत सिंह जैन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

सम्पादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० धर्मपाल मैनी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

साहित्य की मूल-चेतना

मध्य-युगीन चेतना के प्रखर विद्वान् आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी परिशोध के संस्थापक व आदि-सम्पादक रहे हैं। तत्पश्चात् साहित्य की आधुनिक बोध के माध्यम से व्याख्या करने वाले डा० मदान ने इस कार्य-भार को संभाला। मध्य-युग के सांस्कृतिक-साहित्य-साधक की सरसता तथा आधुनिक-युग के बौद्धिक-विश्लेषक की अभिव्यक्ति, अब परिशोध के माध्यम से दोनों ही परम्पराओं को वहन करने का दायित्व मुझे सौंपा गया है।

प्राचीन हस्त–लिखित ग्रन्थों का नवीन परिचय, कृति के माध्यम से कृति और कृतिकार दोनों का मूल्यांकन, साहित्य-सिद्धान्तों का शास्त्रीय-विश्लेषण, नव-चिन्तन का विवेचन, अन्यान्य साहित्यिक वादों की व्याख्या, विश्व के महान् विचारकों की साहित्य और समाज को देन आदि सभी सम्वद्ध विषयों पर स्वस्थ-साहित्य के सृजन का कार्य करते हुए शोध और आलोचना के क्षेत्र में गत बारह वर्षों में परिशोध ने अपना जो स्थान बनाया है, वह किसी से छिपा नहीं है। अब हमें इस परम्परा को सफलता-पूर्वक आगे बढ़ाना हैं।

स्वस्थ साहित्य मानवीय-चेतना को उद्‌बुद्ध करता है। भारत के ही क्या, विश्व-भर के प्रत्येक विचारक ने एक स्वर में स्वस्थ-साहित्य के ही सृजन का स्वर निनादित किया है। मेरा विचार है कि किसी ने भी कभी 'अस्वस्थ साहित्य' का पक्ष नहीं लिया। फिर भी बहुत अधिक 'अस्वस्थ साहित्य' लिखा गया है। संभवत: इसका एक बड़ा एक कारण यह है कि देश तथा काल के परिप्रेक्ष्य में 'स्वस्थ' ठीक से कभी व्याख्यायित न हो सका हो और मुझे लगता है कि आज भी इसकी अपेक्षा बनी हुई है।

व्यक्ति और समाज का कल्याण ही स्वस्थ-साहित्य की सबसे बड़ी कसौटी प्रतीत होती है। शिव-तत्त्व की दृष्टि से बहुधा व्यक्ति सामाजिक-चेतना से टकराता है—ऐसा बहुत से विचारकों का मत है। लेकिन मुझे लगता है, कि व्यापक मानव–समाज का अंग होने वाले व्यक्ति की भलाई समाज की भलाई की विरोधी हो नहीं सकती। यहां विरोध नहीं, विरोधाभास मात्र है, क्योंकि जो व्यक्ति के कल्याण के लिए होगा, वह समाज के लिए भी अहितकर नहीं हो सकता, और जो समाज के लिए हितकर है, वह व्यक्ति के लिए भी शिवत्व-हीन नहीं हो सकता। हां, वैयक्तिक स्वार्थ-मात्र को भलाई समझने के प्रयत्न में यह भूल हो सकती है। अत: स्पष्ट है, कि स्वस्थ साहित्य की महत्व-पूर्ण कसौटी 'व्यक्ति और समाज का कल्याण' ही है।

यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के प्रयत्न में नवीनता और आधुनिकता के मोह में, कहीं आज का लेखक साहित्य की मूल-चेतना को भूलता तो नहीं जा रहा है। प्रबुद्ध साहित्य-रसिक एवं सृजन-धर्मा आलोचक को दिशा-निर्देश न सही, दिशा-संकेत तो करना ही होगा। सच्चे शोधार्थी को भी पूर्वाग्रह एवं मोह विशेष का त्याग कर साहित्यिक तथ्यों में से सत्य को अन्वेषित करना ही होगा। ऐसे साहित्य-रसिक, सृजन-धर्मा आलोचक तथा सत्यान्वेषी के माध्यम से परिशोध साहित्य, आलोचना तथा शोध का पथ-प्रशस्त कर सकेगा। इस विश्वास से प्रत्येक सर्जक, आलोचक तथा शोधक के सुझाव सादर आमन्त्रित हैं। परिशोध के गत्यात्मक विकास में इसे नया आयाम भी समझा जावे, तो भी मुझे आपत्ति नहीं होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध निबन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० कृष्णा रैना
हिन्दी विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
शिमला-५

प्रसाद की कहानियों में नारी

सृष्टि के विकास की कहानी के दो मूल तत्व हैं पुरुष और नारी; यही सृष्टि को परिचालित करते हैं और इसके उपभोक्ता भी हैं। प्रसाद जी श्रद्धा (नारी) को एक आस्तिक सद्वृत्ति मानते हैं जो चेतन शक्ति का उदात्त रूप है। प्रसाद जी ने नारी को पुरुष की सहायिका और कल्याण करने वाली माना है। मानवता का प्रसाद नारी ही बांट सकती है, इसी कारण इनकी नारी प्रेम, सेवा और समर्पण लिए हुए है।

हिन्दी कहानी प्रसाद की चर्चा के बिना अधूरी रह जाती है। प्रसाद जी मूलत: सांस्कृतिक चेतना के कहानीकार हैं। इनके पांच संकलनों में लगभग उनहत्तर कहानियाँ हैं। इनकी प्रथम कहानी 'ग्राम' सन् १९११ ई० में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी और इनका कहानी काल सन् १९११ ई० से लेकर सन् १९३६ ई० तक फैला हुआ है जिसके बीच इन्होंने छाया (१९१२ ई०) प्रतिध्वनि (१९२२ ई०) अकाशदीप (१९२९ ई०) आँधी (१९३१ ई०) और इन्द्रजाल (१९३६ ई०) में अपनी कहानियाँ दीं। ये सभी संकलन भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हैं। 'छाया' की कहानियाँ मानस पर पड़ी हुई छाया की स्मृति का अंकन हैं। 'प्रतिध्वनि' में इन्होंने नयी कला, नयी अनुभूति और नवीन-दृष्टिकोण को मूर्त किया है। आकाशदीप की कहानियों में भावात्मकता, काव्यतत्व और नाटकीयता के दर्शन होते हैं तथा आंधी की कहानियाँ किसी विशेष भाव में मानव-चरित्र को प्रकाशित करती हैं। रूप की दृष्टि से भी इनकी कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। इनकी कई कहानियाँ आत्मकथात्मक शैली और पत्र शैली में हैं। प्रसाद जी चूंकि मूलरूप से कवि हैं अत: इनकी कहानियाँ भी काव्यात्मक भाषा से ही सुसज्जित हैं। इनकी कहानियों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे कहानियाँ होते हुए भी काव्य हैं। उनकी सब प्रकार की कहानियों में खण्डकाव्य का सा आनन्द आता है।[1] अशोक, मदन-मृणालिनी, आँधी, सालवती, दासी, व्रतभंग आदि कहानियाँ लम्बी भी बन पड़ी हैं। ये कहानियाँ काव्य-रस में हमें लीन भले ही करें, कल्पना के सुनहले लोक में भले ही पहुंचा दें (कहानी कविता का पर्याय तो नहीं) किन्तु 'प्रतिध्वनि', 'आँधी' और 'आकाशदीप' की अधिकांश कहानियाँ टेकनीक की इस अपेक्षा से या तो काव्य हो गई हैं या अविकसित उपन्यास। अनेकबार तो इतना काल-फलक ले लिया जाता है कि स्वंय लेखक उसके निर्वाह की कठिनाई के अनुभव की घोषणा कर देता है।[2]

प्रसाद जी ने कहानियों में पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को भिन्न संदर्भों और भिन्न कोणों से अभिव्यक्त किया है। इनकी आरम्भिक कहानियाँ वर्णनात्मक, प्रतीकात्मक और ऐताहासिक हैं जिनमें लेखक ने प्रेम और सौंदर्य को कल्पना के रंग से उभारा है। डा० लाल प्रसाद जी को एक ऐसा कहानीकार मानते हैं जिसकी

१. **हिन्दी कहानी उद्भव और विकास**, डा० सुरेश सिन्हा, पृष्ठ ३५९, स० १९६७
२. **कहानी सिद्धान्त और विवेचन**, महेन्द्र (डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल का लेख), पृष्ठ १५०, संस्करण १९६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी भावों की अनुवर्तिनी रही है, शिल्पविधि की अनुवर्तिनी नहीं।[3] इनकी आरम्भिक कहानियों में परिस्थितियों का चित्रण प्रमुख है और मनोवैज्ञानिक धरातल कम। आकाशदीप की कहानियाँ प्रेम-प्रसंगों की कहानियाँ हैं और मुख्य रूप से संवेदनात्मक हैं। जहाँ प्रेमचन्द आदर्शवाद के लिए अधिक आकुल रहते थे वहाँ प्रसाद जी भारतीय संस्कृति और मर्यादा के तत्वों को कहानियों में प्रस्तुत करते थे। उनका दृष्टिकोण रोमान्टिक था और वे कहानी को एक सूत्रता में बाँध कर व्यंजना की तीव्रता को प्रमुखता देते थे और ऐसी कहानियों के लिए उन्होंने सांकेतिक प्रणाली भी अपनाई। वास्तव में प्रसाद जी ऐसे कहानीकार हैं जिनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था पर कहीं भी यथार्थ की उपेक्षा उन्होंने नहीं की, उन्होंने मानव चरित्रों को पहचाना और उन्हें उचित संदर्भों में प्रस्तुत किया।

प्रसाद की रचनाओं पर बौद्धदर्शन की गम्भीर छाया स्वीकार की जाती है और इसका प्रभाव नारी-चरित्रों में भी आंका जा सकता है। अपने समूचे साहित्य में प्रसाद जी नारी को गौरवपूर्ण स्थान देते हैं। उनके नाटकों और काव्यों की भाँति ही कहानियों का भी स्त्रियां ही संचालन करती हैं। उन्होंने नारी को परम्परागत माता, पत्नी, प्रेमिका, पुत्री आदि रूपों में अंकित किया और परिस्थिति से विवश नारी को वेश्या तथा देवदासी के रूप में भी प्रस्तुत किया। इनके नारी पात्र करुण और भावुक हैं जिससे इनकी कहानियाँ संवेदनशील बन गई हैं। डा० लाल ने प्रसाद के नारी पात्रों के विषय में बिल्कुल ठीक कहा है कि ये स्त्री शक्तियाँ कभी पुरुष को पतन की ओर नहीं ले जातीं, वरन् पुरुषों को सर्वथा कर्त्तव्य का ज्ञान कराती हुई उनमें जीवन फूंकती चलती हैं।[4] इनके नारी पात्रों में प्रेम, दया, क्षमा और करुणा की भावना मिलती है जो उन्हें आदर्श प्रतिमा का रूप देती है। इसी कारण 'आकाशदीप' की 'चम्पा', 'पुरस्कार' की 'मधूलिका', 'सालवती' की 'सालवती' आदि लोक-मंगल की भावना से पूर्ण प्रेम की प्रतिमाएं हैं। इनके नारीपात्र कर्मशील हैं, अन्तर्द्वन्द्व से पूर्ण, कहीं यौवन, कहीं त्याग और कहीं वात्सल्य से पूर्ण हैं। 'जहाँनारा', की 'जहाँनारा', 'अशोक' की 'तिष्यरक्षिता', 'चितौर-उद्धार' की 'राजकुमारी' प्राचीन भारतीय आदर्श और गौरव की प्रतीक हैं जिनके चरित्र में उत्सर्ग की कामना है। इनकी कहानियों की स्त्रियाँ युवतियां हैं जो अपने रूप-यौवन से पुरुषों को आकर्षित करती हैं और हृदय में करुणा और वेदना लिए हुए हैं। इनका प्रतिनिधित्व 'करुणा की विजय' की 'रामकली', 'चन्दा' की 'चन्दा' और 'रसियाबालम' की 'राजकुमारी' करती है। प्रसाद-साहित्य में नारी का वह रूप मिलता है जिसमें प्रणय की एकनिष्ठता भी है और मानव-कल्याण की भावना भी। एकनिष्ठता के लिए वे विश्वास की आवश्यकता का अनुभव करतीं हैं। प्रेम का वाणिज्य प्रसाद को अरुचिकर है, इसी कारण 'दामिनी' और 'विजया' को जीवन का वैषम्य भोगना पड़ा। इनके साहित्य में प्रेम का आदर्श है हृदय की एकलयता। इनकी प्रेमपूर्ण नारियों के लिए प्रणय ही श्रेष्ठ उपलब्धि है क्योंकि वहाँ प्राप्ति की आकांक्षा के स्थान पर उत्सर्ग की भावना ही विशिष्ठ है। यद्यपि प्रसाद जी नारी को सामाजिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं परन्तु जहां नारी अपनी कर्त्तव्य-भावना को भूलकर समानाधिकार की प्रतिद्वन्द्विता को महत्व देती है वहां प्रसाद जी उसे जीवन की विभीषिका में उलझा कर सोचने के लिए विवश करते हैं। नारी की वास्तविक महानता उसके नारी रूप में है, पुरुष रूप में नहीं। इस प्रकार जहां रूप और सौंदर्य से गर्विता नारी अपने जीवन की स्वभाविक शान्ति को छोड़कर घर की उपेक्षा कर सामाजिक क्षेत्र में पुरुष से स्पर्धा कर महत्वाकांक्षायों का शिकार बनती हुई अपने लिए ही धूमकेतु बन

३. **हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास**, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पृष्ठ १७१, सं० १९६७,

४. वही, पृष्ठ १७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है वहां प्रसाद जी की करुणा आंसू बहाती हुई[5] उस अभागिन को उसके भविष्य के प्रति सचेत कर देती हैं। 'अजातशत्रु' की 'माधवी' में इसका उदाहरण स्पष्ट देखने को मिलता है।

प्रसाद जी ने कई कहानियों का निर्माण शुद्ध प्रेम के धरातल पर किया है और यह धरातल आदर्शवादी भी है तथा रूमानी और काल्पनिक भी। कई कहानियों में प्रेम और कर्त्तव्य का सामंजस्य है। 'चन्दा' आदर्श के धरातल पर स्थिर है, वह हीरा से प्रेम करती है और रामू के साथ विवाह की अस्वीकृति देती है। रामू और हीरा के द्वन्द्व में वह तनिक भी विचलित नहीं होती। द्वितीयबार रामू हीरा को मारता है परन्तु तब भी चन्दा रामू को स्वीकार नहीं करती। वह रामू का वध कर स्वयं भी आत्महत्या करती हुई कहती है—"हीरा...हम...तुमसे...मिले ही..."[6] 'रसियाबालय' की राजकुमारी भी आदर्श प्रेमिका है, वह अपने प्रेमी रसिया के विषपान के पश्चात् विष का घूंट पीती है और अपने को समाप्त कर देती है। प्रसाद जी की 'शीरीं' भी सदैव अपने बुलबुल को खोजती है। वह बिसाती के प्रति आकृष्ट है। शीरीं का विवाह हो जाता है और एक दिन वही बिसाती कुछ विलायती और कश्मीरी चीज़ें लाकर शीरीं को उपहार देना चाहता है जिस पर शीरीं का सरदार आपत्ति करता है। बिसाती गठ्ठरी वहीं छोड़कर भाग जाता है और पुनः नहीं आता। शीरीं को गम्भीर चोट पहुंचती है। वह बिसाती के मार्ग की ओर देखती हुई अपने पति के प्रश्नों का उत्तर देती है—"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दोस्तान की ओर चला गया था वह लौट कर सवेरे दिखाई पड़ा, पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा तो वह उधर कोहकाफ़ की ओर भाग गया।"[7] उसका मूल्य शीरीं नहीं चुका सकती। 'आँधी' में भी लैला का प्रेम दृढ़ और महान् है। 'पुरस्कार' में नारी को सरलता की देवी कहा गया है।[8] उसमें भोलापन, सौंदर्य और सरस चितवन है। यहां नारी अपने प्रेमी के लिए प्राणों का भी उत्सर्ग करना चाहती है। मधूलिका बुलाई जाती है और कौशलनरेश उससे पुरस्कार के विषय में पूछता हैं—"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले"[9] कहती हुई मधूलिका बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हो जाती है। पुरस्कार रूप में प्राणदण्ड प्रेम की पराकाष्ठा है। 'नूरी' कश्मीर की कली के समान है। वह अकबर के दरबार में नृत्यगान करती है। नूरी सीकरी के झील के पास अपने युवक प्रेमी की प्रतीक्षा करती है। यह उसका प्रथम अवसर था—"जीवन में आज पहले ही वह अभिसार का साहस कर सकी है, भय से उसका मन काँप रहा है; पर लौट जाने को मन नहीं चाहता, उत्कण्ठा और प्रतीक्षा कितनी पागल सहेलियाँ हैं।"[10] वह युवक शहज़ादा याकूब ही था जो कश्मीर के लिए प्राण त्यागने को भी तत्पर था, वह मातृभूमि के प्रेम के आगे नूरी का प्रेम ठुकरा देता है। अकबर याकूब और नूरी दोनों को बन्दी बनाता है। अठारह वर्ष पश्चात् मुक्त होने पर इनका साक्षात्कार होता है परन्तु अब वह सेवा को ही अपना केन्द्र बिन्दु बनाना चाहती है--"हृदय में इतना प्यार कहां रहा जो दूंगी, जिससे यह ठूंठ हरा हो जायेगा।"[11] नूरी के मन में अपने प्रेम-समर्पण और याकूब की अवहेलना सजीव हो उठी,

५. **जयशंकर प्रसाद चिन्तन व कला**, डा० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ १९५

६. चन्दा, जयशंकर प्रसाद **(छाया)** पृष्ठ २०, संस्करण २०१५ वि०

७. बिसाती, जयशंकर प्रसाद **(आकाशदीप)**, पृष्ठ १८४, सन् १९६३

८. पुरस्कार, जयशंकर प्रसाद **(आँधी)** पृष्ठ १४७, संस्करण २०२२ वि०

९. वही, पृष्ठ १५६

१०. नूरी, जयशंकर प्रसाद **(इन्द्रजाल)** पृष्ठ १२, संस्करण २०३० वि०

११. **वही**, पृष्ठ ४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर समय निकल चुका था। बेला भी साहसी प्रेमिका है। गोली से अलग करने पर वह भूरे की पत्नी तो बन जाती है परन्तु उसका वास्तविक प्रेमी गोली ही होता है। वह ठाकुर साहब की सहायता से गोली के साथ ही चली जाती है। "बेला जल्दी चलो"[12] वाक्य उसके हृदय की तीव्र अनुभूति व्यक्त करता है और एक क्षण में उस दीन भिखारी की भाँति—जो एक मुट्ठी भीख के बदले में अपना समस्त संचित आशीर्वाद दे देना चाहता है—वह वरदान देने के लिए प्रस्तुत हो गई। प्रसाद जी ने समस्त प्रतिशोधों, कटु अनुभूतियों और अन्तर्द्वंद्वों के बावजूद भी नारियों को महान् रूप दिया है। चम्पा के लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है और कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। वह अपने को निरीह और भोले भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूतियों और सेवा के लिए समझती है। प्रसाद जी की कई कहानियों की नारियां स्वतंत्र रूप से प्रणय करती हैं और नैतिक एकनिष्ठता के साथ अन्तिम समय तक उसका निर्वाह भी करती हैं। 'पुरस्कार' की मधूलिका कृषक बालिका है जो पृथ्वी पर परिश्रम करने वाली है। राजा को अपनी भूमि देकर मूल्य लेना उसे स्वीकार्य नहीं क्योंकि यह उसके पितृ-पितामहों की भूमि है जिसे बेचना एक अपराध है। उसे यह भूमि देकर मूल्य लेने में दुःख होता है—"आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया है। मैं दुःख से विकल हूं, मेरा उपहास न करो।"[13] उसे कोई मूल्य नहीं चाहिए, अपितु उतनी ही भूमि खेती के लिए चाहिए। जहाँनारा सदैव वृद्ध और हतभागे पिता शाहजहाँ के साथ रहती है और दासी के वेश में पिता की सेवा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करती है। वह तपस्विनी सी मूर्तिमती करुणा है। उसकी पितृसेवा को देखकर पाषाण हृदय औरंगज़ेब भी पसीज कर कहते हैं—"बहिन कुछ हमारे लिए हुक्म है ?"[14]

हिन्दू विधवा संसार में सबसे तुच्छ और निराश्रित प्राणी है। 'ग्राम' में प्रसाद जी ऐसी ही एक नारी के अन्तर्मन को अभिव्यक्ति देते हैं। वह विधवा अवश्य है पर उसमें स्वाभिमान है। उसका हृदय अपने ग्राम का नाम सुनकर द्रवित हो उठता है। वह असहाय नहीं अपितु अपनी उदारता का परिचय देकर कहती है—"हमारे पति इस प्रान्त के भव्य भूस्वामी थे और वंश भी हम लोगों का बहुत उच्च था।"[15] "चितौर-उद्धार" में भी भारतीय विधवा का चित्रण है। इस कहानी की राजकुमारी अपने को अपवित्र मानती है। वह अपनी ही दृष्टि में हीन है तुच्छ है—"मैं विधवा हूं, सात वर्ष की अवस्था में सुना है कि मेरा व्याह हुआ और आठवें वर्ष विधवा हुई। यह भी सुना है विधवा का शरीर अपवित्र होता है"[16] इस निराश्रित, तुच्छ प्राणी के मन में वेदना, मस्तक में आँधी और नेत्रों में अश्रु की धारा रहती है परन्तु कुमार हम्मीर के द्वारा उसे परिणीता मानकर रानी बनाकर प्रसाद जी नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं। 'ममता' रोहतास दुर्गपति के मन्त्री चूड़ामणि की दुहिता है, परन्तु वह विधवा है। विधर्मी भी भारतीय विधवा पर दया करते हैं। शांहशाह हुमायूं ने ममता को मां कहा था। उसके मन मैं पिता का वध करने वालों के प्रति घृणा है और दूसरी ओर वह स्वंय को ब्राह्मण कुमारी समझ कर कहती है—"मैं ब्राह्मणी हूं, मुझे तो अपने धर्म, अतिथि देव की उपासना का

१२. **इन्द्रजाल**, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २१, संस्करण २०३० विक्रमी

१३. पुरस्कार, जयशंकर प्रसाद (**आंधी**) पृष्ठ १४७, संस्करण २०२२ वि०

१४. जहाँनारा, जयशंकर प्रसाद (**छाया**), पृष्ठ २००, संस्करण २०१५ वि०

१५. ग्राम, जय शंकर प्रसाद (**छाया**), पृष्ठ २८, सं० २०१५ ई०

१६. चितौर उद्धार, जयशंकर प्रसाद (**छाया**) पृष्ठ ६०, सं० २०१५ वि०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालन करना चाहिए"[17] अपने एक मात्र आश्रय पिता की हत्या देखकर ममता भिक्षुणी हो जाती है और उस का कारुणिक व्यक्तित्व और कारुणिक हो जाता है।

प्रसाद जी की कहानियों में नारी—रानी, विधवा, धीवरवाला, कोलकुमारी, मालिन, संपेरिन, दासी, देवदासी, भिक्षुणी आदि अनेक रूपों में चित्रित हुई है। विधवा की भाँति ही प्रसाद जी ने वेश्याओं के अन्तर्मन को भी व्यक्त किया है। इनकी चूड़ीवाली एक नर्तकी की पुत्री है। समाज में कुलवधू की भाँति रहने के लिए उसने अत्यधिक प्रयत्न किया था। परन्तु समाज उससे सशंक था। उसके नेत्रों में कुलवधू बनने और दाम्पत्य सुख भोगने का स्वप्न था। विजयकृष्ण के व्यंग्य—"मैं वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ हूं"[18] से उसके सारे स्वप्न बिखर जाते हैं। उसने अपना व्यवसाय और विजय की गृहस्थी बिगाड़ कर जो सुख खरीदा था, उसका कोई मूल्य नहीं। उसने अपने जीवन की दिशा ही बदल डाली और सेवाव्रत लिया। वेश्याओं के सम्बन्ध में समाज में यही धारणा है कि वे कितने ही सुखी घरों को उजाड़ कर श्मशान बना देती हैं। परन्तु उसका दायित्व वेश्याओं पर नहीं अपितु इस व्यवसाय को बढ़ाने वाले समाज पर ही है। चूड़ीवाली स्वयं कहती है—"महाराज! हम लोग तो कला के व्यवसायी हैं, यह अपराध कला का मूल्य लगाने वालों की कुरुचि और कुत्सित इच्छा का है। संसार में बहुत से निर्लज्ज स्वार्थपूर्ण व्यवसाय चलते हैं फिर इसी पर इतना क्रोध क्यों?"[19] वेश्या-पुत्री होने पर भी चूड़ीवाली का प्रेम एक ही व्यक्ति के प्रति था जिसको उसने लोक सेवा में लय किया। यहां प्रसाद जी ने वेश्या के अन्तस् में सात्विक प्रेम का उदय दिखाया है। इसमें प्रेम की स्वतंत्र सत्ता का अधिष्ठान है। प्रसाद जी ने प्रणय-व्यापार के क्षेत्र में नारी की विवशता को करुणा से देखा है। सालवती भी इसी कोटि की पात्री हैं। सौन्दर्यमयी होने के कारण उसे स्वतंत्र रहने का अधिकार देकर भी कुलवधू बनने का अधिकार उससे छीन लिया जाता है। 'कालभुजंगिनी, 'वैशाली का अभिशाप' तथा 'विचार-स्वातंत्र्य के समुद्र का हलाहल' उसके विशेषण बन जाते हैं। वह समाज की प्रताड़ना का लक्ष्य बन जाती है और उसे वेश्यावृत्ति के पाप की आविष्कृति भी माना जाता है।

हिन्दुओं में देवदासी प्रथा का प्रचलन प्राचीनकाल से था। भागवत् पुराण में गोपिकाएं कृष्ण को अपना पति मानती थीं। तामिल की सन्त कवयित्री आन्दाल अपने को भगवान् की पत्नी मानती थी। मीराबाई भी राणा को नहीं अपितु कृष्ण को अपना पति मानती थी। प्राचीनकाल में देवदासियां ईश्वर की सेविकाएं मानी जाती थीं। वे भगवान् को समर्पित की जाती थीं परन्तु इनका मुख्य कार्य गाना-बजाना और नृत्य करना होता था और धीरे-धीरे इनका स्तर बहुत गिरता गया और वे पुजारियों और राजाओं को भी प्रसन्न करने लगीं। इस प्रथा को बन्द करने के लिए नियम भी बनाये गये[20] परन्तु अभी भी इसके चिह्न कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। मेसोपोटेमिया की सुमेरियन सभ्यता में प्रत्येक मन्दिर के साथ-साथ एक नारी रखी जाती थी। भारत में यह प्रथा द्राविड़

१७. ममता, जयशंकर प्रसाद (आकाशदीप) पृष्ठ २८, संस्करण १९६३ ई०
१८. चूड़ीवाली, जयशंकर प्रसाद (आकाशदीप) पृष्ठ १३२, सं० १९६३ ई०
१९. वही, पृष्ठ १३२.

20. Although the tradition of marrying girls has died-out in most parts of India, it still persists in Maharashtra and Karnatak inspite of the Devadasi Protection Act 1934.
Devdasis-married to God and Mammon by Vittal C. Nadkarni. *The Illustrated Weekly of India,* Dec. 14 to 20, 1975, Page 8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परा द्वारा आरम्भ हुई होगी। ऋग्वेद में भी नृत्यबालाओं का उल्लेख मिलता है। इन्द्र की सभा में भी गन्धर्वों और किनारों का उल्लेख मिलता है। कर्नाटक की देवदासियों की देवी येलेमा या रेणुका भी गन्धर्वों से सम्बन्धित थी। प्रसाद जी ने 'देवदासी' कहानी में नारी की इस अवस्था का संकेत किया है और उसके मन की संवेदना को अभिव्यक्त किया है। दक्षिण भारत के एक मन्दिर में 'पद्मा' को देवता के लिए उत्सर्ग किया जाता है। उसका कर्त्तव्य मन्दिर में दर्शन करने वालों का मनोरंजन करना है। वह धर्म की आड़ में अत्याचार सहती है। वह अपने हृदय की वेदना निम्न शब्दों में व्यक्त करती है—"देवता का निर्माल्य तुमने दूषित कर दिया है, पहले इसका तो प्रायश्चित करके मुझे केवल देवता के चरणों में मुरझाये हुए फूल के समान गिर जाने दो।[21] "राम-

२१. देवदासी, जयशंकर प्रसाद (**आकाशदीप**) पृष्ठ ६६, संस्करण १९६३ ई०

स्वामी उसकी भावनाओं की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते हैं और उसे देवदासियों में मिलने की आज्ञा देते हैं। इस आतंक से पद्मा कुछ बोल न सकी। उसकी वेदना, यातना, पीड़ा, विवशता सब मूक हो जाते हैं। प्रसाद जी नारी की सामाजिक दुरवस्था से क्षुब्ध थे, इसी कारण उन्होंने नारी स्वतंत्रता का समर्थन किया है। परन्तु यह स्वतंत्रता उच्छृंखलता के अर्थ में नहीं है। डा० देवेश ठाकुर के शब्दों में उन्होंने नारी स्वतंत्र्य का शंखनाद किया।[22] यह नारी पुरुष के लिए जीवन की पूर्णता और सार्थकता बन कर विश्व-वैषम्य में कल्याण-कामना लेकर आ गई। कामायनी की निम्न पंक्तियाँ इसे स्पष्ट करती हैं :—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु-रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन् यदि था तो
तुम उसमें सन्तोष बनी (पृष्ठ २२६)

२२. **प्रसाद के नारी-चरित्र**, डा. देवेश ठाकुर, पृष्ठ ३९४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरचरण सिंह मोंगिया
हिन्दी विभाग,
गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय,
अमृतसर

समकालीन साहित्यालोचन की निजतम एवं प्रामाणिक पद्धति : संवेदनशास्त्रीय आलोचना

समकालीन आलोचना की नयी भंगिमा

यह बात अब मानी जाने लगी है कि साहित्य का उद्देश्य सजग तथा प्रबुद्ध व्यक्ति-मानस के संवेदन-बोध (एइस्थेटिक् सेंसिबिलिटि) की धार को निरन्तर पैना करना है न कि उसे संवेदनहीनता की शमपूर्ण स्थितियों में अवतरित कर उस धार को कुंठित करना है या किन्हीं संवेदनातीत वेद्यान्तरशून्यता की निर्विकार स्थितियों तक उसे अति-अमूर्तीकृत कर उसकी संवेदन-बोध की धार पर 'धावन' करने की 'संवेदनात्मक-साहसिकता' (एइस्थेटिक एडवेंचरिज़्म) को नकारना मात्र है। यहाँ 'धावन' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है। हमारे यहाँ ईश्वरीय रति को 'तरवार की धार पर धावनौ है' कह कर उसके आलम्बनगत खरेपन तथा उसमें निहित चुनौती को स्वीकार करने की चेतावनी दी गई थी। मेरे विचार में शब्द-रति अर्थात् शब्द से रति भी तलवार की धार पर (नंगेपैर) दौड़ने से कम चुनौती भरा काम नहीं है। 'शब्द-रति' की इस पैनी धार पर धावन करने से व्यक्ति-मानस का संवेदनबोध निरंतर पैना होता चलता है। कबीर ने 'सबद की चोट' को मर्मान्तिक चोट बताया था। इस चोट के लगते ही कवि का तन और मन बिंध कर भीष्मोपम गरिमा से युक्त हो जाता है। मुक्तिबोध ने भी इस संवेदन-यात्रा में 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने' के संकल्प को दोहराया था। विलियम गाँट (?)[1] ने भी अपनी पुस्तक 'द एइस्थेटिक एडवेंचर' में यही सिद्ध करने की कोशिश की थी कि मध्यकालीन साहित्य तथा साहित्यशास्त्र ने संवेदनातीत निर्विकारता की जिस शमपूर्ण स्थिति की सहृदयगत उपलब्धि को साहित्य का उत्कृष्टतम प्रयोजन स्वीकारा था; आधुनिक साहित्यशास्त्र ने शम तथा निर्वेद की उस अतीतधर्मी (अतीत से यहाँ मेरा अभिप्राय विगत समय बोध से नहीं अपितु किसी भी स्थिति के धनात्मक-ऋणात्मक, वादी-प्रतिवादी, सुन्दर-असुन्दर आदि पक्षों में तथा-कथित अभेदधर्मिता को प्राप्त कर उनमें से किसी एक के प्रति प्रतिश्रुत होने के दायित्व से पलायन कर जाने की सुविधावादी वृत्ति से है) स्थिति को संवेदनशून्य-जड़त्व (एनेस्थीसिएक एटेरेक्सिआ) की निरर्थक, निष्प्रयोजन तथा निष्क्रिय म्रियमाणता की स्थिति का पर्याय ठहरा कर उसे साहित्य के प्रयोजन-क्षेत्र से सर्वथा निकाल बाहर कर दिया है। हमारे यहां के मध्यकालीन रसवादी साहित्यशास्त्र में भी 'सुखदुखेसमे-कृत्वा' की इस संवेदनातीत स्थिति को प्राप्त कराना ही उत्कृष्ट साहित्य का मानदंड माना जाता रहा है। यह एक विचित्र बात है कि हमारे यहां बताए गये काव्य के छः प्रयोजनों में 'सद्यपरनिवृति' की गणना तो की गई है परन्तु 'रुचिबोध' के उद्दीपन को काव्य के प्रयोजनों के अंतर्गत स्थान नहीं दिया गया। यह बात और भी विचित्र है कि हमारे यहां की रसवादी आलोचनापद्धति रस की उभयपक्षिता (सुन्दर-असुन्दर, सुखात्मक-दुखात्मक, सृजनात्मक-संहारात्मक आदि)

1. William Gaunt : *The Aesthetic Adventure* Pelican, A. 386, Penguin Books, 1957.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रति संवेदक के विवेक को सजग बनाने की जगह उसे परस्पर द्वन्द्वात्मक न्याय से विभक्त इन स्थितियों से उठकर एक तीसरी 'पहुंची हुई' स्थिति में पहुंच जाने की प्रेरणा देती रही जिसमें सुन्दर तथा असुन्दर का विवेक ही लुप्त हो जाए और इनमें अभेद की स्थिति की प्राप्ति हो जाए। बेहोशी और इलहाम की स्थितियां क्या इससे अलग होती हैं ? हमारे यहां जिन्हें 'रसानन्द', 'लोकोत्तर आनंद', 'ब्रह्मानन्द सहोदरानंद' आदि कह कर आशंसित किया गया है, वे मन:स्थितियां दरअसल व्यक्ति को निर्विकारता की एक ऐसी दुनिया में ले जाती हैं जहाँ उसके लिए सुन्दर तथा असुन्दर, दुखात्मक तथा सुखात्मक इन उभयपक्षीय स्थितियों में अंतर का विवेक ही निरर्थक हो जाता है। निस्संगता की उपलब्धि का यह प्रयोजन साहित्य को एक ऐसी ऐन्द्रजालिक तथा मायालौकिक शून्यता में भटका देता है जहाँ पहुंच कर रसशास्त्र की समस्त संवेदनात्मक संगति और सार्थकता ही झूठी पड़ती प्रतीत होती है। आधुनिक साहित्य तक में निस्संगता का यह संवेदनशास्त्र अज्ञेयीय 'मौनवाद' या 'उन्मोचनवाद' में स्थगित तथा प्रलम्बित हो आया है। समकालीन साहित्यालोचन को इस खतरे से बचाने की जरूरत है। स्वयं अज्ञेय ने शब्द और सत्य के बीच की दीवार में सेंध लगाकर उसे किसी विस्फोटक से उड़ा देने के संकल्प का इजहार (नयी कविता के चौथे अंक में, 1959 में) किया था। समकालीन साहित्यालोचन के लिए संवेदनात्मक स्फोट की इसी मुखर और प्रखर स्थिति की उपलब्धि ही इष्ट हो सकती है। खेद की बात है कि हमारे आधुनिक युग के सशक्ततम कवि अज्ञेय इस विस्फोटक संवेदनात्मक-विवेक की स्थिति को प्राप्त करने का संकल्प तो ले गए परन्तु उसे अपनी कविता में वस्तुत: प्राप्त नहीं कर पाये और ज्यादातर निस्संगता, प्रयोजनातीतता, उन्मोचन, रंगान्धता, आलोकान्धता तथा आलोकभीति (फोटोफोबिया) आदि की स्थितियों में ही भटकते रहे।

यह काम पूरा किया राजकमल चौधरी तथा उनकी समकालीन पीढ़ी के अन्य कवियों ने। राजकमल चौधरी की कविता 'नींद में भटकता हुआ आदमी' समकालीन साहित्य में संदवेनात्मक विवेक की तीव्रता की उपलब्धि की दस्तावेज़ी शुरुआत कही जा सकती है। अज्ञेय ने शब्द और सत्य की बात कही थी। उन्होंने संवेदनबोध की नब्ज़ पर हाथ रख दिया था। पर नब्ज़ पढ़नी शायद उन्हें नहीं आती थी।

प्राय: हम देखते हैं कि साहित्य में (और जीवन में भी) असुन्दर सत्य को सुन्दर शब्दों के टेकनीक का लिहाफ़ ओढ़ा कर पेश किया जाता है और इस तरह से अपने आपको तथा पाठकों को धोखा दिया जाता है। मैं इसे टाट पर रेशम का पैबंद लगाना कहूंगा। मेरी यह धारणा है कि 'सत्य' मूलत: तथा अंतत: कटु और असुन्दर होता है परन्तु अब तक के साहित्य में उसे माधुर्य तथा सौंदर्य के आवेष्टन में गोपित कर के उसके वास्तविक स्वरूप को झुठलाने का प्रयास किया जाता रहा है। शब्द का धर्म सत्य को ढाँपना नहीं, उसे उघाड़ना है। सत्य तथा उस का उद्घाटन प्राय: सभी स्थितियों में 'शिवम्' हो सकता है परन्तु वह सदैव 'सुन्दरम्' भी हो, यह अनिवार्य नहीं। मैं तो यहाँ तक कहूंगा कि सत्य के सौंदर्य के उद्घाटन की अपेक्षा उसके असौंदर्य का उद्घाटन ही अधिक 'शिवम्' होता है। कीट्स की यह रोमानी धारणा कि सौंदर्य ही सत्य है तथा सत्य ही सौंदर्य, सामान्य जीवनानुभव के साक्षात्कार मात्र से ही झूठी पड़ जाती है। डा० प्रभाकर माचवे ने 'असुन्दर सत्य' के इस ईमानदार स्वीकार को अपनी निजी सूत्रात्मक शैली में इस प्रकार शब्दबद्ध किया था :—

'सुन्दर सत्य तुम्हारा जैसा
यही असुन्दर सत्य हमारा'

इस सम्बन्ध में चिंतन करते हुए डा. टी.एस. नरसिंहाचारी के लिखे तद्विषयक निबंध की याद ताज़ा हो आई है। इस निबंध का शीर्षक था—'कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कुरूपता'।[2] डा. नरसिंहाचारी ने अपने उक्त निबंध में इसी वाद (थीसिस) को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि कुरूपता या असौंदर्य का बोध संवेदक की बोध-क्षमता तीव्रतर बनाने में ही सहायक होता है, उसे कुंठित करने में नहीं। डा० कृष्णदेव भारी ने भी वीभत्स रस को संवेदक की बोध-क्षमता का उद्दीपक ठहराया है, उसका प्रशामक नहीं। मुद्दा यह कि सत्य असुन्दर होता हुआ भी यदि संवेदक की धार को पैना और प्रखर बनाने में सहायक है तो उस की संवेदनात्मक योग्यता तथा क्षमता के अल्पीकरण तथा अपमूल्यन का प्रयास नहीं किया जाना चाहिये।

मैंने ऊपर राजकमल चौधरी की कविता का ज़िक्र किया था। इस कविता को मैं समकालीन साहित्य में संवेदनबोध के विकास की प्रखरतम अभिव्यक्ति मानता हूं। इस कविता में कवि सुन्दर तथा असुन्दर के विवेक से ऊपर उठ कर या उससे अतीत होकर किसी 'तीसरी दुनिया' (राजनीतिक अर्थ में नहीं) में प्रक्षेपित या वाष्पीकृत हो जाने का संकल्प नहीं लेता अपितु सुन्दर और असुन्दर; चीख और ठहाके; बेहोश औरत की ठहरी हुई आंखें; हरे पौधे की कोमल नन्हीं शाखें और यहाँ तक कि आज़ादी और मुसीबतों तक के परस्पर विपरीतधर्मी सत्यों को सन्निध (जक्स्टापोज) करते हुये उन्हें बोध के समान्तर स्तरों पर पूरी शिद्दत से महसूस करता और कहता है—

...भोथरी छुरी जैसी चीखें
बेहोश औरत की ठहरी हुई आंखों की तरह रात
......
भोथरी छुरी जैसी चीखें
और आंधी में टूटते हुये खुले दरवाजों की तरह
ठहाके।
एक साथ
मेरे कलेजे से उभरते हैं
....

२. डा० त्रिभुवनसिंह द्वारा संपादित निबंध संग्रह 'साहित्यिक निबंध' में संकलित।

सतमी के चाँद की नोक मेरी पीठ में धंस जाती है
मेरे लहू से भीग जाते हैं टैक्सियों के आरामदेह गद्दे
फुटपाथ पर रेंगते रहते हैं, सुर्ख़ सुर्ख़ दाग
....
किसी हरे पौधे की कोमल, नन्हीं शाखें
शाखें और फूल
फूल और सुगन्धियाँ
मेरी आत्मा में नहीं फैलती हैं
मैं सोये हुये शहर की नस-नस में......
भटकता रहता हूं
....
(मेरी नयी आज़ादी और मेरी नयी मुसीबतें...उफ़।
चीख और ठहाके
एक साथ मेरे कलेजे से उभरते हैं।
(नयी कविता, १९६०-६१, अंक ५-६)

अन्ततः में इतना अवश्य निवेदन करना चाहूंगा कि मेरा रसशास्त्र से कोई विरोध नहीं है परन्तु रस-धर्मिता को अनिवार्यतः आनन्दधर्मिता का या सुखदुखातीत वेद्यान्तरशून्यता का पर्याय बना डालने वाले रसवादी आचार्यों से मैं सहमत होने को प्रस्तुत नहीं हूं। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रस को उभयात्मक माना था। अर्थात् सुखात्मक और दुखात्मक इन दोनों के बीच तथा इनकी अन्य सुन्दर तथा असुन्दर भावछायाओं के बीच किसी आनन्दवादी समझौते द्वारा नहीं अपितु इन दोनों के निजी तथा प्रखर संवेदनात्मक-विवेक द्वारा ही समकालीन साहित्यालोचन को एक नयी दिशा दी जा सकती है। यदि रसशास्त्र का इष्ट भी यही है तो मैं उसका स्वागत करता हूं। यदि अन्यथा है तो मैं उस के स्थान पर 'संवेदन शास्त्र' (एइस्थेटिक्स) की धारणा को प्रस्तावित करना चाहूंगा। हमारे यहाँ 'एइस्थेटिक्स' का अनुवाद 'सौंदर्यशास्त्र' या सौंदर्य-बोधशास्त्र' होता रहा है जो अपने आप में इसी सौंदर्यवादी, रसवादी और रोमानी पूर्वाग्रह का ही सूचक है। इसके स्थान पर मैं 'एइस्थेटिक्स' के भाषान्तर पर्याय के रूप में 'संवेदनशास्त्र' शब्द का प्रस्ताव रखना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहूंगा। संवेदनविद् इस पर विचार करें और देखें कि क्या यह धारणा अपनी व्याप्ति में सुन्दर तथा असुन्दर दोनों प्रकार के संवेदनों को उनकी उभयपक्षिता में समाहित कर लेने की क्षमता के कारण 'रसशास्त्र' या 'सौंदर्यशास्त्र' की धारणाओं की योग्यतम स्थानापन्न नहीं है ? समकालीन साहित्य तथा उससे जुड़े साहित्यालोचन का उद्देश्य यदि व्यक्ति मानस को सुन्दर और असुन्दर, मीठा और तीता, सुखात्मक और दुखात्मक आदि उभयपक्षीय संवेदन-युगलों के निजी तथा प्रखरतम विवेक से सम्पन्न करना है और समकालीन यांत्रिकता के परिवेश में फैल रही उपरामता, निस्संगता, ऊब, तटस्थता तथा निर्वेद जन्य कुण्ठाओं को शब्द के 'स्फोट' से निराकृत करना है तो साहित्यालोचन की निजतम एवं प्रामाणिकतम पद्धति के रूप में संवेदनशास्त्रीय आलोचना पद्धति (एइस्थेटिक् मोड ऑफ क्रिटिसिज्म) को नये सिरे से मान्यता देनी होगी और जीवनवादियों के इस भ्रम को भी दूर करना होगा कि 'एइस्थेटिक्स' 'कलावाद' या 'कला कला के लिए' का ही दूसरा नाम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़

नगरीकरण, नगरबोध तथा आधुनिक बोध

१. विषय

मानव की समस्त चिन्तन प्रक्रिया, सामाजिक संरचना एवं नैतिक मूल्य-दृष्टि उसकी अर्थव्यवस्था के आधार पर रूपाकार ग्रहण करती है। देश, काल, भौतिक परिवेशगत भेद भी बृहत्तर संरचना में अर्थव्यवस्था के समक्ष गौण एवं अल्पप्रभावपूर्ण रह जाते हैं। इसलिये यूरोप, भारत तथा अरब देशों में प्रत्यक्ष सम्पर्कों का अभाव होने पर भी क्लासिकी काल में अर्थव्यवस्था के सामन्ती कृषि-आधारित ढांचे के कारण सामाजिक सरंचना, नैतिक मूल्यवत्ता तथा धार्मिक-बौद्धिक क्रिया-व्यवहार में एकान्त समता उपलब्ध होती है। इसी प्रकार इस समस्त भूभाग में क्लासिकी अर्थव्यवस्था के ह्रास तथा मध्यकालीन, किंचित क्लासिक-विरोधी एवं लोकाभिमुख, समाज व्यवस्था का विकास भी, समान एवं समानान्तर ही होता है। औद्योगिक-यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक विकास के साथ आरम्भ हुआ आधुनिक युग विश्व भर में सामाजिक अतर्संबंधों तथा जीवन-दृष्टि को समान एवं समानान्तर रूप में प्रभावित करता है। आधुनिकता की इस भौतिक एवं बौद्धिक विकास प्रक्रिया का सम्बन्ध नगरीकरण के कारण अविच्छिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। वस्तुतः नगरीकरण को आधुनिकता का कारण भी कहा जा सकता है और परिणति भी। यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि किसी देश अथवा देश के किसी भी वर्ग की आधुनिकता की चेतना का मापदण्ड उसके नगरबोध के द्वारा सहज ही आंका जा सकता है। प्रस्तुत लेख में नगरबोध की प्रक्रिया तथा परिणामित आधुनिक बोध का विवेचन अध्ययन की सीमा रेखा है।

२. पूर्व धारणा

यह मान कर चला जा सकता है कि आधुनिकता की प्रक्रिया एवं बोध केवल मात्र बौद्धिक चिन्तना के विषय नहीं हो सकते। सुशिक्षित, चिन्तनशील तथा विश्व भर के आधुनिकतावादी दर्शन अथवा दर्शनों का अध्येता भी नगरपरिवेश के अनिवार्य दबावों से भिन्न सामन्ती परिवेश में जीवनयापन करने पर आधुनिकता से सम्पूर्णता से सम्बद्ध एवं सम्पृक्त नहीं हो सकता। उसका बोध केवल बौद्धिक विलास अथवा रोमांटिक कल्पना मात्र रह जएगा। इसके विपरीत नगर-महानगर का साधारण अल्पशिक्षित या अशिक्षित व्यक्ति भी व्यावहारिक रूप में आधुनिक होगा, क्योंकि उसका सम्पूर्ण वैयक्तिक-सामाजिक व्यवहार नगरीय-अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक अन्तर्संबंधों एवं परिवर्तित मूल्यों के आधार पर संरचित व संचालित होगा। यह प्रक्रिया कुछ धीमी भले ही हो सकती है परन्तु होगी यह अनिवार्य ही। हमारी चेतन सत्ता को हमारा भौतिक अस्तित्व अनिवार्य रूप में प्रभावित करता है और इस दृष्टि से आधुनिकता की चेतना के आधार रूप में नागरिक अस्तित्व पहली तथा मूलभूत शर्त बन जाती है।

३. नगरीकरण की प्रक्रिया

आज की यांत्रिक-औद्योगिक सभ्यता को नगरी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करण तथा नगर-सभ्यता का पर्याय कहा जा सकता है। दोनों एक दूसरे के कार्य भी हैं और परिणति भी। मुख्यत: कृषि पर आधारित लघु समाजों का उन बड़े समुदायों की ओर स्थानान्तरण, जिनके जीवन का मुख्य आधार उद्योग, व्यवसाय तथा प्रशासन एवं अन्य सम्बद्ध कार्य होते हैं, नगरीकरण कहलाता है। उद्योग और व्यवसाय जिस सीमा तक कृषि तथा कृषि-प्रभावों से मुक्त होंगे, नगरीकरण उतना ही सुदृढ़ होता जाएगा।[1] नगर समाज सीमित भौगोलिक क्षेत्र में एकत्रित ऐसा मावन-समुदाय है जो औद्योगिक वस्तुओं के निर्माण, उनके वितरण तथा अन्य सम्बद्ध सेवा कार्यों द्वारा संचालित होता है। विशेषीकरण का उच्च स्तर एवं संश्लिष्ट सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था इसकी अनिवार्य परिणतियां हैं[2]। किंग्सले डेविस के अनुसार मानव इतिहास में मानव समाज की भाषा, धर्म, वर्गविभाजन तथा परिवार आदि अन्य उपलब्धियों की अपेक्षा नगरीकरण की प्रक्रिया बहुत ही अर्वाचीन है। यह भी कहा जा सकता है कि मानो मानव के सम्पूर्ण अस्तित्व के पिछले कुछ क्षणों में ही नगरीकरण का विकास हुआ है।[3]

कृषि से असम्बद्ध तथा इस दृष्टि से अनुत्पादक एवं परजीवी मानव ही नगरवासी होता है। परन्तु मानव की मूलभूत आवश्यकतायें—भोजन, वस्त्र, तथा ईंधन और छाजन, सब कृषि-भूमि से उपलब्ध होती हैं। ये सभी वस्तुएं दैनिक जीवन-यापन के लिये अनिवार्य हैं तथा आकार और भार की दृष्टि से इनका संवाहन एवं आरक्षण भारी श्रम की मांग करता है। इससे यह प्रश्न सीधे रूप में सम्बद्ध है कि नगर के इस अनुत्पादक वर्ग के लिये आस-पास का ग्राम्य कृषि-क्षेत्र अपनी उपज क्यों देगा ? और यदि खाद्य सामग्री, ऊन, कपास, लकड़ी आदि वह देगा भी तो अविकसित अथवा अनुपस्थित संचार तथा यातायात के साधनों की स्थिति में इस भारी सामान को कितनी दूरी से किस मात्रा तक नगर में पहुंचाया जा सकेगा ?

इन प्रश्नों का सीधा उत्तर यह है कि बिना किसी प्रकार के भय या दवाव के कोई अपनी उपज का एक-कण और श्रम का एक क्षण भी किसी के लिए देने को उद्यत नहीं होगा। इसके लिए सामाजिक व्यवस्था में शारीरिक बल का भय, धार्मिक-मतवादी आस्था तथा सम्पूरक उत्पादन के तीन तत्व नगर विकास के आधार बनते हैं। शारीरिक बल से युक्त व्यक्ति अपने आस-पास बलशाली व्यक्तियों का समूह इकट्ठा करता है। वह निकटवर्ती अन्तर्देश के कृषिजीवी समाज को अन्य आक्रान्तावर्ग से संरक्षण भी देता है और स्वयं आक्रान्त करके इनकी उपज का सहभोगी भी बन सकता है। उस उपज को अपने केन्द्रीय आवास पर लाकर वहां वह अपनी और सहयोगी असिजीवियों की सेवा के लिए दास-वर्ग का संयोजन तथा विकास करता है। इसमें आरम्भिक अवस्था में कुछ निजी सेवक तक हो सकते हैं, परन्तु विकसित अवस्था में धोबी, कहार, नाई, माली, बुनकर, चर्मकार, भंगी, भिश्ती, गंधी, स्वर्णकार, वणिक, बढ़ई तथा इस वर्ग के अन्य सेवी-वर्ग का विकास होता है, जो अन्नवस्त्र आदि की दृष्टि से स्वयं भी अनुत्पादक वर्ग है तथा अन्तर्देश की कृषि पर निर्भर करता है। इस सेवीवर्ग के लिए भुक्ति प्रदान करना भी प्रशासक वर्ग का कर्त्तव्य हो जाता है और कृषक-समाज में उनकी उपज का अधिकाधिक अंश प्राप्त करना प्रशासकों के लिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि कृषि इतनी विकसित हो चुकी हो कि कृषक

१. **एन्साइक्लोपीडिया आव सोशल सांयसेस**, भाग १५, न्यूयार्क, १९५१, पृष्ठ १८९.

२. हैलेनबेक, सी. विल्वर, **अमेरिकन अरबन कम्यूनिटीस**, न्यूयार्क: हार्पर, १९६३, पृष्ठ ३२.

३. डेविस, किंग्सले, 'द आरिजन एण्ड ग्रोथ आव अर्बनाइज़ेशन इन द वर्ल्ड' (अध्याय), मेयर, एच. एम. तथा कोहन, सी.एफ. (सम्प.) **रीडिंगस इन अर्बन ज्याग्रफी** में, इलाहाबाद, १९६७, पृष्ठ ५९.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज अपनी आवश्यकता से कुछ अधिक उत्पन्न कर सके। यदि प्रशासक वर्ग स्वयं कृषक के भोजन व वस्त्र में से ही बलपूर्वक अपहरण करने लगें तो कृषक समाज वह स्थान छोड़ कर ही भागने पर बाध्य होता है जो स्वयं प्रशासक वर्ग व उसके नगरजीवन के लिए घातक होता है।

जैसा पीछे कहा गया है कि भोजन-वस्त्र आदि आकार व परिमाण-बहुल वस्तुएं हैं, इसलिए इनका संवाहन अतिरिक्त श्रम की अपेक्षा रखता है। मानव अपनी पीठ पर सीमित मात्रा व दूरी तक ही यह सामान ले जा सकता है। अधिक दूरी होने पर वह अपने सामान का अधिक भाग स्वयं यात्रापथ पर खा जायेगा। ऐसी अवस्था में नगर का संभरण व आपूर्ति असम्भव हो जाते हैं। इसके लिए किसी प्रकार के सुरक्षित व स्थायी यात्रापथों का निर्माण और उनकी रक्षा, पहिये से चलने वाले व पशुओं के द्वारा खींचे जाने वाले भारी संवाहक वाहनों का तथा बड़े आकार की नौकाओं का विकास आवश्यक होता है। यह भी आवश्यक है कि इन यात्रा-पथों को समानान्तर शासकवर्गों की लूटपाट से सुरक्षित बनाया जाये। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नगर-विकास के लिए सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था, कुशल संचार साधन, कृषक की निजी आवश्यकता से अतिरिक्त उपज देने वाली कृषि व्यवस्था तथा अन्तर्देश को सुरक्षित रखने व उपज वसूल करने में सक्षम सैन्य व्यवस्था अनिवार्य प्रथम शर्तें हैं।

धार्मिक व मज़हबी व्यवस्था में नगर किसी मन्दिर, मस्जिद,तीर्थस्थान, धर्मगुरु, चर्च, पोप आदि के गिर्द भी विकसित हो सकते हैं। इसके लिए अन्तर्देश के कृषिजीवी वर्ग की सम्बद्ध संस्था अथवा व्यक्ति के प्रति श्रद्धा, उनके शुभ तथा अशुभकर होने के प्रति भय एवं आस्था, कृषि का पर्याप्त उपजाऊ होना तथा परिवहन मार्गों व साधनों का विकसित होना अनिवार्य हो जाता है।

व्यापार के केन्द्र के रूप में जब तक नगर एक क्षेत्र की अतिरिक्त उपज दूसरे क्षेत्र की उपज से आदान प्रदान के केन्द्र रूप में सीमित रहते हैं तब तक उनमें विकास की सम्भावनायें अत्यल्प रहती हैं। ऐसी अवस्था में सर्वप्रथम तो कृषक समुदाय अपनी आवश्यकताओं को ही सीमित करके जी सकता है, और सीमित मात्रा में स्वयं अपनी अतिरिक्त उपज का आदान-प्रदान कर सकता है। इस दृष्टि से नगरों का यथार्थ विकास तो तब आरम्भ होता है जब उद्योग व यान्त्रिकी द्वारा नगर समुदाय कृषि से इतर वर्ग का इतना अधिक उत्पादन व निर्माण कर सकता है जो ग्राम्य जीवन को अधिक सुखकर, सुविधासम्पन्न एवं कृषि उत्पादन व परिवहन को अधिक लाभकर बनाने में सहयोगी होकर अतिरिक्त कृषि उपज को तथा अन्य कच्चे मालों को नगर की ओर आकृष्ट करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि विश्व नगर–विकास के प्रथम दो चरणों में उपर्युक्त सभी तत्त्व बहुत ही अविकसित एवं अल्पविकसित रूप में विद्यमान रहे हैं।

४. नगरीकरण : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

४.१. नगरीकरण प्रथम चरण :—पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि भूमध्यसागर के आसपास, पश्चिमी तथा दक्षिणी एशिया में कुछ कस्बे व नगर ईसा से काफी पहले विकसित हुए थे। परन्तु इन नगरों के आकार व जनसंख्या में वृद्धि के मार्ग में अनेक रुकावटें थीं। बड़े नगरों के लिए सामान्य से अधिक कुशल तकनीक व यान्त्रिकी का विकास अनिवार्य था। इसके लिए सामाजिक संरचना विशुद्ध कबीलाई से आगे बढ़कर पर्याप्त संश्लिष्ट एवं वर्ग विभाजित होनी चाहिये थी। कुशल यातायात के साधन अपेक्षित थे तथा ऐसी सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना की आवश्यकता थी जो कृषि व कृषि से इतर वर्गों को अलग करके उनमें विशेषीकरण के अवसर, सुविधाएं व मजबूरियां पैदा कर सकती।[4] कुछ

४. हॉजर, फिलिप एम., अर्बेनाइजेशन : एन ओवरवियू' (लेख), हॉजर, फिलिप, एम. तथा श्नोर, लियो. एफ़ (सम्पा.) **द स्टडी आव अर्बेनाइजेशन** में, न्यूयार्क, १९६६, पृ. २.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्ट भूभागों में ६००० व ४००० ईसापूर्व तक बैल वाले हल, पहिये वाली गाड़ी, रहट, पाल वाली नाव धातुकर्म, सिंचाई तथा वन्य वनस्पतियों को कृषि योग्य बनाने जैसे नये आविष्कारों व खोजों ने मानवीय अर्थव्यवस्था को काफी उत्पादक व दृढ़ बना दिया था। इसके साथ ही कृषिजीवी तथा कृषि-इतर वर्गों के क्रमिक विभाजन व विकास ने नगर-अस्तित्व के आधार की रचना की जिसमें 'ऐसे लोग जो स्वयं अपना अन्न पैदा नहीं करते थे, काफी बड़ी संख्या में सीमित स्थान में इकट्ठे रहने में सक्षम हो सके'।[5] यह भी कल्पना की जाती है कि इस प्रकार की बड़े आकार की बस्तियों को सम्भव बनाने वाले कुछ आविष्कार, जैसे—लेखन, हिसाब-किताब, धातुकर्म, विज्ञान, सूर्य के आधार पर वर्ष गणना तथा नौकरशाही इन नगरों व कस्बों मे ही सम्भव हुए। ३००० ईसापूर्व तक जब ये आविष्कार भारत, मिस्र, इराक आदि में अपना प्रभाव डाल रहे थे तो इन क्षेत्रों में 'वास्तविक' नगर अस्तित्व में आ रहे थे।[6] परन्तु ऐसे नगर संख्या में बहुत कम थे, इनका क्षेत्रफल एक चौथाई से कुछ वर्गमीलों तक और जनसंख्या कुछ हजार तक ही सीमित थी। परन्तु अपने अपने सम्पूर्ण क्षेत्र के लिये ये नगर महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में मान्य थे। बीस शताब्दियों की यथा-स्थिति तथा परिणामित सड़न के परिणामस्वरूप ये नगर लुप्त हो गये। चाइल्डे का कथन है कि इन प्रथम नगरों ने सांस्कृतिक विकास को कुण्ठित ही किया क्योंकि ये नगर समाज स्वयं पूर्ण रूप में अनुत्पादक बने रहे तथा इन अनुत्पादक मजहबी व राजनीतिक वर्गों ने कृषक समाज का बहुत दोहन किया। वस्तुत: कृषक समाज को पशु स्तर तक गिरा दिया गया था।[7] नगरों के इस कुण्ठित विकास तथा मृतप्राय अस्तित्व के ये कारण हो सकते हैं–कृषि श्रम-प्रधान थी तथा कृषि साधन एवं पद्धतियां आदिम अवस्था में थीं। यातायात के साधन भी श्रम-प्रधान थे। एक नगरनिवासी का अस्तित्व अनेक कृषकों व श्रमिकों की कड़ी मेहनत पर निर्भर करता था। कृषि तथा अर्थव्यवस्था की यह प्रगतिहीन स्थिति मजहबी-राजनीतिक अधिकारियों की भीषण लूट-पाट के द्वारा और भी विषम बना दी गई थी। इस प्रकार इन आरम्भिक नगरों का आकार निकटवर्ती अन्तर्देश से श्रम-प्रधान साधनों द्वारा प्राप्य खाद्य, ऊन-कपास तथा अन्य आकार-वहुल वस्तुओं की उपलब्धि की मात्रा के द्वारा निर्धारित होता था। अन्तर्देश में सदा विद्रोह की अथवा निकटवर्ती कबीलों या नगरों द्वारा विजित होने की आशंका व सम्भावना भी नगरजीवन को सदा भयपूर्ण व स्थायित्वहीन बनाये रखती थी। नगर-विकास के अवरोध के अन्य कारण थे—औषधि विज्ञान का अभाव जो महामारी की अवस्था में नगरों के समूल नाश का कारण हो सकता था; कृषक वर्ग का कृषि भूमि के साथ अतिमानसिक लगाव जिससे जनसंख्या स्थानान्तरण प्राय: नहीं होता था; विस्तृत पैमाने पर शिल्प, उद्योग, निर्माण तथा उत्पादन का अभाव; कृषक समुदाय पर प्रशासन का कड़ा नियंत्रण जो अन्तर्देश में मुक्त वाणिज्य व्यवसाय के लिए घातक था; तथा सब वर्गों की अतिरिक्त मतवादिता व रूढ़िबद्धता। इन सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में नगर जीवन बहुत मामूली व महत्त्वहीन बात थी। इन नगरों की कुल जनसंख्या प्रदेश या क्षेत्र की सम्पूर्ण जनसंख्या की। या २ प्रतिशत मात्र होती थी तथा एक नगरवासी के अस्तित्व के लिये कृषि पर ९० से अधिक व्यक्तियों को कड़ा श्रम करना पड़ता था।

४.२ **नगरविकास : दूसरा चरण : छ: सौ** ईसापूर्व से ४०० ईसापूर्व के बीच नगरीकरण का दूसरा तथा अधिक महत्त्वपूर्ण विकास यूनानी रोमी प्रदेश में हुआ। इस काल में आरम्भिक धातुओं के स्थान पर कृषि यंत्र तथा अस्त्र शस्त्र के निर्माण में लोहे का प्रयोग आरम्भ हुआ। यातायात के साधनों

५. डेविस, किंगसले, **पूर्वोद्धृत**, पृ. ६०, ६२.

६. **वही**, पृ. ६०,

७. चाइल्डे, वी. गॉर्डन, **मैन मेकस हिमसेल्फ**, लंदन, १९६१, पृ. २२७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकास हुआ। मुद्रा सुलभ हो गई। उपनिवेशों का व्यवस्थित व क्रमिक अधिग्रहण हुआ तथा प्रशासनिक ढांचे में बहुत सुधार व परिष्कार हुये। इन सबसे आरम्भिक नगरों के विकास मार्ग की अनेकों बाधाओं का निराकरण हुआ तथा नगर केन्द्र संख्या, जनसंख्या तथा आकार सब दृष्टियों से बहुत विस्तृत एवं विस्तीर्ण होते गये। एथेन्स, साइराक्यूज़ तथा कार्थेज एक लाख से तीन लाख जनसंख्या वर्ग के नगर थे। रोमनों ने ही वस्तुत: प्राचीन जगत की समग्र नगर सम्भावनाओं को, "अपनी साम्राज्य जीतने, उसे व्यवस्थित करने तथा प्रशासित करने की योग्यता के द्वारा"[8] प्राप्त किया। उन्होंने अपने साम्राज्य की राजधानी रोम तक दास, खाद्यसामग्री, अन्य वस्तुएं तथा संस्कृति तक पहुंचाने के लिए शक्ति और व्यापार दोनों का सहारा लिया। थोड़े ही समय में रोम की जनसंख्या कई लाख हो गई। परन्तु रोम और कुस्तुन्तुनिया भी अपनी कृषि-निर्भता की मूलभूत कमज़ोरी के कारण उन आक्रमणकारियों द्वारा पराभूत हो गये जो स्वयं कम-नगरीकृत थे, तथा इसके साथ यूरोप में नगर तथा नागर जीवन के लिये एक सुदीर्घ अन्धकाराच्छन्न काल का आरम्भ हुआ।

४.३ नगरीकरण : तृतीय तथा आधुनिक सोपान :

चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में कस्बों व नगरों का पुनर्जन्म हुआ। यह बहुत ही विनम्र आरम्भ था क्योंकि फ्लोरेंस, वीनस, एन्तवर्प, लंदन, न्यूरम्बर्ग तथा फ्रांकफुर्त में से किसी की जनसंख्या भी कुछ हज़ार से अधिक नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही यूरोप में सच्चा नगरीकरण अथवा वास्तविक नगर-क्रान्ति आरम्भ हुई, जब कि क्षेत्र की जनसंख्या का काफी बड़ा भाग स्थायी तथा व्यवस्थित रूप में नगरों में रहने लगा। भारत, इराक, मिस्र, ईरान, यूनान तथा रोम के प्राचीन नगरों के विकास-मार्ग की उन बाधाओं पर अब विजय प्राप्त कर ली गई, जिनके अनुसार ये नगर आदिम कृषि व्यवस्था से बंधे थे, इनमें दस्तकारी का अभाव था तथा अपने अस्तित्व के लिए नगरवासियों को अन्तर्देश पर अतिरिक्त तथा कुंठित करने वाले सैन्य बल का प्रयोग करना पड़ता था। कृषि और परिवहन की अभूतपूर्व उन्नति ने, नये भूभागों और अये व्यापार-मार्गों के उद्घाटनों ने, उन्नत व सुव्यवस्थित दस्तकारी द्वारा उत्पादन-क्षमता में वृद्धि ने तथा कालान्तर में मशीनों पर आधारित कलकारखानों में उत्पादन की क्रान्तिकारी पद्धतियों के विकास ने वस्तुत: नगरीकरण की प्रक्रिया के बांध ही खोल दिए। वाणिज्य और व्यापार के विकास ने सीमित अन्तर्देश और संभरण-क्षेत्र की समस्या को क्रमश: समाप्त कर दिया तथा महानगरों के लिए सारे विश्व को ही अन्तर्देश के रूप में परिवर्तित करने के बढ़ते हुए प्रयत्नों ने तो अभिवृद्धि-शील नगरीकरण के लिए सुदृढ़ आधार ही प्रस्तुत कर दिया।

किंग्सले डेविस के अनुसार आजके नगरों का संभरणक्षेत्र तथा अन्तर्देश केवल कुछ मीलों तक सीमित न होकर सारा विश्व ही बन चुका है।[9] पिछली डेढ़ शताब्दियों में यह विश्व व्यापार तथा कृषि अर्थव्यवस्था में हुई अभूतपूर्व वृद्धि के कारण सम्भव हुआ है, जिसके कारण नगर समुदाय अब वैविध्यपूर्ण तथा विस्तीर्ण क्षेत्रों पर निर्भर होने में सफल हो गया है। एक समय था जब एक नगरनिवासी के अस्तित्व के लिये ९० से ९५ कृषकों व श्रमिकों को खेती पर कठिन कठोर श्रम करना पड़ता था, जबकि १९६० में विश्व की कुल जनसंख्या का ३० प्रतिशत २० हजार या इससे अधिक की जनसंख्या वाले नगरों में रह रहा था।[10] यह सब सतत विकासमान कृषि यांत्रिकी, व्यापार तथा औद्योगिक निर्माण के

८. डेविस, किंग्सले, **पूर्वोद्धृत**, पृ. ६२

९. **वही**, पृ. ६२-६३.

१०. ब्रीस, गेराल्ड, **अर्बेनाइज़ेशन इन न्यूली डैवलपिंग कंटरीज़**, सारणी—६, पृ. ३३.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार तथा भारी व लम्बी दूरी के यातायात व परिवहन साधनों के कुशल संयोजन के द्वारा ही सम्भव हुआ है। बाह्य आयात के अतिरिक्त महानगरों का अस्तित्व आन्तरिक यातायात के कुशल साधनों पर भी निर्भर करता है। एक दिन के लिये भी महानगर की बसें, रेलें, कारें आदि यदि बन्द हो जायें तो सम्पूर्ण जीवन अस्तव्यस्त हो सकता है। पुराने नगरों के लघु आकार के लिये इस प्रकार के यातायात का अभाव प्रमुख कारण रहा है।

अब स्थिति यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अब तक हर पच्चास वर्षों में नगर जनसंख्या दोगुनी होती जा रही है। जहां कुल विश्व जनसंख्या १८००-१९६० की कालावधि में तिगुनी हो गई है, वहां इसी काल में नगर जनसंख्या में ३७ गुणा वृद्धि हुई है।[11] नगरों की संख्या में भी भारी वृद्धि हुई है। सन् १८०० में एक लाख या अधिक जनसंख्या वाले नगरों की विश्व संख्या ५० थी, जबकि आज दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या ही इससे बहुत अधिक है। एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या आज ९०० से अधिक है। १८०० की कुल विश्व नगर संख्या के मुकाबिले आज कई अकेले-अकेले देशों की नगर संख्या कहीं अधिक है।[12]

विद्वानों का विचार है कि वर्तमान वृद्धि-दर से २००० ई० तक २० हज़ार या इससे अधिक जनसंख्या वाले नगरों का कुल विश्वजनसंख्या में प्रतिशत ४५, तथा २०५० ई० में ९० होगा। और यदि २० हज़ार से कम जनसंख्या वाले कस्बों को भी परिगणित किया जाए तो इस शताब्दी के अन्त तक ही अनेक राष्ट्र शत-प्रतिशत नगरीकृत हो चुके होंगे। कृषि के अधिकाधिक यांत्रीकृत होते जाने तथा कृषि के लिए कम से कम व्यक्तियों की आवश्यकता रहने की वर्तमान अवस्था में उपर्युक्त अनुमान गलत प्रतीत नहीं होता। यह भी कल्पना की जाती है कि अन्न और रेशे को उत्पादन की उन पद्धतियों से पैदा किए जाने की सम्भावना है जिसमें ऐसे पदार्थ प्रयुक्त होंगे जो पौधे की अपेक्षा अधिक कुशलता और उपादेयता से सूर्य शक्ति का उपयोग कर सकेंगे। यदि यह सम्भव हुआ, जिसकी पर्याप्त आशा है, तो कोई कारण नहीं कि निकट भविष्य में सारी मानवता ही सम्पूर्ण रूप से यांत्रीकृत होकर दीर्घाकर महानगरों में निवास करे।[13]

यह नागरिक विकास अब केवल उत्तर-पश्चिमी यूरोप की जातियों तक सीमित न रह कर सम्पूर्ण विश्व मानवता का समान एवं समानान्तर मूल्य बन चुका है। यूरोपीय जातियों के संसर्ग एवं प्रभाव के अन्तर्गत एशिया-अफ्रीका में भी नगरीकरण, यांत्रीकरण, औद्योगीकरण अथवा आधुनिक सभ्यता का समारम्भ हुआ, और आज स्थिति यह है कि विकासशील देशों की नगरीकरण की गति यूरोपीय देशों की समकालीन गति से प्राय: दोगुनी हो गई है।[14] अब यह पूरी तरह स्वीकार किया जा चुका है कि आर्थिक विकास तथा अविकसित समाजों के उद्धार का कण्टकर मार्ग नगरीकरण, यांत्रीकरण अथवा आधुनिकीकरण के साथ पूरी तरह जुड़ा हुआ है।[15]

५. नगरबोध : उपलब्धियां तथा समस्यायें

५.१ उपलब्धियां : नगरीकरण से सम्बद्ध आधु-

११. यूनाइटेड नेशन्स, १९६७ **रिपोर्ट ऑन द वर्ल्ड सोशल सिचुएशन**, न्यूयार्क: यू. एन, १९६७.

१२. डेविस, किंग्सले. **पूर्वोद्धृत**, पृ. ६४.

१३. **वही**, पृ. ६५.

१४. डिपार्टमैंट आव इकानामिक एण्ड सोशल अफेयर्स, **रिपोर्ट आव द ऐडहॉक ग्रुप आव ऐक्सपर्टस आन हाउजिंग एण्ड अर्बन डेवलेपमेंट**, न्यूयार्क : यू. एन., १९६२, पृ. १९.

१५. बोस, आशिष, **अर्बेनाइजेशन इन इण्डिया : ऐन इन्वेंट्री आव सोर्स मैटीरियल**, नई दिल्ली : गोवर्धनदास अग्रवाल, एकेडेमिक बुक्स लि. के लिए, १९७०, पृ. ६९-७०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकता की उल्लेखनीय उपलब्धियां उन नगर समस्याओं की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं वरेण्य हैं, जिन समस्याओं का वास्तविक-अवास्तविक भय दिखलाकर अनेक बार कुछ अनजान लोग 'फिर गांव में चलो' का नारा लगाते हैं। इसमें एक बात ध्यान में रखने की है कि यदि सम्पूर्ण सभ्यता का किसी दुर्घटनावश अचानक विनाश हो जाए तो बात अलग है, अन्यथा अब ग्राम-नगर के मध्य केवल नगराभिमुख मार्ग ही उन्मुक्त है। अब यह एकतरफा रास्ता ही मानवता के लिये उपलब्ध है, ग्राम की ओर लौटना न मानव जाति के लिये श्रेयस्कर ही है और न सम्भव ही। नगरबोध और आधुनिक-बोध को एक-दूसरे का पूरक कहा जा सकता है। मध्यकालीनता से आधुनिकता के संक्रमण की प्रक्रिया ग्राम-व्यवस्था से नगर व्यवस्था के संक्रमण से अविच्छिन्न है। भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में ही नहीं मानविकी तथा मानव संबंधी सूक्ष्म चिन्तना के क्षेत्रों में भी ऐतिहासिक-भौतिक एवं वैज्ञानिक विकास के सिद्धान्तों की स्वीकृति आधुनिकता की प्रथम अनिवार्य परिणति है। यह बोध समग्र मध्यकालीन बोध के समक्ष प्रश्नचिन्ह लगाकर उसे अव्यवहार्य, अविश्वसनीय तथा अप्रासंगिक बना देता है। क्लासिकी एवं मध्यकालीन आदर्शों, आस्थाओं, संबंधों और मान्यताओं के समक्ष असमाधेय प्रश्नचिन्ह लग जाते हैं। आधुनिक बोध मानव को अनेकविध धार्मिक, कर्मकाण्डी तथा सामंती विधिनिषेधों से मुक्त कर देता है। मत-मजहब और क्षेत्रीयता के सीमित वृत्तों की परिसीमा को लांघ कर मानव प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी बोध और दृष्टि से साक्षात्कार करता है। अंधविश्वास से हटकर विशुद्ध व्यावहारिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण विकसित होता है। यह आस्था प्रकट की जा सकती है कि मानव के इस emanicipated जीवन तथा आधुनिक भविष्य की गारंटी केवल बृहत्तर नगरीकरण की चुनौती का स्वीकार ही हो सकती है। इस प्रक्रिया का अवरोध, जो सामान्यत: अब सम्भव नहीं है, आधुनिकता से पुन: मध्यकालीनता की ओर लौटने का कारण बन सकता है।

५.२ **संक्रमणकालीन समस्यायें :** नगरीकरण का मानव के सुखद भविष्य के एकमात्र साधन के रूप में बहुत प्रशस्तिगान होता है। परन्तु कष्ट के बिना लाभ प्राय: असम्भव है। आज के त्वरित नगरीकरण ने तो विश्व के सामने ऐसी समस्याओं का पहाड़ खड़ा कर दिया है जिनमें से कुछ समाधेय, कई दुरूह तथा अनेकों पागल बना देने वाली हैं। लेवी मम्फोर्ड के अनुसार महानगरों में लोगों ने स्वयं को एसी भीड़ के रूप में इकट्ठा कर लिया है किं न तो उनके लिये समुचित प्राकृतिक या सांस्कृतिक साधन उपलब्ध हैं, न शुद्ध हवा है, और न शांत सुखद नींद। आकाश और धूप जिनके लिये निषिद्ध हैं। जिन्हें मुक्त भ्रमण, सहज क्रीड़ा तथा स्वाभाविक यौन सम्बन्धों का भी निषेध है। इन महानगरों को 'अभावनगर' कहा जाना अधिक उपयुक्त होगा। उपर्युक्त भौतिक समस्याओं के परिणामस्वरूप उद्‌भुत तथा इनसे सम्बद्ध सामाजिक, मानसिक, भावनात्मक और नैतिक समस्याओं ने तो सचमुच नगरीकरण को ही आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या बना दिया है।[16]

५.२१ **नगरबोध बनाम आधुनिक बोध :** नगरीकरण का मुख्य प्रभाव जीवन की नितान्त नवीन पद्धति, आवास की परम्परा से पूर्णतया हटी हुई नवीन व्यवस्था तथा भिन्न-भिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक और नागरिक आवश्यकताओं के रूप में अनुभव हो रहा है। मानवता के लिए अपने सम्पूर्ण ज्ञात इतिहास में आमूल परिवर्तन का यह पहला ही अनुभव है। एकरस ग्राम्य, कृषि-केन्द्रित, मजहबी तथा सामन्ती वातावरण से अल्पकाल में ही मानवता के उद्योग-केंद्रित, यांत्रीकृत, सेक्यूलर,

१६. गॉर्डन, मिचेल, **सिक सिटीज**, न्यूयार्क : मैकमिलन, १९६३, पृ. १.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-सम्पन्न नागरिक जीवन में परिवर्तन ने मानवता के सामने दैत्याकार समस्यायें खड़ी कर दी हैं।

५.२२. **परिवर्तित सामाजिक बोध :**—नगरों-महानगरों में सबसे बड़ी उथल-पुथल तथा भ्रान्ति तो सामाजिक और पारिवारिक संबंधों के क्षेत्र में अनुभव की जा रही है। औद्योगिक-नागरिक संस्कृति से पूर्व की ग्राम्य जनसंख्या वस्तुत: समुदाय (कम्यूनिटी) न होकर एक समाज (सोसायटी) थी। परन्तु आज का नगर एक समाज न होकर बहुपक्षीय, बहुवर्गीय समुदाय है। नगरीकरण से उद्भूत तथा वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित आधुनिकीकरण अपने साथ केवल परिवर्तित भौतिक परिवेश और क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तित अर्थव्यवस्था ही नहीं लाता, बल्कि मानव की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था और उसके चिन्तन-व्यवहार में भी आमूल परिवर्तन प्रस्तुत करता है। ग्राम समाज में भाव एवं विचार-प्रेषण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष सामाजिक अन्तर्संबंधों पर आधारित होने के कारण पूर्णतया वैयक्तिक और प्रत्यक्ष होती है और सहानुभूति, सांझेदारी, आपसदारी, अनुशंसा-प्रशंसा और भावात्मकता-भावुकता जागृत करती है। दूसरी ओर नागरिक समुदाय ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो निश्चित भौगोलिक परिधि में प्रतिस्पर्द्धा और होड़ द्वारा संचालित परस्पर निर्भरता द्वारा रूपाकार ग्रहण करता है। इसीलिए जीवन की होड़ की प्रक्रिया निर्वैयक्तिक, अप्रत्यक्ष, वस्तुवादी और उपयोगितावादी होती है, और इसमें किसी प्रकार के गम्भीर, स्थायी और परम्परित सामाजिक संबंधों की आवश्यकता नहीं होती। सामाजिक अन्तर्संबंधों को होड़ की यह प्रक्रिया ही रूपायित करती है।[17] पश्चिम में इस संक्रमण के कारण नगर-निवासियों के सामाजिक जीवन और अन्तर्संबंध में भयंकर तनाव का प्रतिफलन हुआ है जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं—टूटे घर, विश्रृंखलित परिवार, उपेक्षित तथा परित्यक्त बच्चे, बाल अपराध, वैवाहिक अस्थिरता, अपराध-वृद्धि, विकृत यौन-व्यवहार, मादक द्रव्यों की अवैध खपत, वेश्यावृत्ति, वैयक्तिक अस्थिरता तथा असुरक्षा, संत्रास, भय, मानसिक विकृति, विभक्त व्यक्तित्व, भीड़ के व्यवहार की उग्रता व अनिश्चयात्मकता तथा विध्वंसक प्रवृत्तियों का विकास। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि इनमें से कुछ तो सीधे नगर-जन्य समस्याएं हैं, परन्तु अधिकांश का संबंध मानव की संक्रमणशील दिग्भ्रमित मानसिकता से है। एकदम कई हज़ार वर्षों की अपनी जानी-पहचानी आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था तथा परिवेश से उखड़ कर नितान्त नवीन अन्तर्संबंधों में स्वयं को पाने वाला मानव इस प्रकार की दिशाहीनता और परिणामित भय व अशांति का सहज शिकार हो सकता है। परन्तु यह सुनिश्चित अस्थायी स्थिति है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। भारतीय संदर्भ में ग्राम की सवर्ण-अछूत वादी मानसिकता से बद्ध व्यक्ति नगर के व्यस्त समुदाय में आकर अपने शुद्धतावादी आचरण को सुरक्षित नहीं रख पाता। उसका एकदम अस्तव्यस्त हो उठना स्वाभाविक है। यह उसके लिए भीषण समस्या तथा जीवन-मरण का नैतिक-प्रश्न बन सकता है। परन्तु दो-एक पीढ़ी महानगरीय परिवेश में रहने के बाद उसके वंशजों के लिए यह केवल अभिहस्य एवं मूर्खतापूर्ण पारिवारिक रूढ़ि की स्मृति भर रह जाएगी। उपर्युक्त अधिसंख्यक समस्याओं के संबंध में यही बात समान प्रामाणिकता के साथ कही जा सकती है।

५.२३ **परिवर्तित प्रशासनिक अनुभव :** नगरों-महानगरों में शासन-व्यवस्था भी एक अनिवार्य परन्तु दुरूह एवं संकुल नौकरशाही के रूप में परिणित हो गई है। अति-यांत्रीकरण तथा मानव-निरपेक्षता इसके अनिवार्य अंग हैं, जिनसे ग्राम्य

१७. हॉजर, फिलिप. एम., **अर्बेनाइजेशन इन रिलेशन टू सोशल चेंज एण्ड सोशल प्रब्लम्स,** बैंगकाक : यू. एन. सेमिनार, १९५६ पृ. ७५-७६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिकता पूर्णतया अपरिचित रही है। इसके परिणामस्वरूप नियमोपनियमों की जड़-व्याप्ति और समाज की परिवर्तन आकांक्षा के बीच तनाव व संघर्ष, निर्णयों में व्यवधान, प्रभाव-क्षेत्रों का दवाव तथा तज्जनित बेईमानी, घूसखोरी, लालफीताशाही आदि का विकास होता है। प्रशासन की अतिसंकुलता, अकुशलता, भावहीनता और सहानुभूतिशून्यता का शिकार ग्राम्य मानसिकता वाला नागरिक दिनोंदिन स्वयं को व्यक्तित्वहीन, पुंसत्वहीन, रीढ़-विहीन, लिजलिजा, आस्थाविहीन और चेहराविहीन अनुभव करता है। इस अवस्था में उसका अपने जीवन को ही अभिशप्त समझना अर्थवत्ता प्राप्त करता है।

५.२४ आधुनिक मानसिकता का द्वंद्व

आधुनिकता का यह साक्षात्कार मानसिक-भौतिक स्तर पर आज के नागरिक जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना के रूप में प्रतिफलित हो रहा है। भौतिक परिवेश को बदलना अपेक्षतया सरल, अल्प-समय एवं अल्प-प्रयास-कामी प्रक्रिया है। इसके संदर्भ में मानव मन का बदलाव अधिक समय तथा प्रयास की मांग करता है। एक या दो पीढ़ी पूर्व तक ग्राम या कस्बाई परिवेश से महानगर में स्थानान्तरित व्यक्ति भौतिक रूप में तो स्वयं को अत्याधुनिक विज्ञान व तकनीक द्वारा संचालित वातावरण को स्वीकारते हुए पाता है, परन्तु मानसिक-भावात्मक स्तर पर वह मध्यकालीन बोध, सामंती परिवार व्यवस्था और मतवादी आग्रहों से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता। यही कारण है कि नवीन मानवतावाद के सम्पूर्ण सैद्धान्तिक स्वीकार के बाद भी गोरे-काले का भेद, धनी-निर्धन का फर्क व्यावहारिक स्तर पर असंगत नहीं हो सका है। जनतंत्र के प्रति सैद्धान्तिक आस्था के बावजूद भी सामंती परम्पराएं बृहत्तर लोक के लिए दमघोंटू स्थितियों का निर्माण कर रही हैं। नर-नारी समता के सैद्धान्तिक स्वीकार और विवाह की सामंती संस्था के असंगत हो जाने पर भी आर्थिक संघटना और पारिवारिक संरचना का मध्यकालीन ढांचा विचित्र पारिवारिक विशृंखलता और यौनाचार की द्विविधा को जन्म दे रहा है। आर्थिक विषमता संबंधी भाग्य, कर्म तथा ईश्वरीय न्याय पर से आस्था खण्डित हो जाने पर भी व्यवहार में भेद की अतिशय वृद्धि मानवता के बृहत वर्ग के लिए नए प्रकार की गुलामी का संस्कार करने में प्रवृत्त है। अनास्थाशील हिप्पी, विश्व भर की क्रुद्ध, आक्रामक, बुभुक्षित तथा युयुत्सु नई पीढ़ी, राजनीतिक स्तर पर माओवादी, दब्रेवादी, ग्वेरावादी तथा नक्सलपंथी, और साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भूखी पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी आदि इसी बौद्धिक मुक्तिबोध परन्तु भौतिक गुलामी, पुंसत्वहीनता, रीढ़हीनता और व्यक्तित्वहीनता की उपज एवं अभिव्यक्ति हैं। सामंतीमध्यकालीन व्यवस्था में शोषित और आक्रान्त मानव अपनी नियति के स्वीकार द्वारा पशुवत जीवन भी सहन और स्वीकार कर सकता है। वही व्यक्ति आधुनिक बोध के साथ साक्षात्कार के समानान्तर अपनी नगण्यता तथा अस्तित्वहीनता के स्वीकार से कुण्ठाग्रस्त होकर निर्वीय होने के लिए बाध्य होता है, अथवा, सम्पूर्ण समाज व्यवस्था तथा मानवता के ही अस्वीकार की स्थिति में आकर पलायनवादी या विध्वंसक होने में ही अपनी नियति देखता है। नगरीकरण से अभिन्न आधुनिकता सामंती, मध्यकालीन सामाजिक-पारिवारिक संबंधों की अनुपयोगिता की प्रकट स्वीकृति के साथ उनसे पूर्ण मुक्ति की विफलता द्वारा उद्भूत द्वंद्व तथा द्वैध को रेखांकित करती है; घर-परिवार तथा व्यक्ति की विशृंखलता की स्वीकृति के दंश से उसका साक्षात्कार करवाती है। विवाह-संस्था पर प्रश्न-चिन्ह, इसकी उपयोगिता का अस्वीकार परन्तु विकल्प की अप्राप्ति आधुनिकता का विशिष्ट अभिशाप है। वैध-अवैध यौन सम्बन्धों के परम्परित मूल्य को नकार कर भी परिवर्तन अक्षमता द्वारा यौनविकृति तथा नगरजन्य नपुंसकता को पूर्णतया स्वीकार करने की मुद्रा आधुनिक मानव ने अपना ली है। वह संत्रस्त है, वैयक्तिक स्तर पर हर क्षण असुरक्षा में जीता है तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने व्यक्तित्व की इस विक्षिप्तता और विसंगति के स्वीकार के लिये बाध्य है। वह अनुभव करता है कि वह समाज में न होकर भीड़ में है, हिंस्र पशुओं की भीड़ में वह सब का सजातीय होने पर भी नितान्त अकेला है। अपने इस त्रास, भय, आशंका, असुरक्षा, व्यक्तित्वहीनता को वह वाणी तथा व्यवहार में मुखर स्वीकृति दे रहा है। जीवन-मूल्यों में वह समस्त परम्परित स्वीकार को अस्वीकार्य मानता है तथा परम्परित अस्वीकार को स्वीकार करता है, परन्तु व्यवहार में अपने शिखण्डीत्व को भी स्वीकार करके विषदंशित सा तड़पने के लिए बाध्य है। मूल्यहीनता उसका मूल्य है और असंगत मूल्यों की जकड़न उसकी नियति। पीछे वह लौट नहीं सकता और आगे की गली उसे अन्धकाराच्छन्न दिखाई देती है। नगर-जन्य आधुनिकता की यह विश्व भर की समान एवं समानान्तर अनुभव राशि है।

६. उपसंहार

यह स्पष्टतः रेखांकित किया जा चुका है कि औद्योगिक-यांत्रिक तथा नगरीय विकास किसी प्रकार घटना-दुर्घटना या षड्यंत्र का परिणाम न होकर मानव की आर्थिक-सामाजिक विकास-प्रक्रिया का सहज प्रतिफलन है। यह परिवर्तन अवश्य कुछ अतिरिक्त तेजी से हुआ है व हो रहा है और इसने अधिकांश देशों में मानव को मध्यकालीनता की निर्जीव केंचुली उतारने का अवसर तक नहीं दिया। मानव को मानो अंध-प्रकोष्ठ से सीधे जगमगाते प्रांगण में धकेल दिया गया है, जिसकी चकाचौंध में उसका किंचित भ्रमित होना स्वाभाविक है। परन्तु यह पहला अवसर है जब अपने गुण-दोषों, सबलताओं-सीमाओं के साथ मानव अपना सही साक्षात्कार करने की मुद्रा व स्थिति में आ रहा है। भावुकता और आस्था की अपेक्षा वह बुद्धि तथा तर्क की प्रधानता स्वीकार कर रहा है। मध्यकालीन बोध से आधुनिक बोध के संक्रमण की इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक दृष्टि, इतिहास बोध तथा कार्यकारण बोध के आधार पर मानवीय अन्तर्संबंधों के नव-आकलन की सुविधा संक्रमणकालीन द्विविधा के कुहासे को क्रमशः हटाने में सहयोगी सिद्ध हो रही है। क्लासिकी तथा मध्यकालीन मान्यताओं की धुंध से बाहर निकल कर अपने वर्तमान जीवन के यथार्थ परिचय द्वारा आधुनिक जीवन को सही परिप्रेक्ष्य में जीने का सम्बल मानव प्राप्त करता प्रतीत हो रहा है। शोषण, भेदभाव और विषमता की सामाजिक-धार्मिक शक्तियों के उन्मूलन का प्रबल संघर्ष आधुनिक नगरीय मानव का मुख्य स्वर होता जा रहा है। भय, त्रास, कुण्ठा और मृत्युबोध के स्वरों को संक्रमण-साक्षात्कार का अस्थायी परिणाम माना जा सकता है। मानव में मानवता के प्रति आस्था तथा उसकी जीवैष्णा के स्वस्थ तथा व्यवहार्य आकलन-क्षमता की अभिवृद्धिशील सम्भावनाओं के साथ आधुनिकता तथा नगरीकरण सम्भवतः मानव इतिहास की सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम उपलब्धि कहे जा सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शशिधर शर्मा
आचार्य, वाचस्पति,
संस्कृत विभाग,
पत्रशिक्षा निदेशालय,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

महाकवि भारवि के काव्य में भारतीय संस्कृति का चित्रण

प्राचीनतम संस्कृति :

संसार के निष्पक्ष विद्वान् इस बात में एकमत हैं कि भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। प्राचीन भारतभूमि मानवता का झूला, ज्ञान-विज्ञान, काव्य और कलाओं की दात्री, तथा पूज्य और समर्थ धात्री है जो शताब्दियों की पराधीनता में भी विस्मृत नहीं हुई। योरोप के गुणज्ञों ने इसके अतीत के अपने देश में पुनरावर्तन की स्पृहा की है।[1] जब अधिकांश संसार निबिड़ निद्रा में सो रहा था, तब राजर्षि मनु पृथ्वी के समस्त मानवों को यहाँ के अग्रजन्मा से चरित्र की शिक्षा लेने का सस्नेह आह्वान कर रहे थे :—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥[2]

संस्कृति के अमर गायक :

यह संस्कृति श्रुतियों की अपार वाङ्मयराशि में से, जलराशि में से लक्ष्मी की भांति अमृत-मंगलकलश हाथ में लिए उद्भूत हुई थी।[3] बाल्मीकि, व्यास, भास, सौमिल्लक, कालिदास की अखण्डित स्वर्ण-शृङ्खला में जिन वाग्देवता के वरप्राप्त आप्ततम सुपुत्रों ने अपने जरामरणशून्य यशःशरीरों को इसके गुणगान में समर्पित करके विश्व को संतर्पित किया उनमें महाकवि भारवि का स्थान सर्वोपरि है।

संस्कृत साहित्य में भारवि का महत्त्व :

संसार भर के रसिक वर्ग को हर्षपुलकित किए हुए, संस्कृत कवियों में कालिदास के बाद भारवि का नाम लिया जाना कोई नई बात नहीं। दक्षिणस्थ बीजापुर जिले में स्थित आयहोली (ऐहोल) गाँव में जैन कवि रविकीर्ति के मन्दिर में जो पुराना शिलालेख मिला है उसमें लेखक रविकीर्ति ने आश्रयदाता चालुक्यराज पुलकेशिन् द्वितीय सत्याश्रय एवं उसके वंश की प्रशस्ति के बाद अपने को काव्यकला में कालिदास तथा भारवि के तुल्य कीर्ति का आश्रय बतलाया है—

येनायोजि नवेश्म
स्थिरमर्थविधौ विवेकिना नयवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः,
कविताश्रितकालिदास भारविकीर्तिः॥[4]

अतः कालिदास के तुल्य भारवि का महत्त्व निर्विवाद है।

अनन्य उपयोगिता :

वैदिक वाङ्मय तथा धर्मशास्त्र साहित्य अत्यन्त जटिल, विस्तृत तथा रुक्ष[5] होने के कारण संस्कृति के स्वरूप ज्ञान के लिए इन महाकवियों की वाणी एक सरल एवं सरस साधन है। भारविकाव्य के माध्यम से आगे की पंक्तियाँ इसी का एक नम्र प्रयास हैं। भारवि की एकमात्र उपलब्ध कृति उनका 'किराता-र्जुनीय' महाकाव्य है जिसमें अधर्मरत कौरवों के उन्मूलनार्थ अर्जुन द्वारा इन्द्र एवं शंकर जी की तपस्या एवं उनके द्वारा ली गई कठोर परीक्षाओं के उत्तरण का रम्य निरूपण है।

आधारभित्ति-आदर्श वर्ण धर्म :

भारतीय संस्कृति की आधारभित्ति वर्णाश्रम व्यवस्था है। समान रूप से तीन वेदों में यह मंत्र उपलब्ध होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जिसमें चारों वर्णों और उनकी व्यवस्था का सहेतुक सङ्केत है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य: कृत: ।
पद्भ्यां भूमिर्दिश: श्रोत्रात्तथालोकाँ अकल्पयन् ।[6]

पेट की चिन्ता और वर्ग संघर्ष से मुक्त हुए, शरीर के अंगों की भांति समाज के अंग अव्याहत श्रेय और प्रेय की ओर बढ़ते रहें—यही इसका प्रयोजन था। दैहिक अंगों की भांति चारों वर्ण अपने-अपने स्थान पर सुव्यवस्थित थे और उनमें उच्च नीच का कोई प्रश्न न था। भारतीय जीवन प्रवृत्ति से निवृत्ति की तथा व्यवहार से परमार्थ की ओर अग्रसर होता है। गृहस्थ तथा संन्यास क्रमश: प्रवृत्ति के आश्रम हैं जिनके यथाक्रम सहायक हैं ब्रह्मचर्य एवम् वानप्रस्थ आश्रम। इस प्रकार उद्देश्यपूर्ण व्यवस्थित जीवन प्रणाली के कारण ही आर्यसंस्कृति लम्बी दासता के उपरान्त भी सुस्थिर है जबकि प्राचीन अन्य सभी संस्कृतियाँ, जो कि कभी अत्यन्त बलसम्पन्न थीं, काल के गाल में विला चुकी हैं।[7]

महाकवि भारवि वर्णाश्रम व्यवस्था में पूर्ण आस्थावान् थे। उनके काव्य से यह पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए भारवि के काव्यनायक अर्जुन ने वृद्ध-विप्रवेष में उपस्थित देवराज इन्द्र के क्षमा और मोक्ष के उपदेश को स्वीकारने में अपनी असमर्थता के हेतुरूप में पहले क्षत्रियता को ही उपस्थित किया था :—

क्षत्रियस्तनय: पाण्डोरहं पार्थो धनंजय: ।
स्थित: प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात्।।[8]

पर भारवि की यह जातिनिष्ठा झूठे जात्यभिमान के रूप में नहीं अपितु यह उस महती कर्तव्य की निष्ठा पर आधारित थी जिसके कारण लोककल्याणकामुक महर्षियों ने इसका आविर्भाव किया था। तभी तो वसुधा-ललामभूता परमपूता द्रौपदी ने दुःशासनद्वारा किए गए उसके केशकर्षण को विधाता द्वारा संसार की रक्षा हेतु बनाये गए 'क्षत्रियत्व' के विजयशील ओज को चुराने वाला और विजय में ही निवास करने वाले क्षात्र तेज के प्राणों जैसे प्यारे अभिमान को खण्डित करने वाला बतलाया है :—

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं
क्षत्रस्य मुष्णन्वसु जैत्रमोज: ।
तेजस्वितायाः विजयैकवृते
निघ्नन् प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ।।[9]

इस ललनाललाम ने आगे भी स्पष्ट कहा कि क्षत्रिय वही है जो सज्जनों की रक्षा में समर्थ हो और कार्मुक 'धनुष' वह है जिसकी कर्म में शक्ति हो। पर यदि क्षत्रिय सज्जनों की रक्षा में या कार्मुक कर्म करने में असमर्थ हों और वे केवल अपने जाति-अर्थ के लिए ही बने रहें तो वे अपने नाम को निरर्थकता से दूषित जैसा करते हैं :—

स क्षत्रियस्त्राणसह: सतां य
स्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्ति : ।
वहन्द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते
करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम् ।।[10]।।

ऐसे क्षत्रियत्व पर अर्जुन को भला क्यों न गर्व होता ?

पाण्डवों की लड़ाई राज्य के लिए नहीं अपितु धर्म के लिए थी। स्वयं भगवान् व्यास ने युधिष्ठिर से कहा था कि शत्रुपक्ष के न्याय्य मार्ग से भ्रष्ट हो जाने पर भी धर्मराज ने धर्ममार्ग पर अटल रहकर (दैवी) गुणों से अपना अद्भुत प्रेम दरसाया है—

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां
धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय ।
त्वयाविपत्स्वप्यविपत्तिरम्य—
माविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ।।[11]।।

काव्य के चरितनायक अर्जुन ने देवराज से स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मानशाली जन अपने धर्म पर टिके रहते हैं और शत्रु द्वारा ध्वस्त होने पर भी युद्ध से पीछे नहीं हटते :—

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभि: ।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिन: ।।[12]।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के क्षत्रिय अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि शत्रुओं के विध्वंस को ही समझते थे—परमं लाभमरातिभंगमाहु :।[13]

भारवि ने जिस कोटि के क्षत्रियों का चित्रण किया है वे उसी कोटि के ब्राह्मणों में भी विश्वास रखते थे। इसीलिए तो द्रौपदी के शब्दों में महाराज युधिष्ठिर का शरीर वनवास से पूर्व ब्राह्मणों के भोजन से बचे अन्नसे मनोहरता को प्राप्त हुआ बतलाया गया है :—

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं
द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं,
परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ।।[14]

आश्रमव्यवस्था-ब्रह्मचर्य :

जहाँ तक आश्रम व्यवस्था का सम्बन्ध है-किरातार्जुनीयम् उसके बारे में संक्षप्ति किन्तु सारवती सूचना देता है। ब्रह्मचर्य आश्रम का भारत में बड़ा महत्व माना गया है और यहां तक कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तप के बल से देवताओं ने मृत्यु को भी जीत लिया था।[15] ब्रह्मचारी को सब विश्वास और आदर की दृष्टि से देखते थे और उसका सब जगह बेरोकटोक प्रवेश था। दुर्योधन की गतिविधियों का भेद लेने के लिए युधिष्ठिर का गुप्तचर एक ब्रह्मचारी का वेष बनाकर ही गया था।[16] इससे सिद्ध है कि ब्रह्मचारी उस समय सच्चे ब्रह्मचारी होते थे।

गृहस्थाश्रम का गुरु भार :

भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम का स्थान बड़ा ऊंचा है, क्योंकि बाकी तीनों आश्रम इसी पर अवलम्बित रहते हैं। वह ज्ञान और अन्न द्वारा उनका पोषण करता है :—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ।।[17]

इतना ही नहीं ऋषि, देवता, पितर, भूत और अतिथियों की सेवा भी गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य है।[18] इस संस्कृति के अनुसार देवता, अतिथि, भृत्य (नौकर-चाकर) पितर और अपने आप का भी जो भरण नहीं करता वह सांस लेता हुआ भी वस्तुतः मरा ही है।

देवतातिथिभृत्यानां, पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ।।[19]।।

ऊपर उद्धृत द्रौपदी के वाक्य में ब्राह्मणशेष के भोजन से युधिष्ठिर महाराज की देह के दीप्ति लाभ की बात से देवता एवं पितरों की सेवा अवगत होती है क्योंकि ब्राह्मण के द्वारा ही इनकी सेवा शास्त्रसिद्ध है।

यस्यान्नेन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
काव्यानि चैव पितरः किम्भूतमधिकं ततः ।।[20]।।

किरातरूपधारी शिव ने भी एकान्तस्थित अर्जुन से प्रश्न किया था कि क्या वह एकान्त में बैठा हुआ देवयज्ञ और पितृपूजा नहीं करना चाहता :—

यष्टुमिच्छसि पितृन्न सांप्रत संवृतोर्चिचयिषुर्दिवौकसः।[21]

अदृश्य देवतत्त्व :—

स्थूल दृश्य जगत् से परे इसके संचालक देव और पितृतत्त्व का स्वीकार आर्यऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा का परिणाम है। चेतन की प्रेरणा के बिना कोई भी जड़ पदार्थ जब व्यवस्थित कार्य करने में असमर्थ है तो इतना बड़ा अखण्ड ब्रह्माण्ड बिना चेतनसत्ता के अधिष्ठान के कैसे नियमित गतिस्थिति में समर्थ हो सकता है? अब तो वैज्ञानिक अनन्त ब्रह्माण्डों की सत्ता स्वीकार करने लगे हैं और जिस प्रकार कभी विज्ञान की आरम्भिक दशा में ईश्वर विश्वास ढीला पड़ रहा था, उसी प्रकार आज विज्ञान की प्रौढ़ि के साथ ही उसकी जड़ें गहरी जमती जा रहीं हैं। सच पूछा जाय तो सृष्टि के कण-कण में जगमगाती ईश्वरीय बुद्धि वैभव की ज्योति का जैसे आर्य ऋषियों ने समाधिभावना द्वारा साक्षात्कार किया था वैसे ही श्रेष्ठ वैज्ञानिक विज्ञान की परिपूर्णता द्वारा आंशिक ही सही, उसकी झलक पाकर अपने को कृतार्थ करते हैं। स्वयं अल्बर्ट आइन्स्टीन महोदय के शब्दों में 'जिसने भी विज्ञान राज्य की सफल अभ्युन्नतियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गम्भीर परीक्षण किया है वही सृष्टि में अभिव्यक्त सुचिन्तितता के प्रति श्रद्धा से झुक जाता है। इसे पहिचान कर वह वैयक्तिक क्षुद्र आशाओं और इच्छाओं से ऊपर उठता हुआ सृष्टि में विद्यमान उस सुचिन्तितता के वैभव के आगे प्रणत हो जाता है-अपने गम्भीरतम रूप में जो मानव की पहुंच से बाहर है।[22] इस तरह दिव्य शक्ति की जिस छाया से ही विज्ञ-वैज्ञानिक अपने को पुलकित अनुभूत कर रहे हैं-योगशक्ति द्वारा उसका भेदोपभेदसहित प्रत्यक्ष कर महर्षियों ने शास्त्रों में विशद निरूपण किया और क्रान्तिदर्शी पूर्व कवीश्वरों की भांति महाकवि भारवि ने भी 'किरातार्जुनीयम्' में उनकी अवतारणा की। महाकाव्य के नायक अर्जुन जिस महान् लक्ष्य से परिचालित थे उसकी प्राप्ति उन्होंने इन्द्र और रुद्र के रूप में दिव्यशक्ति की आराधना द्वारा ही की थी।

हिमालय, गंगा और गाय :—

उक्त दिव्य शक्ति जिन माध्यमों से प्रकट होती है, उनमें हिमगिरि, गंगा और गाय की 'त्रयी' का प्रमुख स्थान है। इन तीनों तत्त्वों को भारतीय संस्कृति ने कभी स्थूल पदार्थ के रूप में ग्रहण नहीं किया। हिमालय पर वेदों की अनेक ऋचाएं न्योछावर हुई हैं।[23] हिमालय को देखकर उस महिमालय (परमात्मा) का बरबस स्मरण हो जाता है। कालिदास ने तो इसे 'देवरूप' कहकर अपनी श्रद्धाभिव्यक्ति की है। उनकी दृष्टि में यह पृथ्वी का मानदण्ड ही है :—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा,
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य,
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥[24]॥

भारवि पर्वतराज हिमालय के दर्शन से ही समस्त पापों का उन्मूलन मानते हैं जो बर्फ से धवल अपनी चोटियों से आकाश को सहस्ररूपों में बाँट रहा है :—

अलमेष विलोकितः प्रजानां,
सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम्।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन्,
हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ॥[25]॥

उनका गिरिराज त्रिलोकी का प्रतिनिधि है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो यहां तक भी लिख दिया है कि त्रिलोकी मिलकर भी हिमालय की तुलना नहीं कर सकते, क्योंकि स्वयं देवाधिदेव यहां निगूढ़रूप में निवास करते हैं :—

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरो,
स्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम्।
अधिवसति सदा यदेनं जनै,
रविदितविभवो भवानीपतिः ॥[26]॥

जीवनभर का पापी भारतीय भी अन्तिम समय गंगा जल की दो बूंदों की स्पृहा करता है। उसे विश्वास है कि वे दो बिन्दु उसके जन्मजन्मान्तर के कलमषकुल को धो देंगी। गंगा के सम्बन्ध में आस्तिक-नास्तिक का प्रश्न नहीं। वह तो भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। पण्डित जवाहरलाल नेहरु की अन्तिम इच्छा में इस तथ्य की बड़ी ही हृदयग्राहिणी अभिव्यक्ति हुई है।

आचार्यशंकर ने-जो दार्शनिकों के अमुकट सम्राट् हैं-अपनी असामान्य कोमलकान्त पदावली में लिखा था कि गंगाजल के लघुअंश की कणिका भी जिसने पीली, श्रीमद्भगवद्गीता का तनिक भी स्वाध्याय कर लिया, और एक बार भी श्रीकृष्ण की अर्चा कर ली, उसकी यमराज बात भी क्यों करने लगा :—

भगवद्गीता किञ्चिदधीता,
गंगाजललवकणिका पीता।
सकृदपि कृता मुरारिसमर्चा,
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥[27]॥

इसकी ध्वनि किरातार्जुनीयम् में देवेन्द्र के अर्जुन को कहे गये इन वचनों में सुनी जा सकती है :—

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः,
प्लाविते जह्नुकन्यया।
प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां,
पुरा (माभूरुदायुधः) ॥[28]॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोसम्बन्धी भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण भले ही आज हरेक को हृदयङ्गम न हो, पर मर्मज्ञों ने इसी आधार पर इसे खूब सराहा है। भारतभारती के विद्वानों के शिरोमणि मैक्डालन महोदय के शब्दों में गोजाति का मानव जाति पर इतना ऋण है कि वह अनन्त है। इस ऋण को यदि किसी ने चुकाया और भलीभांति चुकाया है तो भारतीयों ने[29]। वेदों में सूक्त के सूक्त गौं का गुणगान कर रहे हैं। कालिदास के अप्रतिम और अमर काव्य रघुवंश की तो मूलभित्ति ही देवधेनु नन्दिनी है जिसका चारण स्वयं सम्राट दिलीप करते थे।[30] भारवि भी पीछे नहीं रहे। हिमालय पर प्रस्थान करते अर्जुन ने बछड़ों के प्रति उत्सुकतावश साथ के झुण्ड की पंक्ति को छोड़कर उपहार की भांति निरन्तर दूध चुआती हुई चरागाह से गोष्ठ को आती गायें देखी थीं :—

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुका:,
शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपंक्तय:।
असक्तमूधांसि पय: क्षरन्त्यम्,
रुपायनानीव नयन्ति धेनव: ।।[31]।।

वे गायें संसार का कारण ओर संसार को पवित्र करने वाली थीं। वे संसार की उपादान रूप और पावन करने वाली मंत्रों से संयुक्त हुई यज्ञीय आहुति के समान प्रतीत होती थीं :—

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी
व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी।
द्युतिं समग्रां दधती गवामसा,
वुपैति मंत्रैरिव संहिताहुति: ।।[32]।।

देवाराधन के अंगरूप में ही कर्म, उपासना, योग सभी का महाकाव्य के छठे सर्ग में निसर्ग सुन्दर चित्रण हुआ है। अर्जुन के शिर पर जटाएं गुंथ गई थीं और उसका तप सीमान्त को पहुंच गया था। यद्यपि उन्हें अपने तप पर आश्चर्य नहीं हुआ-पर देवराज के गुप्तचरों की शान्ति उसने भंग कर दी :—

शिरसा हरिन्मणिनिभ: स वहन्
कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटा:।
उपमां ययावरुणदीधितिभि:
परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ।।[33]।।

और,

न जगाम विस्मयवशं वशिनां,
न निहन्ति धैर्यमनुभावगुण: ।।[24]।।

तथा,

चरतस्तपस्तव वनेषु सहा
न वयं निरूपयितुमस्य गतिम् ।।[25]।।

इसी प्रकार आगे शंकर जी के दूतों ने उनसे स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि इसके तप का तेज सहन करना उनकी शक्ति से बाहर है :—

वयमस्य नो विषहितुं क्षमा रुच: ।।[36]।।

इसके उत्तर में भगवान भूतभावन ने उन्हें समझाया था कि अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों ही ब्रह्मा जी की प्रार्थना से संसार का श्रेय करने के लिए मनुष्यों में आए हुए हैं :—

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मन: प्रजा:।
पातुमसुरनिधनेन भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठत: ।।[37]।।

अतिथिपूजन :—

अतिथि-सत्कार भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्ता है। संसार के किसी देश में अतिथि का ऐसा आदर नहीं किया जाता है, जैसा कि भारतवर्ष में। क्यों न हो, स्वयं श्रुति ने माता-पिता और ज्ञान दाता आचार्य के साथ अतिथि को भी देवता मानने का आदेश दिया है :—

मातृ देवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भवो।[38]

सभी स्वायत्त साधनों से अतिथि की सेवा की जानी चाहिए। यदि कुछ न हो तो आसन के लिए तिनके, बैठने के लिए भूमि, पानी और मधुर वाणी से ही उसका हार्दिक सत्कार किया जाना चाहिए—यह शास्त्रों का आदेश है। भगवान् मनु के शब्दों में :—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सुनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।।[39]।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनवास की अवधि में जब पाण्डवों के पास भगवान् पधारे तो उन्होंने इसी प्रकार उनकी अर्हणा की थी और जब वे आसन पर आसीन हो गए तब उनका आदेश पाने के बाद ही महाराज युधिष्ठिर ने आसन ग्रहण किया था :—

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हा,
मृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ।
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात्,
प्रशमइव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥40॥

अन्य स्थान पर भी किरातार्जुनीयम् में अतिथि-यज्ञ का वर्णन मिलता है। वृद्धरूप में आए देवराज इन्द्र ने अपने पुत्र अर्जुन से अतिथि पूजा प्राप्त की। वे आसन पर बैठे और थकान मिटाने के बाद उनसे बातें करने लगे :—

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः ।
विश्रम्य बिष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥41॥

संन्यासाश्रम :—

वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख किरातार्जुनीयम् में नहीं हुआ है। पर, अन्तिम आश्रम के प्रतिनिधि रूप में भगवान् व्यास तथा छद्मवेषधारी इन्द्र का चारु चित्रण हुआ है। दोनों चित्रण अति संक्षिप्त होते हुए भी हृदय पर कभी न मिटने वाली छाप छोड़ जाते हैं। जरा इनका आस्वादन करें :—

भगवान् व्यास अपनी मधुर दृष्टियों से हिंसक जन्तुओं को भी शान्ति प्राप्ति करा रहे थे। अपने चारों ओर वे ऐसा अद्भुत तेज धारण किए थे जो पापों का दाहक, पर दर्शनीय था।

मधुरैरवशानि लम्भय-
न्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां,
दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥42॥

और,

अनन्तर शरत्काल के चन्द्रमा की किरणों के समान तेजः किरणों से जो ऊंचे से लग रहे थे, जो कृष्ण वर्ण थे और पीली जटाओं से दामिनीयुत बादल के तुल्य थे, अपनी लोकातिशायिनी आकार-संपदा से जो सौम्यता की सम्पूर्ण श्री को संजोए थे और अपरिचित जनों के हृदयों में भी हठात् स्नेहभीने भाव पैदा कर रहे थे। उनके आकार की शान्तता उनके हृदय की पवित्रता को बतला रही थी और अनिर्वचीय मिठास और विश्वास भरी दृष्टि से मानो वे (उपस्थित प्राणियों) को आश्वासन दे रहे थे। वे धर्म की मूलभूत और पापनाशिनी श्रुतियों के प्रभव थे।

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामै
रुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गी
र्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ।
प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां
वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्त
मसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ।
अनुद्धताकारतया विविक्तां,
तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम् ।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा
कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ।
(धर्मात्मजो) धर्मनिबन्धिनीनां
प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम् ॥43॥

उधर अपने पुत्र की दृढ़ता की परीक्षा लेने मुनिवेष में आए देवेन्द्र की जटाओं के चारों ओर सफेद केश छिटक रहे थे, वे लगते थे मानो दिन का अन्तिम भाग हो—जिस पर सन्ध्याकाल में चन्द्र किरणें छितरा रही हैं।

उनकी भौंएं भी बुढ़ापे में सफेद हो चली थीं और उनको आखों के कोओं पर घिर आई थीं। वे ऐसे तालाब तुल्य लगते थे जिसके कमल-दल बर्फ गिरने से मुरझा गए हों।

यद्यपि वे वेष बदल कर आए थे फिर भी उनके उनके चारों ओर एक अलौकिक तेज बिखर रहा था। वे सूर्य के समान थे जिसका मण्डल छोटे से बादल के टुकड़े से ढक गया हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृद्ध होते हुए भी उनका आकार अलौकिक था। उनके आने से आश्रम की शोभा फीकी पड़ गई थी :

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव सन्ध्यया ।।
विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रदः ।।[44]।।
गूढोऽपि वपुषा, राजन्धाम्ना लोकाभिभाविना।
अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः ।।
जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकः ससाध्वसमिवाश्रमम्[45]

शान्ति इन मुनियों का धन होती थी, अन्तः शत्रुओं को निसंगता से समाप्त कर ये सिद्धि को प्राप्त होते थे :

व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाःशमेन सिद्धिं मुनयः'[46]

मुनिवेषी इन्द्र के शान्त वचनों की तुलना भी कवि ने ऋषि के शान्त आश्रम से ही की है। औदार्यादर्थ-संपत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव।[47]

वैराग्य, अनभिद्रोह, तप और क्षमा यतियों के पावन धर्म थे। तत्प्रधान देवराज के उपदेश को लक्ष्य कर क्षत्रधर्मनिष्ठ अर्जुन की यह वाणी मननीय है— शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि।[48] संसार की अनित्यतारूपी वज्र से त्रस्त हुए मुनिजन परम पवित्र ब्रह्मपद की इच्छा करते थे :

अनित्यताऽशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम्
(कामये)[49]।

ये मुनिजन ऐहिक और आमुष्मिक फल भोगों से विरक्त होकर जन्मबन्धन से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे :—

विजहीहि रणोत्साहं मा तपस्साधु नीनशः।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन ।।[50]।।

अर्थ और काम को ये महर्षिजन तत्त्वज्ञान के अनिवार्य विरोधी मानते थे और इन्द्रिजय को लोक विजय का अनन्य साधन, क्योंकि बिना इन्द्रियों के वशीकार के पुरुष, व्यवहार में पराधीन, नीचवृत्ति निर्लज और लोगों का दास बना रहता है :—

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ।।[51]।।
जीयन्तां दुर्जया लोके रिपवश्चक्षुरादयः।
जितेषु तेषु लोकोऽयं ननु कृत्स्नस्त्वया जितः ।।[52]।।
परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ।।[53]।।

सुख और धन तो समुद्र की तरंगों के समान भंगुर हैं। इसलिए विवेकीजन उनकी कामना नहीं करते।
न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।।[54]।।

मोक्ष का स्थान पुरुषार्थों में सर्वोपरि है—जिसे भवताप की शान्ति के सूचक 'निर्वाण' शब्द से भारवि ने ध्वनित किया है :—

निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ।।[55]।।

इस पद्य में 'अपि' शब्द की ध्वनि मननीय है

मुमुक्षुओं के लिए सारा जीवन ही दुःख है क्योंकि एक दिन काल के गाल में हरेक को बिलाना ही होगा। अतः इस संसार से छुटकारा पाना ही चाहिए। इसलिए निपुण व्यक्ति मोक्ष के लिए ही उद्यम करते हैं :

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः संततापदः।
इति-त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ।।[56]।।

उपर्युक्त वचनों में, मोक्षशास्त्र के पारंगतो ने मुमुक्षुओं के लिए जो कुछ आवश्यक बतलाया है उस सब का चातुरी से चित्रण कर दिया गया है। ब्रह्माण्ड हो चाहे ब्रह्मा, ऐहिक हो या आमुष्मिक, सब भंगुर हैं—इस बात को श्रुति ने बड़े डिण्डिम के साथ कहा है। यथा :

'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।[57]

ब्रह्म प्राप्ति में समस्त दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। यह उपनिषदों का सर्वस्व है। तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार :

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन ।।[58]।

इस ब्रह्म की जिज्ञासा की जो आरम्भिक आवश्यकताएं वेदान्त में बताई गई हैं, भारवि का निरूपण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी प्रतिध्वनि सी प्रतीत होती है। ब्रह्मसूत्रों के आदिसूत्र में आए 'अथ' पद को आनन्तर्यार्थक मानते हुए आचार्यवर्य शंकर ने इन्हें गिनाया है :

नित्यानित्यवस्तुविवेक:, इहामुत्रार्थभोगविरागं शमदमादिसाधन सम्पत्, मुमुक्षुत्वं च।...तस्मादथ-शब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते[59]।

सारे जन्म को ही दुःख का हेतु और मोक्ष से उसके उच्छेद को न्यायसूत्रकार ने भी मनोहरता से दरसाया है :—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।[60]

इस प्रकार के तपःपूतमुनियों का बाहरी आडम्बरों से कैसा सम्बन्ध ? इसलिए मात्र मृगचर्म और तरु त्वचा उनके परिधान होते थे :

तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले।[61]

सामान्यत: सबको, पर तपस्वियों को तो विशेषकर ही सबसे समान व्यवहार करना होता था :

अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम्।[62]

वह स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की मुनिवृत्ति का प्रभाव विरोधियों पर भी पड़े। अर्जुन के तपोभंग केलिए आई हुई अप्सराएं उनके प्रभाव से स्तिमित हो गई थीं :

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः।[63]

मोक्ष की सुलभता के लिए रज एवं तमोगुण को जीतना पड़ता है। ऐसा होने से सभी मनोरथ स्वयं प्राप्त हो जाते हैं :

......नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी।
ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जित रजस्तमोगुणः।[64]

मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि जीवन्मुक्ति है— जिसमें मनुष्य संसार के बीच रहता हुआ ही ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है। पर जीवन्मुक्त महात्मा भी लोककल्याण की दृष्टि से सज्जनों का सविशेष संवर्धन किया करते हैं :

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।[65]

व्यास जी के आदर्श में भारवि ने दिखावा कि प्राचीन मुनिजन किस प्रकार सत्य और समाज के प्रहरी हुआ करते थे।

इस प्रकार भारवि ने अन्तिम आश्रम का बड़ा भव्य रूप उकेरा है। उन्होंने इसे 'मुनिता' शब्द से सङ्केतित किया है। उपनिशदों में भी इस आश्रम के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है।[66]

अधिकार पालन :

सन्यास के प्रति गहरा आदर रहते हुए भी अर्जुन ने छद्मवेषी इन्द्र के निवृत्तिमय उपदेश को सविनय अस्वीकार कर दिया था क्योंकि आर्य-संस्कृति में 'अधिकार चर्चा' बहुत है। अर्जुन अभी गृहस्थाश्रम में क्षात्रमार्ग पर आरूढ़ थे। अत: अपने को वे अभी मुनिधर्म के योग्य न मानते थे। प्रबल वैराग्य की दशा में अपवाद होने पर भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, शास्त्रों में आश्रमों का यही क्रम बताया गया है।[67] जिस आश्रम में व्यक्ति स्थित हो उसका पूर्ण पालन करे-यही उसका धर्म है। अर्जुन उसका उल्लङ्घन कैसे कर सकते थे। उन्होंने छद्ममुनि से यही तो कहा था :

कथं वादीयतामर्वाङ् मुनिता धर्मरोधिनी।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः॥[68]॥

उधर उन्होंने किरात से भी धीर गम्भीर स्वर में कहा था कि हम वर्ण और आश्रमों के सहजात रक्षक हैं।[69]

दीर्घ दृष्टि और सार्वभौम स्वरूप :

आर्य संस्कृति केवल इस लोक तक सीमित नहीं, इसकी लोक दृष्टि अत्यन्त दूरदर्शिनी है। इस लोक के अनन्तर दूसरे लोक हमारी प्रतीक्षा करते हैं। अत: बुद्धिमान वही है जो दोनों को संभाले[70]। इसके साथ ही अधिकारियों के लिए वर्ण और आश्रम व्यवस्था के समान ही सारे संसार की सुखशान्ति के लिए इसने कुछ सामान्यमार्ग भी निर्धारित किए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सार्वभौम मार्ग को 'शील' इन दो अक्षरों से उपस्थापित किया जा सकता है। शील को ही सद्वृत्त या सदाचार भी कहते हैं।[71] महर्षि हारीत ने शील को 'त्रयोदशविध' बतलाकर उसे अत्यन्त व्यापक बना दिया है।[72] भारवि इस शील को आवश्यक समझते हैं कि संसार के बच्चों तक को विपत्ति के हेतुभूत कुमार्ग से पीछे हटने का उपदेश देने को उत्सुक यति-गण भी इसका अभ्यास किया करते हैं, यद्यपि अपने लिए उन्हें कुछ भी करणीय शेष नहीं क्योंकि अपनी योगशक्ति से वे जन्ममरण के चक्र को जीत चुके है। उनके शील के अनुशीलन का इतना ही प्रयोजन है कि सामान्य जन भी उनका अनुसरण करते हुए जीवन सफल कर सकें :—

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छवः
संनिवृत्तिमपथान्महापदः ।
योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः
शीलयन्ति यतयः सुशीलताम् ।।[73]

भारवि की दृष्टि में शील अकेला ही सब कुछ दे देता है, तपस्वियों को यह पुण्य देता है तो सुखेच्छु सामान्य जन को सम्पदायें। योगियों को यही मोक्ष तक प्राप्त करा देता है। फिर भला सज्जनों को यह क्यों न प्यारा हो ?

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासजन्
सम्पदोऽनुगुणयन् सुखैषिणाम् ।
योगिनां परिणमन् विमुक्तये
केन नास्तु विनयः सतां प्रियः ।।[74]

सदाचार की परम्परा अनादि है। श्रेष्ठ पुरुष सदा इसका अनुगमन करते आए हैं। कोई भद्र पुरुष उसका उल्लंघन करे—भारवि को यह आशा नहीं।

स्मर्यते तनुभृतां सनातनम्,
न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभिः ।
ध्वंसते यदि भवादृशस्ततः
कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना ।।[75]

हारीतप्रोक्त शील के अधिकांश भेदों का भारविकृत चित्रण पूर्व पंक्तियों से प्रायः गतार्थ हो जाता है। सौम्यता, अ-परोपतापिता (दूसरों का हृदय न दुखाना) अनसूया (ईर्ष्या न करना), कोमलता, कठोरता का अभाव, प्रियवादिता, करुणा और शान्ति, भारवि का काव्यनायक इन मानवीय गुणों का मूर्त्त रूप है। छल-वेषी इन्द्र और किरात के दूत के कठोरतम वाक्यों को वर्षा की बौछारों को गिरिराज की भाँति सहकर[76] और आगे दोनों के गुणों की मुक्तकण्ठ प्रशंसा करके[77] उन्होंने (अर्जुन ने) शील की वह अचल धवल ध्वजा फहराई जिसे देखकर उनके विरोधी को भी उन्हें 'दिव्यांश मानना पड़ा।

शान्तता विनययोगि मानसं
भूरिधाम विमलं तपः श्रुतम् ।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसा
मन्ववायमवदातमाकृतिः ।।[78]

मानवीय मुख्य सम्बन्ध :

यद्यपि व्यापकता के साथ गृहस्थ या कहिए मानव जीवन के मुख्य सम्बन्धों का निदर्शन बाल्मीकि, व्यास और कालिदास के बाद अधिक सुलभ न हुआ, फिर भी शील के रूप में भारवि ने उसे काफी सफलता से चित्रित किया है। महाराज युधिष्ठिर विपत्ति में भी धर्म पर अविचल रहने वाले आदर्श राजा ही नहीं[79] आदर्श अग्रज भी हैं। भीम की तीक्ष्ण उक्तियों को वे सस्नेह सुनते हैं। अर्जुन तो आदर्श अनुज हैं ही। अग्रज की आज्ञा पर वे सब कुछ करने को कटिबद्ध हैं। बड़े यदि अनुचित आदेश दे दें तो उसका भी पालन होना ही चाहिए। महर्षि बाल्मीकि ने भगवान राम के चरित्र में ऐसा ही आदर्श रखा था। अर्जुन एवं उसके दूसरे भाइयों को भी यद्यपि अच्छी तरह ज्ञात था कि जुए में पत्नी एवं भाइयों को दांव लगाना युधिष्ठिर का दोष था, पर वे उसे 'भवितव्यता' कहकर ही सन्तोष करते हैं—युधिष्ठिर को कुछ नहीं कहते :

दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः ।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ।।[80]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जुन के वह गुण ही थे जिनके कारण महाराज युधिष्ठिर दुष्कर कर्म के अवसर पर उन्हीं को याद करते थे जैसे प्यासा पानी को याद करता है :

ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जले: ।।[81]

वे आदर्श पति भी थे। सबसे अधिक उनके हृदय को जो बात रह रहकर व्यथित करती थी वह थी कौरवों द्वारा द्रौपदी का अपमान। तप:स्थिति में भी उसकी आंसुओं से भरी आँखे उन्हें भुलाए नहीं भूलीं। राजसभा में चीरकर्षण के समय, उसने अपने पतियों पर दृष्टि डाली थी, पर मर्यादापरवश हुए वे मन मसोस कर बैठे रहे। उस दृश्य को स्मरण करते हुए उन्होंने देवराज से कहा था

अयथार्थक्रियारम्भै:,
पतिभि: किं तवेक्षितै:।
अरुध्येतामितीवास्या:
नयने बाष्पवारिणा ।।[82]

'जो पतित्व के अनुरूप पत्नी की रक्षा क्रिया का आचरण नहीं करते ऐसे पतियों को देखने से क्या लाभ ? मानो ऐसा कहते हुए आँसुओं ने उसकी आँखों को छेक दिया था' इन शब्दों में कितनी टीस है ? उधर द्रौपदी भी आदर्श पत्नी है। वह अत्यन्त विनम्र है, किन्तु साथ ही स्पष्ट एवं सत्यवक्त्री भी है। पाण्डवों के सुखदु:ख की छाया सी सङ्गिनी है पर पथ-प्रदर्शिका भी है। न्याय और पतिगौरव की रक्षा की चिन्ता उसे पाण्डवों से भी अधिक है। इनकी रक्षा के लिए अपने हृदय को कुलिश कठोर बना कर वह अर्जुन के दीर्घ विछोह के लिए सद्य: प्रस्तुत हो जाती है यद्यपि इस विछोह का दु:ख सबसे अधिक उसी के ऊपर पड़ा था। कवि के शब्दों में :

तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं
विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां
विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ।।[83]

'अन्धेरा तेज: पूर्ण दिन के चार प्रहरों को छोड़कर रात्रि में जमा हो जाता है। वैसे ही सिमटा हुआ वह दु:ख चारों पाण्डवों को छोड़कर द्रौपदी को प्राप्त हो गया।'

अर्जुन की लक्ष्यप्राप्ति का सर्वाधिक श्रेय द्रौपदी को है। द्रौपदी की वाणी ने उनमें वह तेज भरा था जो उत्तर दिशा (उत्तरायण) सूर्य में भरती है।

आसाद्य वाचं स दिदीपे।
काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मि:[84]

कालिदास ने तो केवल शब्दों में ही इन्दुमती को :

'गृहिणी सचिव: सखी मिथ: प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।[85]

कहलाया था, पर भारवि ने नपे-तुले पद्यों से ही उसके इन रूपों को साकार करके दिखा दिया। वैसी सचिवता तो संस्कृत के ही क्या, सारे संसार के साहित्य में दुर्लभ होगी।

मैत्रीसम्बन्ध :

मैत्री सम्बन्ध भी भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है। विवाह की भांति यह सम्बन्ध भी अग्नि को साक्षी बनाकर किया जाता था। कवि राम और सुग्रीव की भांति परस्परनिष्ठ प्रेम को आदर्श समझता है :

राघवप्लवगराजयोरिव
प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ।।[86]

भारवि के लिए तो मित्र प्राण संकट में भी रक्षा करने वाला होता है।[87] लाभ और सम्पदाएं मित्र की तुलना में अत्यन्त तुच्छ होती हैं, क्योंकि सन्मित्र थोड़े ही उपकार से मिल जाना है, जबकि सम्प्रदाएं कष्टलभ्य होती हैं: मित्र रक्षा करता है पर सम्पत्तियों की रक्षा करते भी वे नहीं टिकतीं, मित्र अन्त तक भला रहता है, पर सम्पदाओं का अन्त अच्छा नहीं होता :

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा
रक्षितारमसुरक्ष्यभूतय:।
स्वन्तमन्तविरसा जिगीषतां
मित्रलाभमनु लाभसम्पद: ।।[88]

धन अति अस्थिर है, उद्धत शत्रु जमीन भी छीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेते हैं। पर्वत के समान स्थिर है तो केवल मित्र-उसकी अवज्ञा नहीं होनी चाहिए; वह तो खोज कर पाने की चीज है :

> चञ्चलं वसु नितान्तमुद्धता,
> मेदिनीमपि हरन्त्यरातय:
> भूधरस्थिरमुपेयमागतं,
> मावमंस्त सुहृदं महीपतिम् ॥

मित्र का कैसा अद्भुत महत्त्व-चित्रण है यहां ?

शत्रु पर भी कृपा :

मित्र की तो बात ही क्या ? कविवर ने शत्रु के सम्बन्ध में भी आर्यमर्यादाओं को सावधानी से उतारा है। रणाङ्गण में विजय की आशा छोड़ जब शिव जी के गण भागने लगे तो अर्जुन को उन पर दया हो आई थी, क्योंकि वश में आए हुए शत्रुओं पर भी कृपा करने में ही तो बड़ों का बड़प्पन है :

> खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तया ।
> व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥[89]

शास्त्र महिमा :

कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान शास्त्र, गुरु, और सज्जनों के संग से ही हो सकता है। इसलिए यह स्वभाविक था कि भारवि अपने वाक्य-पुष्पों से इनकी अर्चना करते। शास्त्र का स्थान उनकी दृष्टि में सर्वोच्च है। मानव बुद्धि शास्त्र का स्थान नहीं ले सकती। जब कार्य अकार्य के सम्बन्ध में बुद्धि संशय के अन्धकार से आच्छन्न हो जाती है, तब निसर्ग निर्मल शास्त्र सम्यक् प्रज्वालित दीपक के समान उसका मार्गदर्शन करता है :

> मतिभेदतमस्तिरोहिते, गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।
> सुकृत: परिशुद्ध आगम:, कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ।[90]

शास्त्र का प्रमाण सर्वोपरि है, और उसे हिलाया नहीं जा सकता :—

> अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥[91]

गुरु का गौरव :

इस शास्त्र का बोध चूंकि गुरु की कृपा से होता है अत: उसका गौरव असंशय गुरुतर है। धर्मराज युधिष्ठिर[92] या अर्जुन[93] की तो बात ही क्या, उनका तो प्रतिनायक भी गुरु के उपदेशानुसार ही कार्य करता था :

> गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेपि वा निहन्ति दण्डेन
> स धर्मविप्लवम् ।[94]

गुरुजन सहजस्नेहपूर्ण होते हैं, उनके सामने चंचलता उचित नहीं। उनका धैर्य सागरदृश होता है। पर यदि बहुत चाञ्चल्य दिखलाया जाय तो जिस प्रकार प्रलयकालिक हवाएं समुद्र को मर्यादा से बाहर कर देती हैं उसी तरह गुरु भी क्षुब्ध हो सकते हैं :

> वारिधीनिव युगान्तवायव:
> क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि[95]

सत्संगति :

गुरुओं की भांति सन्तों (भद्रपुरुषों) की कृपा भी सन्मार्ग प्राप्ति में परम सहायक होती है। अत: भारतीय संस्कृति में सन्तों की बड़ी बड़ाई हैं। 'सत्' शब्द परमात्मा का वाचक माना गया है :

> ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत: ।[96]

उपनिषदों के अनुसार सच्चा सत् (न्त) परमात्मा ही है।[97] उसकी प्राप्ति में सहायक महापुरुषों को भी सत् कह दिया जाता है। सत्संगति का महत्त्व महाकवि ने बड़े ऊंचे शब्दों में कहा है। इससे व्यक्ति का कल्याण स्वयं उसकी सेवा में उपस्थित हो जाता है। सद्गुण उत्पन्न होते हैं और विपत्तियां दूर भाग जाती हैं। इसके अनेक फल हैं। भला इसके लिए क्यों न उत्सुकता हो ?

> आत्मनीनमुपतिष्ठगुते गुणा:
> संभवन्ति विरमन्ति चापद: ।
> इत्यनेकफलभाजि मास्म भू-
> दर्थिता कथमिवार्यसङ्गमे ।[98]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सज्जन किसी की अवज्ञा नहीं करते। उनकी वाणी दोष नहीं जानती। वह तो सदा गुणों का ही बखान करती है :

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं
किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम्।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं,
सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ॥[99]

इसके बिल्कुल उल्टे होते हैं दुर्जन। उनका संग विजय में विघ्न और सर्वनाशकारिणी विपदाओं का निधान होता है :

असाधुयोगा हि जयान्तराया: प्रमाथिनीनां विपदां पदानि।[100]

दुर्जन सज्जन के गुणों को छिपाकर दोषों को उस पर थोपते हुए अपने हृदय को छिपाना चाहता है, पर उसकी कुटिल वाणी तो तलवार के समान? उसके हृदय को मानो दो टूक करके बतला ही देती है कि इसमें कितना कलुष है :

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद्,
भृशाधिरुढ़स्य समंजसं जनम्।
द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहत:,
स्फुन्नसाधोर्विवृणोति वागसि: ।[101]

ये सज्जनों के जन्मजात शत्रु होते हैं :

प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधव: ।[102]

इस तरह महाकवि भारवि ने भारतीय संस्कृति का वैभवभरा सार्व-भौम मंगलमय मञ्जुल चित्र अपनी रससिद्ध तूलिका से उकेरा है। भारतीय संस्कृति के प्रेमी सदा कृतज्ञता से इनका स्मरण करेंगे, क्योंकि उन्हीं के शब्दों में :—'सज्जनैकवसति: कृतज्ञता'।[103]

संदर्भ :—

1. "Soil of ancient India ! Cradle of Humanity ! hail ! hail ! Venerable and efficient Nurse ! Whom centuries of brutal invassions have not yet buried under the dust of oblivion. Hail ! Fatherland of Faith, of Love. of Poetry, and of Science ! May we have a revival of they past in our western future. Bible In India, by, (M. Louis) Jacolliott.

२. मनुस्मृति: २/२० ॥

३. दे: वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, म.म. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण, पृ. १९६।

४. ऐहोल शिलालेख जिसका समय ५५६ शकाब्द ६३४ (ईस्वी माना गया है।)

यह शिलालेख भारवि के समय की पररेखा को भी स्पष्ट कर देता है जिसे देखते हुए पांचवी शती के पूर्वार्ध को इनके कालकी पूर्व सीमारेखा माना जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार की सीमान्त प्रतिष्ठा पाने के लिए इतना काल लग जाना स्वाभाविक है।

५. कविकुलगुरु कालिदास ने उर्वशी के अनिन्द्य सौंदर्य के सम्बन्ध में लिखा था कि उसकी रचना वेद के अभ्यास से जड़ एवं विषयरूचिशून्य हुए वृद्ध विधाता के वश की बात नहीं थी—

वेदाभ्यासजड: कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहल:।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनि: ॥
विक्रमोर्वशीय १/१०

६. ऋग्वेद १०/९०/१२, यजुर्वेद ३१/११, अथर्ववेद १९,१,६,६।

७. It is not good to destrory the stately edifice built by the Rsis which has weathered many a storm and given a safe shelter to myraid generations of the Hindus. Chaldea, Persia, Egypt, Greece and Rome have perished mighty as once they were. India which was their contemporary has out-lived them all. And this marvellous endurance while primarily due to her profound spirituality is partly due to the stability given her by her Cast System.

Dr. Annie Besant

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्योदय (वाराणसी) १९४७-४८ विशेषांक, पृ. १३ पर उद्धृत ।.

८. किरातार्जुनीयम् ११/४५ ।

९. किरातार्जुनीयम् ३/४१

१०. वही— ३/४८

११. वही— ३/१५

१२. वही— ११/७८

१३. वही— १३/१२

१४. किरातार्जुनीयम्-१/३९

१५. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत-अथर्ववेद ११।५।१९ ।

१६. श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं, प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् । सवार्णलिङ्गी विदितः समाययौ, युधिष्ठिरं द्वैतवने बनेचरः-किरातार्जुनीयम् ॥१/१

१७. मनुस्मृति :— ३।७८। ।

१८. वही—३।८० ।

१९. वही — ३/७३

२०. वही—१।९५

२१. किरातार्जुनीयम्—१३।६५

२२. "But who ever has undergone the intense experience of successful advance made in the domain of science, is moved by profound reverence for the rationality manifest in existence. By way of the understanding he achieves a far-reaching emancipation from the shackles of personal hopes and desires and thereby attains that humble attitude of mind towards the grandeur of reason incarnate in existence, and which in it's profoundest depths, is inaccessible to man.

Out Of My Later Years. 1950, P. 29.

२३. द्र. ऋग्वेद-१०/१२१/४, अथर्व-६/२४/१, २१, १, ११ आदि ।

२४. कुमारसंभवम् १/१ । 'देवतात्मा' शब्दपर डा० अग्रवाल के विचार द्रष्टव्य हैं :—

हिमालय केवल पत्थर मिट्टी का ढेर नहीं है, वह लता, वनस्पति, ओषधि, पुष्पऔर रत्नों का निरा उत्पत्ति स्थान नहीं है । हिमालय का सच्चा स्वरूप कवि के शब्दों में देवतात्मा है, उसके प्रदेश देव भूमियाँ हैं । हिमालय का देवत्व कोरी कवि कल्पना भी नहीं है । जिस पर्वतराज के उच्च शिखरों की हिमराशि मातृभूमि का सुन्दर मुकुट है, जो हमारे मेघजल वर्षा संस्थान और ऋतुचक्र के क्रम को चलाता है, जिसने अपनी नदियों द्वारा करोड़ों वर्षों के श्रम से हमारे लिए पवित्र, विस्तृत और सुन्दर मातृभूमि का निर्माण किया है उस हिमालय का देवत्व स्वयं सिद्ध है । भारत की मौलिक एकता, पृ. ८२-३

२५. किरातार्जुनीयम् ५/१७ ।

२६. ,, ५/२१

२७. आदिशंकराचार्यकृत चर्पटपञ्जरिका स्तोत्र, श्लोक ५ ।

२८. किरातार्जुनीयम् ११/३६ ।

२९. To no other animal has man-kind owed so much and the debt has been rightly paid in India, with a veneration unknown in other lands. Macdonell. A.A. A History of Sanskrit Literature, Motital B. Das, Delhi, 1962, P. 91-92.

३०. रघुवंशम्, द्वितीय सर्ग ।

३१. किरातार्जुनीयम् ४/३१ ।

३२. वही ४/३२ । यह पद्य कवि की यज्ञों में निष्ठा का भी परिचायक है । दुर्योधन भी सविधि-यज्ञ किया करता था :—

धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्—वही१/२२ ।

३३. किरातार्जुनीयम् ६/२६

३४. वही ६/२८

३५. वही ६/३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३६. वही १२/३०
३७. वही १२/३५
३८. तैत्तिरीयारण्यक १/६ १,/११-१२
३९. मनुस्मृति: ३/१०
४०. किरातार्जुनीयम् २/५८
४१. किरातार्जुनीयम् ११/६।
४२. वही २/५४।
४३. वही ३/१-४।
४४. किरातार्जुनीयम्—११/३-४।
४५. वही—११/६-७।
४६. वही—१/४२।
४७. वही—११/४०।
४८. वही—११/४२।
४९. वही—११/६६।
५०. किरातार्जुनीयम्—११/३१।
५१. वही—११/२०
५२. वही—११/३२।
५३. वही—११/३३।
५४. वही—११/६६।
५५. वही—११/६९।
५६. वही—११/१३।
५७. छान्दोग्य उपनिषद् ८/१/६।
५८. तैत्तिरीय उपनिषद् २/९।
५९. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य १/१। निर्णयसागर संस्करण १९४८, पृ० ५।
६०. न्यायदर्शनम्—१/२।
६१. किरातार्जुनीयम्—११/१५।
६२. वही—३/११।
६३. वही—१०/६।
६४. वही—१३/४०।
६५. वही—३/१५।
६६. तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनि:, अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण :—वृहदारण्यकोपनिषद् ३, ५, १।
६७. ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्-

जाबालोपनिषद् ४।

६८. किरातार्जुनीयम् ११/७६।
६९. वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिता:,

क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिद:।

सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं,

भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिन: ॥

किरातार्जुनीयम् १४/२२।

७०. आपदेत्युभयलोकदूषणी

वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम्।

वही—१३/६४।

७१. शीलं स्वभावे सद्वृत्ते—अमरकोष नानार्थवर्ग।
७२. ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता. मृदुता, अपारुष्यम्, मैत्रता, प्रियवादित्वम्, कृतज्ञता. शरण्यता, कारुण्यता, प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्। शब्दार्थ चिन्तामणि:, भाग ४, पृ० ५८०।
७३. किरातार्जुनीयम् १३/४३।
७४. वही—१३/४४।
७५. वही—१३/४२।
७६. व्याहृत्य मरुतां पत्याविति वाचमवस्थिते।

वच: प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वज: ॥

तथा,

तत: किरातस्य वचोभिरुद्धतै:।

पराहत: शैल इवार्णवाम्बुभि:।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः,
सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः ॥
किरातार्जुनीयम्—११/३७ तथा १४/१ ।

७७. द्र० किरातार्जुनीयम् ११/३८ से ४१ तक तथा १४/३ से ७ तक ।

७८. वही—१३/३७ ।

७९. पथश्च्युतायां समितौ रिपूणाँ
धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय—वही ३/१५

८०. वही ११/४७ ।

८१. वही ११/७४ ।

८२. वही ११/२५ ।

८३. किरातार्जुनीयम् ३/३५ ।

८४. वही ३/५५ ।

८५. रघुवंश-अजविलाप ।

८६. किरातार्जुनीयम् १३/५७ ।

८७. मित्रमिष्टमुपकारि संशये—१३/५१ ।

८८. किरातार्जुनीयम् १३/५३ ।

८९. वही १५/३-३ ।

९०. ,, २/३३ ।

९१. ,, १३/३९ ।

९२. अवहितहृदयो विधाय सोर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम्, वही २/५८

९३. वही ३/२४ और ११/४६ ।

९४. किरातार्जुनीयम् १/१३ ।

९५. वही १३/६६ ।

९६. श्रीमद्भगवद्गीता १७/२३ ।

९७. अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः तैत्तिरीयोपनिषद् ६/३० ।

९८. किरातार्जुनीयम् १३/६९ ।

९९. किरातार्जुनीयम् १४/११ ।

१००. वही ३/१४ ।

१०१. वही १४/१२ ।

१०२. वही १४/२१ ।

१०३. वही १३/५१

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० श्यामसुन्दर दुबे,
हिन्दी विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
अम्बिकापुर, सरगुजा, (मध्यप्रदेश)

अपने अपने अजनबी : मरण और वरण के बीच

जिस उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप को अभिव्यक्त किया जाता है वह उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यास की श्रेणी में आता है। दूसरे अर्थों में पात्रों के भावों के उत्थान और पतन को तथा उनकी मानसिक प्रक्रिया को विस्तृत रूप में पाठकों के सामने रखना यही उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता है। इस दृष्टि से 'अपने अपने अजनबी' पूर्णत: मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। पात्रों के भावों का प्रदर्शन उनकी क्रियाओं से संभव हो पाता है। या फिर अपने आत्मानुभवों को स्वप्न शैली, डायरी शैली या स्मृतियों की पूर्वदीप्त शैली ही व्यक्त कर पाती है। पात्रों की आंतरिक सत्ता के साथ कभी कभी घटनायें भी जुड़ जाती हैं। घटनायें केवल घटती ही नहीं वे बोलती भी हैं। उनकी स्वर-कथा व्यक्ति के भीतर से अनुगूंज भरती है। अज्ञेय ने 'अपने अपने अजनबी' में पात्रों के कार्यों से, उनके आत्मनिष्ठ डायरी लेखन संदर्भों से और घटनाओं की प्रतीकात्मक से मनोविज्ञान को प्रस्तुत किया है। अज्ञेय के साथ इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि के उपन्यासों में भी मनोविज्ञान मिलता है किंतु अधिकतर इन लेखकों ने मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को ही प्रतिपादित किया है। कथात्मक सुन्दरता को बनाये रखने के साथ ही उसकी प्रेषणीयताको सुरक्षित रखनें वाले उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता का पुट अज्ञेय की कला का महत्वपूर्ण अंग है।

'अज्ञेय का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण फ्रायड के साथ साथ एडलर और डार्विन से भी प्रभावित है। फ्रायड के मनोविश्लेषण सम्बंधी सिद्धांतों एवं उसके मानसचर्या के निष्कर्षों का सफल प्रतिपादन अज्ञेय के उपन्यासों में मिलता है। बल्कि कहा तो यहाँ तक जाता है कि हिन्दी में अज्ञेय ही एकमात्र कलाकार हैं जिन्होंने फ्रायड की मान्यताओं को एक कलाकार एवं साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित किया।' 'शेखर : एक जीवनी' में बाल मनोविज्ञान का अच्छा विश्लेषण किया गया है। बाल्यावस्था के प्रारम्भिक वर्ष चेतना-निर्मिति के वर्ष होते हैं। विभिन्न ग्रन्थियों का निर्माण इसी उम्र में होता है। यौन कुण्ठाओं की प्रचुरता-'शेखर एक जीवनी' में मिलती है। 'इन यौन कुण्ठाओं की पूर्ति अपूर्ति से ही उद्भूत समस्यायें, कुंठायें, असफलताएं, विक्षिप्तता का सही अंकन अज्ञेय द्वारा किया गया है।' केवल पुरुष ही नहीं नारियाँ भी इसी भाव से परिचालित हैं—'फ्रायड ने पारिवारिक रोमांस का जो चित्र प्रस्तुत किया है, पिता का पुत्री के प्रति, भाई का बहिन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति यौनभाव का आकर्षण होना, माता पिता के यौन प्रणय व्यापार को देख लेने की उत्सुकता होना और उसे देख लेने में सफल होना, इनकी मानसिक प्रतिक्रिया इत्यादि का सुन्दर और आकर्षक वर्णन शेखर से बढ़कर कहाँ हैं?" 'नदी के द्वीप' में भी यौन भाव ही प्रमुख है। 'इसमें यौन-भाव पूर्णत: विकसित चरित्रों की अंत: संचालिका शक्ति के रूप में है।' अंह भाव का स्वरूप भी 'नदी के द्वीप' में है। वस्तुत: इस उपन्यास में यौनभाव एवं अहं इन्हीं दो मनोवृत्तियों को आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाकर चरित्रों की कुंठाओं, उनकी क्षुब्धताओं, आत्म-वंचनाओं आदि का उल्लेख किया गया है।

'अपने अपने अजनबी' में यौनभाव एवं रूमानी प्रवृत्तियों का समापन सा हो जाता है। पात्रों की संख्या सीमित हो जाती है और उनकी मन: स्थितियाँ बिल्कुल भिन्न तरीके से प्रस्तुत होती हैं। 'यह अद्भुत विषय वस्तु के सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से हिन्दी का बेजोड़ उपन्यास है। अज्ञेय ने इसको सीमित, देशकाल रहित, मानव मन की शाश्वत अनुभूतियों पर आधारित करके वस्तुत: हिन्दी के औपन्यासिक सृजन को विश्व उपन्यास साहित्य के समकक्ष स्थापित कर दिया है। इसके सभी चरित्र समाज से अलग व्यक्ति घेरों में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में जीना चाहते हैं। उनकी मानसिक गतिविधियाँ असामान्य हैं जो मनोविज्ञान के सिद्धांतों से भी नहीं नापी जा सकती हैं। 'अपने अपने अजनबी' में अहं और विद्रोह की भावना प्रबल रूप में प्राप्त होती है। वृद्धा सेल्मा में अहं है कि वह अपने वृद्ध जर्जर व्याधि-पीड़ित शरीर के होते हुऐ भी योके का सहारा लेना कदापि स्वीकार नहीं करती। नदी की बाढ़ में घिरे पुल पर रहते हुए भी जब सेल्मा अपने पड़ौसी—यान तथा फोटोग्राफर के प्रति नितांत निरपेक्ष रहती है तब भी उसका अहं परिलक्षित होता है। सेल्मा की यह अहम्मन्यता अति के साथ चित्रित है। मृत्यु के आसन्न क्षणों में तो सामान्य मानव अपने से इतर किसी भी प्रकार की सहायता की आवश्यकता अनुभव करता ही है। योके के चरित्र में भी अहम्मन्यता पूर्णरूपेण व्याप्त है, क्योंकि वह अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक में इसकी अभिव्यक्ति करती जाती है—'कह दो—सारी दुनिया से कह दो, अंत में मैं हारी नहीं—अंत में मैंने जो चाहा सो किया—मर्जी से किया। चुनकर किया। मरियम ईसा की माँ—ईश्वर की माँ मरियम।' सेल्मा का अहं योके की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है—उसे स्वाभिमान का पर्याय कहा जा सकता है। पुल पर घिरी सेल्मा और काठघर में कैद सेल्मा—इन दो अलग अलग स्तरों पर सेल्मा का स्वाभिमान परखा जा सकता है। पुल पर घिरी सेल्मा व्यापारिक अधिक है, उसकी मानवीय सम्वेदनाओं में किसी न किसी प्रकार की जड़ता हैं। संभवत: लेखक उन परिस्थितियों में घिरे व्यक्ति की मन:स्थिति का विवरण देना चाहता है। अतिशय व्यक्तिवादिता के कारण ही उसमें अहं की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे रूप में वह जीवन के प्रति तटस्थ है—यहाँ तक कि उसे मृत्यु से भी भय नहीं है। इस स्तर पर उसके अहं में जीवन की निस्संगता का आभास होता है। दरअसल सेल्मा की व्यक्तिवादिता जीवन की दो चरमस्थितियों की व्यक्तिवादिता है—मृत्यु के क्षणों में मनुष्य की लाचारी और बेबसी का लाभ उठाकर अधिक से अधिक द्रव्य अर्जन करना जिसमें व्यवसायिक वृत्ति का प्रदर्शन है। दूसरे, अपने आप को मृत्यु के पास समझकर जीवन के प्रति वीतरागी अन्यमनस्कता को ग्रहण कर लेना। योके का अहं विद्रोही है और यह प्रवृत्ति उसे विक्षिप्तता तक ले जाती है। योके का अहं समाज से टकराता है। सेल्मा में समझौता करने की क्षमता है। व्यवसाय प्रधान वृत्ति का प्रधान लक्षण समझौता ही होता है।

यौनभाव का जो स्वरूप 'शेखर एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' में मिलता है वह 'अपने अपने अजनबी' में नहीं है। यह उपन्यास यौनग्रन्थियों को लेकर लिखा ही नहीं गया। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की व्याख्या ही यह उपन्यास करता है। योके के चरित्र में यौन-भाव अवश्य मिलता है। उपन्यास के अंत में वेश्या के रूप में योके की स्थिति की जनधारणा और जगन्नाथन के प्रति उसका व्यवहार विकृत यौन भाव का प्रतिफलन है।

प्रस्तुत उपन्यास में उपस्थित चरित्र संघर्ष का आधार मनोवैज्ञानिकता ही है। इस चरित्र संघर्ष के कारण ही उपन्यास उद्देश्य प्रधान न होकर चरित्र प्रधान है। एक आलोचक ने इस चरित्र संघर्ष को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'अब वे दो हैं और उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये अजनबी डर का सामना करने की समस्या ही नहीं एक दूसरे को समझने की भी समस्या है और यही चारित्रिक रहस्यमयता की समस्या है जिसका उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। उपन्यास के आरम्भ में सेल्मा योके से कहती है—मैं तो अजनबी डर की बात कह गयी—'अभी तो हम तुम भी अजनबी से हैं, पहले हम लोग तो पूरी पहचान कर लें।' इसी परिस्थिति के कारण योके का मनस्ताप बढ़ता गया है और उसका चरित्र रहस्यमय बनता गया है। योके के लिये सेल्मा एक प्रहेलिका बनी रहती है। योके के मन में बराबर सेल्मा को समझने की प्रक्रिया चलती है किन्तु मौन और निस्संग आदमी को समझ पाना आसान नहीं है। सेल्मा जिस दृढ़ता और सम्पूर्णता तथा बिना किसी हिचकिचाहट के जीवन जी रही है—यह सब योके के लिए तर्क जाल में फंसाने वाला है। योके के समक्ष जीवन का प्रत्येक मसला तर्क पर आधारित है। कभी बुढ़िया के अनुभव संचय तक न पहुंचने की असमर्थता वह जाहिर करती है। किसी क्षण में तो वह सेल्मा से नितांत अपरिचित रह जाती है और उसे संदेह होने लगता है—'कहीं न कहीं जरूर बुढ़िया में कोई झूठ है। कोई आत्म-वंचना है। हो सकता है कि गहरे में छिपी हो लेकिन यह नहीं हो सकता कि वह हो ही न......। इन दोनों पात्रों की समझ में जो गहरी अनबन है वह इनकी प्रतीकात्मकता के कारण ही अधिक है। सेल्मा मृत्यु-भय से मुक्त है और योके भय-ग्रस्त है। इन्हीं दो जीवन पद्धतियों के कारणयो के और सेल्मा के बीच अपरिचय के पहाड़ हैं। एक को संत निकोलस के आगमन की प्रतीक्षा है तो दूसरे को कहना पड़ता है कि 'संत निकोलस आता होगा वहाँ ऊपर—कब्र में थोड़े ही आयेगा।' योके को मृत्यु की सच्चाई का अहसास होने लगता है। इसी अहसास के बीच योके को लगता है कि—'हम दोनों मानो ऐसे ही पतले कांच की सतह पर बैठकर हंस रहे हैं। यह एक जादू ही है कि हमारे बैठने से ही वह कांच टूट नहीं गया लेकिन इतना तो निश्चय है कि हिलने डुलने से टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जायेगा।' यह अनुभूति आसन्न संकट की भय-भावना की प्रतीक है। अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की व्याख्या करने के लिये अज्ञेय ने इन दो परस्पर विरोधी प्रतीकों की रचना की है। इन दोनों के आपसी तर्कों-वितर्कों तथा चिन्तन क्रम में मरण तथा वरण विषयक विचारों, अपनी दृष्टि से अस्तित्ववादी धारणाओं, का उपयोग करते हुए जीवन मीमांसा की है।' एक ओर सेल्मा है जो बुढ़ापे तथा कैंसर के कष्टों, हिमकैद, मृत्यु-भय आदि से निरपेक्ष तटस्थ है, ऐसी विकट परिस्थितियों में भी वह सहज रूप से क्रिसमस का त्योहार मना सकती है—देव शिशु के अवतरण के गाने गा सकती है और दूसरों को गाने के लिए कह सकती है—सहज सरल भाव से दूसरों को क्रिसमस की मुबारकबाद दे सकती है, नये वर्ष के नये दिन का अभिनंदन कर सकती है। उसके चेहरे से एक 'कर्मशील करुणा' दूसरों की ओर बहती रहती है। अपने विरोधी के प्रति भी वह अहिंसक एवं क्षमाशील बर्ताव रखती है। और दूसरी ओर योके है जो ऐसे सुसंस्कृत व्यक्तित्व से घनिष्ठ होने के बजाय इससे चिढ़ती है और बैर पालती है, क्योंकि वह मृत्यु-भय से ग्रस्त, हताश तथा 'मैं केन्द्रित' है, बहुत कुछ मनस्तापिनी है। उसे न्यूरोटिक सी स्वयं पूर्णता तथा स्वतन्त्रता चाहिये। वह दूसरों की सहायता, प्रभाव, उच्चता आदि की वश्यता या दासता को स्वीकार करने में एकांत असमर्थ है। एकाकीपन में ही वह अपने अस्तित्व की सुरक्षा देखती है। दोनों का सैद्धांतिक विरोध योके के कारण है—सेल्मा में विरोध की भावना नहीं है। योके का भय पग-पग पर स्पष्ट होता है। ताश खेलते समय वह प्रगट करती है कि बुढ़िया की तरफ वह भय के कारण नहीं देख पाती—'साधारणतया मैं उसकी ओर प्रायः नहीं देखती क्योंकि मुझे डर लगता है कि कहीं मेरी आँखों में कोई छिपा हुआ विरोध-भाव उसे न दीख जाय।' यह आत्मग्लानि से उत्पन्न होने वाला भय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योके के चिन्तन में बार बार समय, इतिहास और अनुभव की व्याख्या होती रहती है। वह अपने अस्तित्व के प्रति अत्यंत सतर्क है, इसी कारण समय की विशेष मीमांसा वह प्रत्येक क्षण करती है। वर्तमान के सम्पूर्ण भोग से अलग थलग वह नहीं रह सकती। उसे दुःख है कि उसका वर्तमान गतिहीन हो गया है, या एक ही क्षण उसके जीवन में आवर्तित हो रहा है। उसके भीतर जीने की वह लालसा है जो प्रत्येक नये अनुभव क्षण से गुजरे। अनुभव वैविध्य में जीने की सार्थकता को वह प्राप्त करना चाहती है। 'हम समय की बात करते हैं जो कि एक प्रवाह है। किसका प्रवाह है ? क्षण का..... समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस संदर्भ में 'क्षण' वही है जिसमें अनुभव होता है लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत भविष्य कुछ नहीं है जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर ऐसा नहीं है तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह काल का कितना ही छोटा खण्ड क्यों न हो, उसमें मेरा जीना काल सापेक्ष्य जीना है, ऐतिहासिक जीना है।' इससे स्पष्ट होता है कि जीवन के प्रति भोग-आसक्ति योके में खूब है। लेकिन सेल्मा में यह बोध बिल्कुल नहीं है। वह समय-बोध से ऊपर उठ चुकी है। योके भी इस बात को अनुभव करती है और वह जानती है कि आण्टी सेल्मा इन बातों को नहीं सोच सकती। उसके जीवन में कुछ है जो कि इन सब बातों से बिल्कुल अलग है। उसे स्वीकार करना पड़ता है कि सेल्मा किसी एक काल में नहीं जीती बल्कि समूचे काल में जीती है।

अपने अज्ञात भविष्य को जानने की आकांक्षा योके के मन में है किन्तु सेल्मा अपने भविष्य को नहीं जानना चाहती है, संभवतः वह अपने भविष्य से परिचित है। ईश्वर के प्रति आस्था और उसके अवतरण का उसे पूर्ण विश्वास है। योके के मन में ऐसी कोई आस्था और ऐसा कोई विश्वास नहीं है। अवतरण वेला में सेल्मा गीत गुनगुना सकती है। अपनी सम्पूर्ण व्यथा और बीमारी के बावजूद भी वह सहज प्रसन्न हो सकती है। योके इस भाव बोधसे नहीं जुड़ पाती। वह सोचती है—'जैसे अवतरण की बात भी गलत है और उसके गाने गाना भी गलत है। अवतरण अगर हुआ है तो मृत्यु का और वह मृत्यु ऐसी नहीं है कि गाने से उसका स्वागत किया जाये। वह मेरे कंधों पर सवार होकर मेरा गला घोंट रही है।' दोनों के भीतर अलग अलग भाव-विम्ब हैं। सेल्मा को निखरी धूप अच्छी लगती है जो उस काठघर में तो नहीं सेल्मा के भीतर है। योके के भीतर ऐसा कुछ नहीं है। वास्तविकता यह है कि उन दोनों की सोच में बुनियादी फर्क है। योके एक स्थल पर सोचती है—'वह (सेल्मा) जानती है और जानकर मरती हुई भी जिये जा रही है। और मैं हूं कि जीती हुई भी मर रही हूं और मरना चाह रही हूं। उसमें किसी तरह का विरोध नहीं है—न मेरे प्रति, न मेरे हिंस्र भावों के प्रति, न मृत्यु के प्रति।'

धीरे धीरे योके असामान्य हो जाती है। एक बार वह सेल्मा का गला दबोचने की कल्पना करती है। बहुत बार अपने आप को प्रताड़ित करने का निश्चय करती है—उसकी असामान्य क्रियायें इस आत्म सोच में स्पष्ट होती हैं—'उसके सामने ही नहीं अपने सामने भी कभी मेरा मन होता है कि चीख पड़ूं कि अपने बाल नोच लूं कि आईने के सामने खड़ी होकर अपने को मारूं, छोटी कैंची उठाकर अपने गालों में चुभा लूं कि नहरने से अपने माथे, नाक कान ठोड़ी पर घाव कर लूं—कि पानी का जग उठाकर आईने पर पटक कर उसके और आईने के भी टुकड़े टुकड़े कर दूं।' योके के विरोधी मनोभावों और व्यंग्य वचनों से तंग आकर जब सेल्मा एक अवसर पर कुछ चिढ़ती है और दूसरे अवसर पर उसका क्रोध स्थानांतरित होकर गालियों के रूप में बेजान चीजों पर बरस पड़ता है, तब योके को परम संतोष होता है क्योंकि बुढ़िया का कवच निरंध्र नहीं है और जो गालियां दे सकते हैं वे अमानुषी नहीं, जरूर इन्सान हैं। और योके की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह जिजीविषा कितने विकृत ढंग की है इसे वह स्वयं स्वीकार करती है—'कितना कमीना है यह संतोष जो दूसरों को हराते और टूटते हुए देखकर होता है। इसके विपरीत बुढ़िया है जो अपने कष्ट को दूसरों को दिखाना बताना नहीं चाहती—स्वयं ही झेल लेना चाहती है—ताकि दूसरों को कष्ट न हो। इसलिए उस ने अकेले मरने की वाँछा की थी—मैंने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो...तुम योके क्या समझती हो कि इससे मुझे तकलीफ नहीं होती कि मैं जो अपनों को भी नहीं दिखाना चाहती थी उसे देखने के लिए—भगवान ने एक—एक अजनबी भेज दिया?' लेखक ने दोनों परस्पर विरोधी विचारों और आचरणों वाले पात्रों के चित्रण—जिसे चित्रांकन की तुलनात्मक व्यतिरेक पद्धति कहा जा सकता है—से अपना उद्देश्य व्यंजित कर दिया है।'

योके स्वतंत्रता को श्रेष्ठ मानती है। व्यक्ति स्वातंत्र्य ही उसकी दृष्टि में मानवीय उत्कर्ष का मूल है। उसका चिंतन सार्त्र से प्रभावित है। 'तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं न हम स्वतंत्र हैं। बल्कि अकेले नहीं हैं; और इसलिए चुनने या फैसले का अधिकार हमारा नहीं है। मैंने तुम्हें बताया है कि मैं चाहती थी कि मैं अकेली मरूं। लेकिन क्या वह निश्चय करना मेरे वश का था? क्या मैं अपनी मन् पसन्द परिस्थिति चुन सकी और तुम...क्या तुम स्वतन्त्र हो कि मुझे मरते हुए न देखो? ऐसी सब स्वतन्त्रताओं की कल्पनायें निरा अहंकार हैं......। और उसी स्वतन्त्रता को छोड़कर कोई दूसरी स्वतन्त्रता नहीं है।'

दोनों पात्र दो विरोधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं और उपन्यास में इन्हीं के कारण चारित्रिक संघर्ष की स्थिति व्यक्त होती है। अज्ञेय ने चरित्रों के माध्यम से ईश्वर, काल, अस्तित्व, और स्वतन्त्रता आदि के सम्बन्ध में प्रचलित आधुनिक मान्यताओं को प्रस्तुत किया है।

संदर्भ सूत्र :

१. गंगा प्रसाद पाण्डेय—हिन्दी कथा साहित्य
२. देवराज उपाध्याय—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान
३. ओम प्रभाकर—अज्ञेय का कथा साहित्य
४. सत्यपाल चुघ—उपन्यास रचना प्रक्रिया
५. अज्ञेय—अपने अपने अजनबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० विष्णुदत्त राकेश
हिन्दी विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तरप्रदेश)

आचार्य नड़पाद् कृत सेकोद्देश टीका

बज्रयानी साधकों की साधना सम्बन्धी पद्धति साधनमाला ग्रन्थ में मिलती है। विभिन्न तान्त्रिक साधकों की ३१२ साधनाओं का परिचय इस कृति में दिया गया है। बज्रयान उड्डीयान पीठ में विकसित हुआ और फिर कामाख्या, सिरीहट और पूर्ण गिरि में फैलता हुआ शेष भारत में प्रचारित हुआ। उड्डीयान पीठ की स्थिति विवादास्पद रही है। सिद्धाचार्य लुइपा को तिब्बती परम्परा उड्डीयान के शासक का लेखपाल मानती है। इनके अनेक दोहे चर्याचर्य—विनिश्चय सिद्धि में संकलित हैं। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने आसाम के पश्चिमी भाग में उड्डीयान पीठ की स्थिति मानी है जो बंगाल का एक भाग है। उसके इस अनुमान का आधार प्रो० जेकोबी की यह मान्यता है कि उड्डीयान पीठ में संभल और लंकापुर दो राज्य परम्परा द्वारा अनुमोदित हैं। इन में लंकापुर आसाम में था अतः शेष भाग भी आसाम के निकट ही होना चाहिये। पहले का इन्द्रभूति शासक था और दूसरे का जालंधर का पुत्र शासक था। इसी से इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मींकरा का विवाह हुआ था। इन में इन्द्रभूति और लक्ष्मी प्रथम वर्ग के सिद्ध थे जिन की बज्रयानी-साधना साधनमाला में दी हुई है। लक्ष्मींकरा ने संस्कृत में अद्वयसिद्धि ग्रन्थ लिखा है, जिस पर इन्द्रभूति प्रणीत ज्ञानसिद्धि का पर्याप्त प्रभाव है। लक्ष्मींकरा लीलाबज्र की शिष्या थी, जिन्होंने सहज सिद्धि, महातिलककर्म, सहजगुह्य समाज साधना, बज्रसत्व-साधना निबन्धन तथा यमान्तक मंत्रमूलार्थ बज्र-प्रभेद जैसे साधना-ग्रन्थों की रचना की। काया-दण्डन, उपवास, लोकधर्म का निषेध करते हुए इसी ने सर्वप्रथम देहस्थ तत्व भावना और नारी की देवरूप प्रतिष्ठा की चर्चा की।

> न कष्ट कल्पनां कुर्यात् नोपवासो न च क्रियाम्,
> स्नानं शौचं न चैवात्र ग्राम धर्म विवर्जनम्।
> पूजाभस्यैव कायस्य कुर्यान्नित्यं समाहितः,
> पूजये देवतान् तेन देहस्थान् तत्वभावनैः।
> सर्ववर्ण समुद्भूता जुगुप्सा नैव योषितः,
> सेवे भगवती प्रज्ञा सम्वृत्या रूपमाश्रिता।

ज्ञानसिद्धि और अद्वयसिद्धि बज्रयान की गुह्य साधनाओं पर विस्तार से प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ हैं। तत्व निर्देश शीर्षक से उक्त कृतियों के लेखकों ने बज्रयान को तंत्रशास्त्र का सार बताया है। बज्रज्ञान, समन्तभद्र और महामुद्रा, साधना के तीन अंग हैं। इनमें बोधिचित की अनुभूति बज्रज्ञान, शून्यता और करुणा अथवा प्रज्ञा और उपाय की एकता समन्तभद्रता और निर्वाणचक्र से वृत्ति का शीर्षकमल में प्रवेश महामुद्रा कहलाता है। संसार की अयथार्थता (संक्लेश) तथा सर्वोच्चसत्ता (व्यावदाने), के साक्षात्कार से रूपहीनता की प्राप्ति महामुद्रासेवन अथवा युगनद्धता कहलाती है। पंच-कर्म ग्रन्थ के पृष्ठ ३१ पर कहा गया है:—

> संक्लेशम् व्यवदानांच ज्ञात्वा तु परमार्थतः
> एकीभावं तु यो वेत्ति सवेत्ति युगनद्धकम्।
> प्रज्ञा करुणयोराख्यम् ज्ञानं यत्र प्रवर्त्तते,
> युगनद्ध इतिख्यातः कर्मोऽयं बुद्धगोचरः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महामुद्राभाव की सिद्धि के लिए चाण्डालकुलोत्पन्ना (डोम्बी) नारी का सान्निध्य आवश्यक है। बौद्ध दार्शनिकों में असंग पहले आचार्य थे जिन्होंने महायान सूत्रालंकार में यौन-यौगिक क्रियाओं का प्रयोग विभुत्व प्राप्ति के लिए विहित माना था। इनकी एक साधना प्रज्ञापारमिता साधनमाला में संकलित है। इनका समय डा० शशिभूषण दास गुप्त ने चौथी शती माना है। इस प्रकार गुरु, दीक्षा, काया-साधन, मंत्र और यौनाचार बज्रयान के प्रमुख अंग माने गये। देह साधना में हठयोग की क्रियाओं कां प्रयोग विहित माना गया है, और तब रतिसुख के माध्यम से परमसुख की प्राप्ति का अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रिया को सम्वृत्त कहते हैं जिसे सिद्धाचार्यों ने सम्बर कहा है। हेवज्रतंत्र में 'देहाभावे कुत: सुखम्' कह कर देह की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। हेवज्रतंत्र के पृष्ठ ३६ और श्री कालचक्रतंत्र पृष्ठ ३३ पर (किम्ब्रिज विश्व० पाण्डुलिपि) इस तथ्य का विस्तार सहित निरूपण मिलता है। अभिनिष्क्रमण सूत्र में उल्लिखित कालचक्रयान, बज्रयान की इसी प्रक्रिया का सूचक है। हेवज्रतंत्र पुराना है क्योंकि प्रसिद्ध सिद्ध कृष्णाचार्य ने ११९९ ई० में इस पर हेवज्रपंजिका नामक टीका लिखी थी। इसी गुह्यसाधना का प्रभावपूर्ण उपयोग उत्तर बंगाल के देवीकोट विहार में किया गया। अद्वयवज्र और तपस्विनी मुद्रा मेखला ने यहीं साधना की। चिटगाँव का पण्डित विहार इस साधना का प्रमुख केन्द्र था। यहीं सिद्ध तिलोपा और उन के शिष्य नडपाद ने साधना की। तिलोपा ने बज्रपाद सार संग्रह की टीका और नड़पाद ने सेकोद्देश टीका की रचना की। यह कृति गद्य और पद्यात्मक है।

सिद्धों की रहस्यमयी रचनाओं का मर्म उद्घाटित करने में अद्वयवज्र सिद्धहस्त कहे जाते हैं। बौद्ध तांत्रिकों में इस प्रकार की टीकाओं को पंजिका कहा जाता है। पंजिका के आदर्शलेखन में तिलोपा, नड़पाद या नारोपा प्रवर्तक-प्रतिनिधि हैं तो अद्वयवज्र व्यवस्थापक प्रतिनिधि। अद्वयवज्र ने सरहपाद के दोहाकोश पर पंजिका संस्कृत में लिखी है। इन का समय ९७८ से १०५२ ई० निश्चित किया गया है। नरोपा से इन्होंने दिङ्नाग, धर्मकीर्ति तथा नागार्जुन के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। मंत्रशास्त्र की दीक्षा भी इन्हें नरोपा या नड़पाद से मिली। नड़पाद की मृत्यु तिब्बती परम्परा के अनुसार श्री राहुल ने १०३९ ई० में मानी है। नेपाल में प्राप्त एक पोथी में यह विवरण इस प्रकार है—"विंशति वर्ष पर्यन्तं नारोपाद समीपे प्रमाण-माध्यमिक पारमितादि शास्त्रं श्रुतं। तदनु मंत्र नय शास्त्रज्ञेन रागवज्रेण सहावस्थित: पंचवर्ष पर्यन्तं।[1] नारोपा और नड़पाद दोनों नाम इस एक व्यक्ति के ही हैं।

नड़पाद की गुरु परम्परा कण्हपाद या कृष्णाचार्य से आरम्भ हुई है। कण्हपाद के ९ शिष्य-शिष्याओं में घेतन से क्रमश: विजय, तिलोपा, नरोपा हुए। इस प्रकार कण्हपाद की चौथी शिष्य पीढ़ी में नरोपा हुए। कण्हपा का समय ७१७ ई० है। तजौर परम्परा में कई कृष्ण नामक आचार्यों का उल्लेख है, अत: कुरुकुल्ला साधना और हेवज्रतंत्र के निर्माता कण्ह एक ही व्यक्ति हैं या पृथक् पृथक्, निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। अद्वयवज्र या अवधूति नरोपा के शिष्य हैं तथा तिब्बत में बज्रयान की परम्परा विकसित करने वाले दीपंकर श्रीज्ञान उनके प्रशिष्य हैं। कण्हपाद बौद्ध आचार्यों में कापालिक परम्परा के प्रतिष्ठापक हैं। इनके आराध्य हेरुक कानों में मनुष्य की अस्थियों के बने कुण्डल पहनते हैं। साधनमाला की २४५ साधना में कहा गया है......श्री हेरुक विश्व दल कमल स्थितं शवोपरि सूर्यमण्डलस्थं द्विभुजं त्रिनेत्रं दक्षिण करे बज्र वामे बज्रांकित कपालधरं कर्ण अमिताभात्मक नरास्थि कुण्डलिनं......मनसि नैरात्म्यामधिमुंचेत। यह विवरण-महामाया तंत्र से लिया गया है। इस साधना के आचार्य रत्नाकार शान्ति हैं और इनका समय भी ९७८-१०३० ई० है। इन्होंने भी हेवज्र पर पंजिका लिखी है। यह भी नरोपा के शिष्य हैं। साधनमाला की १८३ साधना में कण्हपाद की पूज्या देवी कुरुकुल्ला भी 'अस्थिमय चक्रीकुण्डल कण्ठिका रूचक मेखला' धारण करती है 'नरास्थि'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारण करने से ही नड़पाद नड़पाद कहलाए। चर्या चर्यविनिश्चय सिद्धि की टीका में उदाहृत निम्न श्लोक से पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नर को बज्रधर, नारी को कपालवनिता और हेरुक को साध्य बताया है।[2]

प्राणी बज्रधरः कपालवनिता तुल्यो जगत स्त्रीजनः
सोऽहं हेरुक मूर्तिरेष भगवान् यो नः प्रभिन्नोऽपि च।

आदिबद्ध, वज्री, बज्रसत्व और हेरुक नड़पाद की दृष्टि में भी एक हैं।[3] जहां तक इन की जीवनी का प्रश्न है केवल यही ज्ञात होता है कि इनके पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण थे, किन्तु पिता माता के मगध प्रवास के समय इनका जन्म हुआ। तिब्बत के प्रसिद्ध सिद्ध मरवालोचवा को भी इन्होंने दीक्षा दी। राहुल जी ने तन्जुर में इनके २२ ग्रन्थ प्राप्त किये थे। इनमें निम्न मगही के २ ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं— (१) नाड़ पण्डित गीतिका, तथा (२) बज्रगीति। चर्यागीति में इनका नाम ताड़कपाद भी मिलता है। पुरातत्व निबन्धावली पृष्ठ १९६ पर इन की यह गीति उद्धृत है :

वाण्डकुरु सन्तारे जाणी,
वाक् पथातीत कांहि वरबाणी।
भणइ ताड़क एथु नांहि अवकास
जो बुझइ ता गलें तल पास।

काश्मीरी शैवाचार्य अभिनव और इनकी कापालिक साधना का सम्बन्ध त्र्यम्बक धारा के मूलस्रोत के प्रभाव से उत्पन्न जान पड़ता है। दोनों विचारकों में देवीयाग की चर्चा इसी स्रोत का फल है। अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं कि स्त्रीजन साध्य होने के कारण ही साधना कापालिक कहलाती थी। शैव, नाथ और बौद्ध बज्रयानी तीनों ही कापालिक साधक थे। पंचकपाल और सोम सिद्धान्त की रहस्यमयी व्याख्या शैव काश्मीरी विचारकों में समस्त मध्य-काल में व्याप्त रही। प्रबोध-चन्द्रोदय की चन्द्रिका व्याख्या, कूर्मपुराण तथा ईशान शिवगुरु पद्धति में सोमसिद्धान्त की चर्चा है। सोम सिद्धान्त प्रकरण शतरत्न संग्रह में भी मिलता है। सांसारिक कुलाम्नाय के प्रवर्त्तक अल्लट पांशुपताचार्य विश्वरूप के प्रशिष्य थे। इनके शिष्य ने प्रशस्तपाद भाष्य ही लिख डाला हैं। अस्तु, नड़पाद को वज्रयानियों में कपाल मत का अनुयायी समझा जाना चाहिये। बज्रयानियों में कालचक्रवादी और कापालिक, साधन और सिद्धान्त में एक मार्ग के पथिक हैं। सृष्टि में ध्वंसचक्र से बचने का नाम कालचक्र है। विद्वानों ने अभिनिष्क्र-मण सूत्र के हवाले से इस चक्र का प्रवर्तन धान्य कटक पर माना है, प्रज्ञापारमितायान गृहकूट पर और मंत्रायात धान्य कटक पर उपदिष्ट हुआ। कालचक्र की चर्चा १०वीं शती से पूर्व के आचार्यों में वैसी दृढ़ता से नहीं मिलती। अभयाकरगुप्त कृत कालचक्रावतार, अद्वयवज्रकृत कालचक्रोपदेश तथा नड़पाद कृत सेकोद्देश इसी प्रवाह की रचनाएं हैं। बिमलप्रभा (लघु काल चक्र की टीका) जैसी कृतियों में यद्यपि बज्रयान और कालचक्रयान का कोई मौलिक भेद नहीं दिखाई पड़ता पर सेकोद्देश में सर्वप्रथम कालचक्र का तात्विक भेद स्पष्ट किया गया है। अभिनवगुप्त तंत्रालोक के छठे अध्याय में कालचक्र निरूपण तथा तंत्रसार के २२ अध्याय में कुलयाग की चर्चा इसी आलोक में करते हैं। शंभुनाथ अभिनव के कापालिक गुरु थे। इस मार्ग को काश्मीरी 'शैव त्र्यम्बकधारा' भी कहते हैं। बज्रयानियों में नड़पाद अपनी कृति का प्रारम्भ 'नमः कालचक्राय' से करते हैं। कालचक्र की उन की व्याख्या है—

ककारात्कारणे शान्ते लकारात्लयोऽत्रवै।
चकाराच्चल चितस्य कुकारात्क्रमबन्धनैः।[4]

यहां 'का' का तात्पर्य है कारण, अर्थात् प्रज्ञा और उपाय की एकता द्वारा बोधिचित का निर्माण। इस का समर्थन महायान 'श्रद्धोत्पाद सूत्र' से हो जाता है। बोधिचित में जागृति का क्षय, निर्विकल्पता तथा कायबिन्दु का निरोध शान्त कहलाता है। लकार का अर्थ हैं लय। स्वप्नावस्था के क्षय होने पर प्राण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निरोध लय कहलाता है। इसमें वाग्बिन्दु का निरोध होता है। १८ धातुओं के विकार से युक्त चित की चंचलता का भाव-अभाव से निषेध 'च' कहलाता है। इसमें सुषुप्ति का क्षय और चित्तबिन्दु का निरोध रहता है। वाग्बिन्दु-निरोध का तात्पर्य है, मूलतत्व का भाव-अभाव हीन रूप जो शब्दों से न कहा जा सकने के कारण द्वन्द्वात्मकता से परे है। इसमें प्रज्ञा के नाम, अर्थ और ज्ञानरूप तीन भेद अथवा कामधातु, रूपधातु तथा पुरुष धातु भी समाप्त हो जाते हैं। चक्र के कुकार का अर्थ है—तीनों भेदों की समाप्ति तथा तुर्यावस्था का क्षय। यही कालचक्रावस्था है, जहां ज्ञाता-ज्ञेय, प्रज्ञा-उपाय का भेद समाप्त हो जाता है, शून्यता-दृष्टि का उन्मेष होता है, इसी चित्ततत्व से वांछित फल मिलते हैं। आचार्य सरहपाद कहते हैं :—

चित्तेकचित सअल बीअभव-णिववाणा जम्म बिफुरंति
तं चिन्तामणिरूअं पणमह इच्छा फलन्देह।[5]

इस प्रकार कायबिन्दुनिरोध निर्माणकाय, वाग्बिन्धुनिरोध संभोगकाय, चित्तबिन्दु निरोध धर्मकाय तथा स्वरगतज्ञानबिन्दुनिरोध की दशा सहजकाय कहलाती है। क्रमशः अभ्यास द्वारा सहज स्थिति प्राप्त करना ही वज्र योग है और इसी पूर्णता के क्रम को नड़पाद कायवज्र, वाग्वज्र, चित्तवज्र कहते हैं। शून्यता का प्रकाशन इस का फल है। इस अवस्था को पद्मवज्र ने गुह्यसिद्धि नामक ग्रन्थ में सुखावती कहा है—उक्त विवेचन का आधार नड़पाद की यह व्याख्या है :—

कारणं बोधिचित्तकाय इत्युक्तं जाग्रदवस्था क्षयेण विकल्प रहितं कायबिन्दुनिरोधाल्ललाटे निर्माणकायः। एवं सति स्वप्नावस्थाक्षयात्मकः प्राणस्य लयो वाग्बिन्दुनिरोधात्कंठे संभोगकायः। जाग्रत्स्वप्नावस्थायांशब्दादि विषयान्विचरच्चंल च्युतिधर्मकं तमोऽभिभूतं चित्तमष्टादशधातुबिकारापन्नं तस्य बन्धस्तमोऽपगमः सुषुप्तक्षयश्चित्तबिन्दुनिरोधात् हृदये धर्मकायः। कुत एतदाह। ककारादितिक्रमः कायादिबिन्दूनां च्यवनं तस्यबन्धः सहजसुखेन तुर्यावस्थाक्षयः। स्वरगतज्ञानबिन्दुनिरोधान्नाभौ सहजकाय इति चतुःकायात्मकः स एव कालचक्रो भगवान् प्रज्ञोपायात्मको ज्ञानज्ञेयसम्बधेनोक्तो यथाक्षर सुखज्ञानं सर्वावरणक्षयहेतुभूतं कालइत्युक्तम्।[6]

इस प्रकार काल-चक्र पदतः परमार्थतत्व का द्योतक है, काल शिव है चक्र शक्ति है, दोनों का समन्वय काल चक्र है। कपाल साधना के अनुसार साधक के बोधचित्त का निर्माण चक्र से उठकर उष्णीश चक्र में पहुंचना महासुख कहलाता है। बोधिचित जब संवृत दशा में रहता है तब विन्दु या शुक्र कहलाता है। प्रज्ञा या कपालिनी के संयोग से उत्पन्न बिन्दुक्षोभ कहलाता है। पुरुषचिन्ह बज्रमणि कहलाता है, उद्बुद्ध विन्दु का इस में जाना उचित नहीं। अतः इसे निर्माण चक्र में धारण किया जाता है, यहां से अवधूतिका नाड़ी द्वारा यह बिन्दु क्रमशः ६४, ३२, १६, ६ दलों के कमल चक्रों-निर्माण, धर्म, संभोग तथा उष्णीश तक जाता है। अतः बिन्दु के स्थिरीकरण के लिये प्राणायाम, हठयोग तथा उष्णीश तक जाने के लिये चित्त की निराधारता आवश्यक है। आचार्य नड़पाद ने स्वकीय ग्रन्थ में विभिन्न तंत्रग्रन्थों के संदर्भ से इस प्रक्रिया को समझाया है।

प्रत्याहारो दशानां विषयाविषयिणामप्रवृत्तिः शरीरे
प्रज्ञा तर्को विचारो रतिरछ्लसुखं ध्यानमप्येकचितम्
प्राणायामो द्विमार्गस्खलनमपि भवेन्मध्यमे प्राणवेशो
बिन्दो प्राण प्रवेशो हयुमयागतिहतो धारणाचैकचित्तम्।[7]

यह आरोप संहार क्रम से होता है। आर्यपाद के साक्ष्य से इसे समझाया गया है—

भूर्धातुर्लीयते तोये तोयं तेजसि लीयते
तेजश्च सूक्ष्धातौ च वायुश्चिते विलीयते।
चितं चैतसिके लीयेता बिद्यायां ने चैतसम्,
सापि प्रभा स्वरं गच्छेन्निरोधोऽयं भवत्रये।

जिन सन्दर्भ तन्त्रों का उल्लेख आचार्य ने प्रस्तुत कृति में किया है उनके नाम इस प्रकार हैं—मूलतंत्र,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेवज्रतंत्र, डाकिनी बज्र पंजर, श्री कालचक्र, श्री समाजोत्तर, नामसंगीति श्री तंत्र, धर्मधातुस्तव और विमलप्रभा टीका। प्रजापारमितानय सम्बन्धी तंत्र ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत में तथा गुह्य साधना तंत्रों का निर्माण अपभ्रंश में हुआ। नड़पाद ने प्रौढ़ संस्कृत में गुह्यसाधना का ग्रन्थ लिखा और संस्कृत तथा अपभ्रंश के उदाहरण प्रमाण रूप में दिये। आर्यदेव, मंजुश्री पाद, इन्द्रभूति, चन्द्रगोमि, आर्यवज्रगर्भ, कम्बलाम्बरपाद, नागार्जुन तथा पुण्डरीक के मत संस्कृत में तथा सरहपाद, भुसुकपाद और शान्तिपा के पद अपभ्रंश में दिये गये। इस से पूर्व हेवज्र और साधनमाला में संकलित साधनतन्त्रों में भी अपभ्रंश के उदाहरण दिये गये थे। हेबज्र का यह छन्द सेकोद्देश पृष्ठ ६३ पर उद्धृत है —

आइण अनन्त मज्झणाहि नउ भव नउ निब्बाण
एहु सो परम महासुहउ नउ पर नउ अप्पाण।

अभिनव जैसे शैव तांत्रिक ने भी तंत्रसार में अपभ्रंश में उद्धरण दिये हैं। जैसे कण्हपाद[8] और कम्बलाम्बरपाद[9] के संस्कृत पद्यों के साथ अपभ्रंश के पद बौद्ध चर्यापदों में मिलते हैं उसी प्रकार नड़पाद के पद भी अपभ्रंश में मिलते हैं। सेकोद्देश में 'अन्यरपि' शीर्षक से उद्धृत संस्कृत तथा अपभ्रंश पद भी इन्हीं के प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिये ऐसे दो छन्द यहां दिये जाते हैं। एक आश्चर्य अवश्य है, अन्य गीतियों की तरह ताड़क या नड़पाद छाप इन में कहीं नहीं रखी गई।

विमलनभसि यस्मिन्निर्मिते लोचनर्द्ध,
स्फुरदुरुकरूणार्द्रादाशयागाढ़मार्गात्।
सदसदुभयभावा भावनिर्भेद्यकस्मात्,
उदयादखिलधमाद्यन्चय: शून्यतायाः। पृष्ठ ४८/२
अन्तरालमण पवणा नयणा,
एककाल जइ जो धम्म निउणा।
अवस ऊप्पज्जइ जिन गुण रअणा,
एत्तउ सअल तथागत बअणा।
विविह विअप्प विवज्जि अचिओ,
अन्तराल जइ नअणकिओ। पृष्ठ ४८/३

सिद्धबिन्दु से प्राप्त दिव्य देह में सहजानन्द धारण किया जाता है और यही इस मार्ग के अवधूतों का चरम साध्य है। सरहपाद का साक्ष्य है—

जयति सुखराज एकः कारण रहितः सदोदितोज गताम्
यस्य च निगदन समये बचन दरिद्रो बभूव सर्वज्ञ।
पृष्ठ ६३

इस प्रकार महासुखराज की साधना करने वाला साधक ही कपाली कहा जाता है। बज्र की टीका में कपाली का अर्थ 'कं, सुखं पालयतीति' किया गया है, अतः इस महासुख की सिद्धि कपाली का चरमलक्ष्य मानी गई है। योगी का परम साध्य इसी महासुख की रक्षा करना है। यह मूलतंत्र में कहा गया है।[10] शबरपाद के २८वें गीत में इसे 'हिय तमोल महासुह कपूर खाइ' कहा गया है।

चक्र साधना में कपाल-वनिता के रूप में जिस बज्र-वाराही की उपासना इस प्रवाह के विचारकों में है, उसका प्रगाढ़ परिचय नडराज को है। तारा, पाण्डरा, मामकी, लोचना, स्पर्श बज्रा, रसबज्रा, रूपबज्रा, गंधवज्रा के मध्य नग्न, कीर्तिकपालहस्त योगिनीचक्र के निर्माण की प्रक्रिया उन्होंने बताई है। अद्वयबज्र की वाराही-साधना संख्या २१७ तथा २२० में "दिगम्बरा मुक्त केशी कर्तिकपालधारिणी नृत्यन्ती चिन्त्या" कहकर उक्त साधना का स्पष्टीकरण किया गया है। ध्यान की प्रक्रिया का जितना सूक्ष्म निरूपण इस ग्रन्थ में है, बज्रयान के अन्य लघुतन्त्रों में उतना प्रामाणिक और विशद नहीं मिलता। डाकिनी बज्र पंजर से प्रकाश के विभिन्न मेघधूम, मरीचि, खद्योत, दीपक जैसे भेद अनुलोम और विलोमक्रम से देकर षडंग योग का विस्तृत विवरण पृष्ठ ३० से ४५ तक दिया है।[11] तदुपरान्त नादाभ्यास पर प्रकाश डाला गया है। ध्यान की यह चर्या सिद्धि प्राप्त होने पर भी निरन्तर बनी रहती है—इस प्रकार कुलिश या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बज्र रूप योगी ही इस प्रक्रिया का अधिकारी है, वही अद्वय रूप में प्रणम्य है।

नक्तन्दिनं ध्यान वशात्क्रमेण
चित्तं यदा तिष्ठति मध्यनाड्याम्
अतन्तमूर्तिः सुविशुद्धमद्वयं
तदेकशूलं कुलिशं नमामि पृष्ठ ६३

सेकोद्देश ग्रन्थ का निर्माण इसी स्तर पर पहुंच जाने के बाद हुआ है। यह ग्रन्थ सीता नदी के तट पर अवस्थित तंत्र परम्पराख्यात रहस्यात्मकस्थान संभल के शासक सुचन्द्र की जिज्ञासा पर साक्षात् सम्बुद्ध द्वारा श्री धान्य की सभा में कहा गया। राजा सुचन्द्र बज्रपाणि की निर्माणकाय से ही सम्बुद्ध के निकट पहुंच सके। प्रस्तावितकृति में सुचन्द्र को 'गुह्याधिपतिराढ़क्वती निवासी श्री बज्रपाणि' कहा गया है। टीका में गुह्य का अर्थ यक्ष तथा आढकवती का अर्थ श्मशान भूमि किया गया है।

तथा लोक संवृत्या गुहय शब्देन यक्षास्तेषामधिपतिर्गुह्याधिपतिः बाह्योऽढक शब्देन मृतक समूहः तद्योगा दाढ़कवती श्मशान भूमिः। अध्यात्मनि षट्शताधिकैकविंशति सहस्रश्वासप्रश्वासानां षट्त्रिंशच्यतोनानां निरोधोऽऽढकः सोऽस्यास्तीत्याढकवती धर्ममेवभूमि तस्यां निवास्याढकवतीनिवासी मारक्लेश ज्ञेय समापत्यावरण यक्षानां बाधको यक्षाधिपतिः।"[12]

इस विवरण से स्पष्ट है कि एक ओर यह साधना ऐतिहासिक दृष्टि से यक्षकुल की देन है और दूसरी ओर यक्ष, आढ़क्वती, बज्रपाणि ये सभी सांकेतिक शब्द हैं जो मारक्लेश जैसे विघ्नयक्षों को जीतकर भावाभावक्षयीचित को श्मशानभूमि के प्रतीकों से परिचित कराते हैं। ऐसी स्थिति में सुचन्द्र ऐतिहासिक व्यक्तित्व बन जाता है। आचार्य नड़पाद ने यह व्याख्या मूलतन्त्र की इस श्लोक-गाथा के संदर्भ में की है—

अथातः शंभलाख्यातो बज्रपाणिविनिर्मितः
सुचन्द्रं नृप आयातः स्वद्धर्य श्री धर्मधातुकम्।
कृतांजलि पुटो भूत्वा सम्बुद्धस्याग्रतः स्थित,
तन्त्रस्याध्येषकः शास्तुः संगीति कारकः।

अस्तु, कहा जा सकता है कि बज्रयानसाधना अथवा कापालिक साधना के दो ही मूल आधार हैं— (१) सहजानन्द या परमानन्द की प्राप्ति तथा (२) अन्तरयाग और बाह्यग के रूप में श्मशान साधना। बौद्ध तन्त्रों के अलावा अन्य भारतीय तन्त्रों में भी इस साधना की प्रतिष्ठा है। ९०० ई० के लगभग एक ग्रन्थ परानंदसूत्र के नाम से लिखा गया। १४ आह्निकों में विभाजित इस ग्रन्थ में क्योंकि जयाख्य संहिता का उल्लेख मिलता है अतः यह रचना ५वीं शती ई० से पूर्व की नहीं हो सकती। इस में शाक्त, सौर, गाणपत्य, शैव तथा वैष्णव तन्त्रों की चर्या और अनुष्ठानों का सविस्तार निरूपण हुआ है। इस के ६३वें सूत्र "अथ कालिकायाश्च नमो वामतः" की व्याख्या में श्मशान साधना तथा बिन्दु साधना का निरूपण किया गया है। ८१ सूत्र की व्याख्या तो सुरतानन्द या परमानन्द की प्रशंसा में ही व्यय हुई है। यथा कथांचिद्यत्र कुत्र चिन्तकं सुरतानन्दनिरतः सुरतानन्देषु भक्तेषु आह्लादो यस्यास्तां काली ध्यायति यः सः शिवः सम्पद्यते।[13]

तात्पर्य यह कि बुद्धतंत्र और बुद्धेतर तंत्र में यह समाज साधना एक स्रोत से आई है और वह स्रोत है 'भोटदेशीय यक्ष कुल साधना', अब चाहे इसे सहजानन्द कहें, चाहे परमानन्द और चाहे स्पन्द-आनन्द।

प्रस्तुत कृति का नाम-करण भी व्यंजक है। सेकोद्देश शब्द सेक और उद्देश इन दो शब्दों से मिलकर बना है। सेक का अर्थ सिंचन या दीक्षा है तो उद्देश का अर्थ है निबन्ध या लघुतंत्र। बिन्दु के जल, अग्नि, भूमि तत्व के सूख जाने पर वायु द्वारा सिंचन, सेक का प्रक्रिया मूलक अर्थ है। सेक बिन्दु के आरोह-अवरोह, गमन तथा प्रत्यावर्तन में सहायक होता है, तथा स्फटिक, रजत, लोहा, स्वर्ण, ताम्र, कपाल, मिट्टी, काष्ठ के १० कलशों द्वारा साधक का बज्रमण्डल में अभिषेक सेक शब्द का आचारमूलक अर्थ देता है महायानी जैसे बोधिचित की १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिकाओं का घटित होना आवश्यक मानते हैं वैसे ही ये बज्रयानी कापालिक शूद्री, क्षत्रिणी, ब्राह्मणी, वेश्या, डोम्बी, कैवर्ती, नटी, रजकी, चर्मकारी तथा चाण्डाली १० मुद्राओं द्वारा अभिषेक का होना आवश्यक मानते हैं। आचार्य नड़पाद मूलतंत्र के साक्ष्य पर कहते हैं :—

ताराद्या धर्मधात्वन्ता दशविद्याः स्वगोत्रजाः
सेक काले प्रदातव्या शिष्येण मोक्षकांक्षिणा ।[14]

शैव-शाक्त तंत्रों में नड़पादोक्त दशमहाविद्या समाख्याताः जैसी ही नाम-रूप भिन्न अन्य दश महाविद्याओं की अवतरणा की गई। सेकोद्देश टीका में सात अभिषेकों का पूर्ण विवरण पृष्ठ १० से पृष्ठ २१ तक दिया है।[15] तदुपरान्त मूलवज्रव्रताभिषेक का निरूपण किया गया है। पृष्ठ ३० पर प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि का उल्लेख है, क्योंकि कहा गया है—

समाधिवशिता मात्रै निरावरणता भवेत्। पृष्ठ ३१

और सेक का अर्थ भी है—सेकः सिच्यते कायादिकं निर्मलं निरावरणं क्रियतेऽनेनेति। अतः सेक शब्द योगी का लक्ष्य और लक्ष्य-सिद्धि दोनों का संकेत कराता है। कहना न होगा, आचार्य नड़पाद की सेकोद्देश कृति बज्रयानी-कपालसाधना का जैसा स्वच्छ और विशद निरूपण करती है, वैसा अन्य रचनाएं नहीं करतीं। नाड़ी कुलप्रकाशक बज्रपाणि-भाव की साधना-प्रकाशन की दृष्टि से यह कृति संक्षिप्त होती हुई भी प्रामाणिक है और गागर में सागर भर देने वाली है। इसकी फलश्रुति में स्वयं भगवान सम्बुद्ध की यह वाणी उद्धृत की गई है, जो कृति के लक्ष्य को स्वयं स्पष्ट कर देती है—

सदर्थद्योतिनी शुद्धा सर्वावृत्तितमोऽपहा
हरत्वेषा जगत्तापं सेकेन्दुज्ञान चन्द्रिका ।[16]

---

१. दोहाकोश—श्रीराहुल पृष्ठ ४७०
२. नाथ सम्प्रदाय—पृष्ठि ८३
३. बंवज्री बज्रसत्वश्च बज्रभैरव ईश्वरः हेरुकः कालचक्रश्च आदि बुद्धादिनामतः। सेकोद्देश टीका पृष्ठ ४
४. सेकोद्देश—पृष्ठ ८।
५. दोहाकोशगीति—राहुल, पृष्ठ ६
६. सेकोद्देश टीका—पृष्ठ ८।
७. सेकोद्देश टीका—पृष्ठ ३५।
८. एक सौ पदमु चौंसठि पाखंडी, ताहिम चढि नाचै डोम्बि वापुडी। पद १०
९. वाम दाहिन चापि मिलिमिलि माँगा, बातत मिलिआ महासुख सांगा, पद ८
१०. कर्ममुद्राप्रसंगेऽपि ज्ञानमुद्रानुरागने
रक्षणीयं महासौख्यं बोधिचित्तं दृढव्रतैः।
(कमलेकुलिशं) प्रतिष्ठाप्य बोधचितं न चोतसृजेत्
भावयेद् बुद्धबिम्बं तु त्रैधातुकमशेषतः।
सेकोद्देश, पृष्ठ २५
११. सेवां षडंगयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्।
साधयेदन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा।
प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडंगयोग उच्यते।
पृष्ठ ३०
१२. सेकोद्देश—पृष्ठ १
१३. परमानन्द सूत्र—स्वामी त्रिविक्रमतीर्थ, पृष्ठ ८३
१४. सेकोद्देश टीका—पृष्ठ २३
१५. साधक के बाह्य अभ्यास या आचार के सप्तसोपान, इनमें वेदाचार प्रथम तथा कौलाचार अन्तिम है।
१६. इस कृति का सुसम्पादित संस्करण राजरत्न डा० भट्टाचार्य तथा मेरियो ई० करेली के पाण्डित्यपूर्ण निदेशन में गायकवाड़ औरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा से १९४१ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० अरुणा गोयल
संस्कृत विभाग,
पत्रशिक्षा निदेशालय,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

'न्याय दर्शन' के अनुसार 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

न्याय दर्शन का लक्ष्य एवं इसका महत्त्व :

न्यायदर्शन की भारतीय दर्शन साहित्य को सबसे महत्वपूर्ण देन शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति है। अपने प्रमाण-विचार के कारण ही न्याय भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में उच्च और महान माना जाता है। भारतीय दर्शन के विरुद्ध यह प्राय: आक्षेप किया जाता है कि यह आप्तवचनों पर अवलम्बित है, इस लिये युक्ति प्रधान नहीं है किन्तु न्यायदर्शन से इस आक्षेप का पूरा निराकरण हो जाता है। न्यायदर्शन में प्रधानत: शुद्धविचार के नियमों तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के उपायों का वर्णन किया गया है। स्वर्गीय डा० राधाकृष्णन् ने न्याय की प्रमाण मींमासा की प्रशंसा करते हुए कहा है :—

"The Epistemology of Nyaya mapped out the world of knowledge in its essential features and gave to its main divisions the names which they still retain in Hindu thought, a clear proof of the immense advance, which it won for the human intellect."[1]

किन्तु न्याय दर्शन का अन्तिम उद्देश्य शुद्ध विचार या तार्किक नियमों का अन्वेषण करना ही नहीं है। इसका भी उद्देश्य अन्य दर्शनों की भाँति मोक्ष-प्राप्ति है। अर्थात् जीवन के दुःखों का किस तरह नाश हो, इसका उपाय ढूंढ निकालना ही इसका अन्तिम उद्देश्य है। न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है।[2] इन सोलह पदार्थों में प्रमाण सर्वप्रमुख है। चूंकि प्रमाण प्रमेय की सिद्धि के लिये है, प्रमाण के बिना प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकता (प्रमेय सिद्धि प्रमाणात् हि)। अत: प्रमाणों के द्वारा प्रमेय वस्तु का विचार करना तथा प्रमाणों की विस्तृत विवेचना करना न्याय दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं—"प्रमाणै: अर्थपरीक्षणं न्याय:" अर्थात् प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना ही न्याय है।[3] न्याय को न्याय-विद्या, तर्क शास्त्र तथा आन्वीक्षिकी भी कहते हैं। प्रत्यक्ष और शब्द के आश्रित अनुमान होता है, उसी को अन्वीक्षा कहते हैं, उस अनुमान से जो प्रवृत्त हो वह आन्वीक्षिकी, न्याय विद्या अर्थात् न्याय शास्त्र है।[4]

अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य का कहना है कि आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं के लिये दीपक है, सब कर्मों के अनुष्ठान का साधन मार्ग है तथा सब धर्मों का आश्रय है—

प्रदीप: सर्वविद्यानामुपाय: सर्वकर्मणाम्
आश्रय: सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता।[5]

मनु ने भी श्रुत्यनुगामी तर्क के सहारे ही धर्म के रहस्य को जानने की बात लिखी है :—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेद शास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर:।।[6]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि न्याय दर्शन की प्रमाण मींमासा धर्म कर्म और सभी विद्याओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति का साधनभूत है।

प्रमाण का स्वरूप

किसी विषय का यथार्थ ज्ञान पाने का करण या उपाय ही प्रमाण कहलाता है। इस से यथार्थज्ञान प्राप्त करने के सभी उपायों का बोध होता है। प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है—प्रमाया: करणम् या प्रमीयते अनेन तत्प्रमाणम् पहली प्रकार की व्युत्पत्ति में दो शब्द हैं—प्रमा और करण। किसी वस्तु के यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है और ऐसे प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं—(यथार्थानुभव : प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्—उदयन) वस्तु के यथार्थ रुप के विषय में भाष्यकार का कथन है—

"सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भाव:। सत् सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चासदिति गृह्यमाण यथाभूतमविपरीतं तत्वं भवति।"[7]

पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रमा का यही अर्थ स्वीकार किया है।[8]

दूसरे शब्द 'करण' का लक्षण पाणिनि ने इस प्रकार किया है — साधकतमं करणम् अर्थात् वह विशिष्ट वस्तु, जो किसी कार्य के उत्पादन में विशेष रूप से कारण हो 'करण' कहलाती हैं[9]। यद्यपि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा—इन चारों से ही अर्थतत्त्व की प्राप्ति होती है[10] तथापि इन चारों में प्रमाण ही सब से महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि प्रमाण के अभाव में, चाहे प्रमाता और प्रमेय उपस्थित भी क्यों न हों, यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जहां प्रमाण है वहां यथार्थ ज्ञान है, जहां यह नहीं है, वहां यथार्थ ज्ञान भी नहीं है। इस प्रकार प्रमाण प्रमा का सब से आवश्यक (साधकतम) कारण है।

'प्रमीयते अनेन' इस दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण ज्ञान प्राप्ति का वह साधन है जिससे प्रमाता किसी प्रमेय के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। जयन्त भट्ट के अनुसार प्रमाण वह होता है जो प्रमेय का असंदिग्ध तथा निश्चित ज्ञान प्रकट करता है।[11]

ज्ञान का प्रामाण्य

ज्ञान क्या है? सूत्रकार के शब्दों में वस्तुओं की अभिव्यक्ति को ज्ञान या बुद्धि कहते हैं।[12] अन्नं भट्ट ने इसे 'अर्थ प्रकाशो बुद्धि' अर्थात् विषय को अभिव्यक्त करने वाला कहा है।[13] जैसे दीपक का प्रकाश अपने सम्मुख उपस्थित होने वाली समस्त वस्तुओं के स्वरुप को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार बुद्धि (ज्ञान) भी समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।[14] यह ज्ञान दो प्रकार का होता है, अनुभव और स्मृति। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है (संस्कार-मात्रजन्यं ज्ञानं स्मृति:)। अनुभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी उससे उत्पन्न भावना रूप संस्कार अनुभवकर्त्ता के हृदय में विद्यमान रहता है। समान वस्तु के दर्शन होने पर सुप्त संस्कार प्रबुद्ध होकर द्रष्टा के सामने अनुभूत पदार्थ को पुन: लाकर उपस्थित कर देता है, इसे ही 'स्मृति' कहते हैं। अनुभव का लक्षण स्मृति द्वारा किया गया है कि 'स्मृति' से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है। अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ (प्रमा) तथा अयथार्थ (अप्रमा)। प्रमा जैसा कि ऊपर कहा गया है, किसी वस्तु के असंदिग्ध तथा यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चार प्रमाणों द्वारा होता है।[15] अप्रमा अयथार्थ ज्ञान को कहते हैं और यह तीन प्रकार की होती है—संशय, विपर्यय और तर्क। एक धर्मी में विरूद्ध नाना धर्म से विशिष्ट ज्ञान को संशय कहते हैं। स्थाणुत्व विशिष्ट स्थाणु को देखकर 'यह स्थाणु है या पुरुष' ऐसा संदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होना संशय कहलाता है। भ्रम या विपर्यय मिथ्या ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कहते हैं जैसे शुक्ति में रजत-ज्ञान। अविज्ञात स्वरूप वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिये उपपादक प्रमाण का सहकारी जो ऊह (सम्भावना) है उसी को तर्क कहते हैं।[16]

उपरोक्त विवेचन को हम निम्न चित्र द्वारा दिखा सकते है :—

न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान का विभाजन

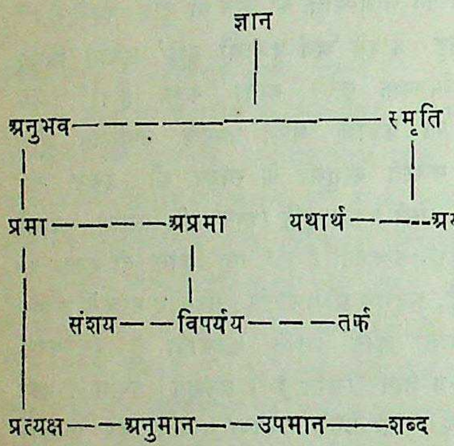

न्याय के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही परतः होते हैं, अर्थात् न तो ज्ञान के साथ उसका प्रामाण्य लगा है और न ही अप्रामाण्य, अपितु परतः अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय होता है। किसी वस्तु के ज्ञान के आधार पर यदि हम उस वस्तु के सम्बन्ध में कुछ कार्य करें और वे कार्य सफल निकलें तो उस ज्ञान को यथार्थ समझना चाहिये किन्तु सफलता के बदले यदि विफलता प्राप्त हो तो उस ज्ञान को मिथ्या समझना चाहिये। अपने सामने घड़े को पड़ा हुआ देखकर हम कहते हैं कि यह घड़ा है और यह ज्ञान साधारणतः यथार्थ समझा जाता है क्योंकि साधारणतया कोई भी अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान को झूठा नहीं समझता है। इस प्राप्त ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में पुनः छानबीन करना यद्यपि अनावश्यक सा लगता है परन्तु नैयायिक इस विषय में अधिक अन्वेषी हैं। उनके मतानुसार यह घट-ज्ञान तब तक यथार्थ तथा प्रामाणिक नहीं हो सकता जब तक हम उस वस्तु से जल ग्रहण नहीं कर लेते (क्योंकि घड़े के द्वारा हम जल भरते हैं और अपनी प्यास बुझाते हैं।) पानी लाने की क्षमता सिद्ध होने पर ही हमारा घट-ज्ञान यथार्थ कहा जा सकता है। 'यथार्थ ज्ञान से हमारी प्रवृत्ति सफल होती है तथा मिथ्याज्ञान से असफल होती है।[17]' यही न्यायमतानुसार परतः प्रामाण्य है।

परन्तु मीमांसक ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान अपने रूप में सदा यथार्थ ही होता है, उसकी अयथार्थता किसी विशेष कारण से ही होती है। इस प्रकार मीमांसा के मत में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः। ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में बौद्ध-मत मीमांसा के के मत से बिल्कुल विपरीत है, उसके अनुसार ज्ञान स्वभावतः अप्रामाणिक तथा संदिग्ध होता है, उसकी यथार्थता बाद में ही सिद्ध होती है। यदि उससे अर्थक्रियाकारी वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उसे हम यथार्थ कहते हैं अन्यथा अयथार्थ।[18] जैन दर्शन, चूंकि यह अनेकान्तवाद को मानता है, के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य-दोनों ही स्वरूपतः हो सकते हैं अर्थात् एक ही ज्ञान एक दृष्टिकोण से 'प्रमाण' और दूसरे दृष्टिकोण से 'अप्रमाण' हो सकता है। इन चारों दर्शनों के प्रामाण्य सम्बन्धी सिद्धान्त को हम निम्न प्रकार से दिखा सकते हैं।

न्याय-वैशेषिक—प्रामाण्यम् अप्रामाण्यम् परतः।
पूर्वमीमांसा—प्रामाण्यम् स्वतः, अप्रामाण्यम् परतः।
बौद्ध—अप्रामाण्यम् स्वतः, प्रामाण्यम् परतः।
जैन—प्रामाण्यम् अप्रामाण्यम् स्वतः।[19]

विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमाणों की संख्या :

प्रमाणनिरूपण या प्रमाणविद्या प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय के साथ जुड़ी हुई है। परन्तु प्रमाणों की संख्या व स्वरूप के विषय में प्रत्येक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन का अपना अलग-अलग सिद्धान्त है। **चार्वाक** लोग केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। उनके मत में किसी भी प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष से होनी चाहिये। जो प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है वह सत् नहीं है अर्थात् उसकी सत्ता ही नहीं है, ऐसी उनकी मान्यता है।[20]

बौद्ध प्रत्यक्ष तथा अनुमान-ये दो ही प्रमाण मानते हैं। वे उपमान और शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं।[21]

सांख्य एवं **योग** दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द (आगम)—तीन प्रमाण मानते हैं और यह प्रबल आग्रह करते हैं कि प्रमाण उक्त तीन से कम नहीं हो सकते और न ही इन तीनों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण माना जा सकता है। अन्य शास्त्राभिमत उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का वे आग्रहपूर्वक खण्डन करते हैं और इन तीन ही प्रमाणों में उनका अन्तर्भाव दिखाते हैं।[22]

वैशेषिक मतानुसार यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्षज्ञान से होता है। वैशेषिक मतानुयायी शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव और ऐतिह्य को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं।[23]

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, प्रत्यभिज्ञा और स्मृति—ये सभी ज्ञान प्राप्ति के स्वतन्त्र साधन हैं।[24]

प्रभाकर मीमांसकों के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द की भान्ति अर्थापत्ति भी स्वतन्त्र प्रमाण माना जाना चाहिये।

कुछ **मीमांसक** एवं **वेदान्ती** लोग अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं और इस प्रकार उनके मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि—ये छः प्रमाण हैं।

पौराणिक लोग उक्त छः प्रमाणों में ऐतिह्य और सम्भव को मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं।

तान्त्रिक नौ प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव और चेष्टा।

परन्तु **नैयायिकों** को केवल प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार ही प्रमाण मान्य हैं। शेष सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव वे इन चारों प्रमाणों के ही अन्तर्गत करते हैं। कौन सा दर्शन कितने व कौन-कौन से प्रमाण मानता है, इसका संक्षेप में निम्न प्रकार से चित्रण किया जा सकता है :—

दर्शन का नाम	स्वीकृत प्रमाण
१ चार्वाक दर्शन	१ प्रत्यक्ष
२ बौद्ध दर्शन	१ प्रत्यक्ष
	२ अनुमान
३ जैन दर्शन	१ प्रत्यक्ष
	२ अनुमान
	३ शब्द
	४ प्रत्यभिज्ञा
	५ स्मृति
४ साँख्य-योग दर्शन	१ प्रत्यक्ष
	२ अनुमान
	३ शब्द
५ न्याय दर्शन	१ प्रत्यक्ष
	२ अनुमान
	३ उपमान
	४ शब्द
६ वैशेषिक दर्शन	१ प्रत्यक्ष
	२ अनुमान
	३ स्मृति
	४ आर्षज्ञान
७ मीमांसा दर्शन	
प्रभाकर मत	१ प्रत्यक्ष
	२ अनुमान
	३ शब्द
	४ उपमान
	५ अर्थापत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमारिल मत	१	प्रत्यक्ष
	२	अनुमान
	३	उपमान
	४	शब्द
	५	अर्थापत्ति
	६	अनुपलब्धि
८ वेदान्त दर्शन	१	प्रत्यक्ष
	२	अनुमान
	३	उपमान
	४	शब्द
	५	अर्थापत्ति
	६	अनुपलब्धि

प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्त्व :

न्यायदर्शनाभिमत चार प्रमाणों में से प्रत्यक्ष प्रमाण का दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्तों से, विशेषकर बाह्यार्थवाद (Realism) की स्थापना से, विशेष सम्बन्ध है। प्रत्यक्ष प्रमाण सभी दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत है। यह प्रमाण हमारे ज्ञान का केवल प्रमुख साधन ही नहीं अपितु ज्ञानप्राप्ति के अन्य साधनों का आधार भी है।[25] अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधारित है। न्याय सूत्रकार ने अनुमान का लक्षण 'तत्पूर्वकम्' कह कर किया है।[26] इस लक्षण के अनुसार अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी पूर्वज्ञान के पश्चात् आता है। हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति के स्मरण पर ही अनुमान आधारित है। दो वस्तुओं (धूम और अग्नि) के एक साथ विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना हम तब तक नही कर सकते जब तक हम उनके सदा नियम से एकत्र रहने को पाकशालादि में देख न लें। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान का आधार है। इसी प्रकार उपमान भी प्रत्यक्ष पर आधारित है क्योंकि पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहां किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उसे उपमान कहते हैं। शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्षाश्रित है क्योंकि आप्त पुरुष द्वारा सुनायी गयी अथवा लिखी गयी बातों को हम इसीलिये ही प्रामाणिक मान लेते हैं क्योंकि उसने उन बातों का प्रत्यक्षानुभव अर्थात् साक्षात्कार किया होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अन्य सभी ज्ञानों का आधारभूत है। पश्चात्य विद्वान जे० एस० मिल ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[27]

अपरञ्च, प्रत्यक्ष प्रमाण समस्त ज्ञान का अन्तिम परीक्षण है। यद्यपि हमें अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों से भी ज्ञान-प्राप्ति होती है तथापि इन साधनों से प्राप्त ज्ञान की निश्चितता प्रत्यक्ष से ही होती है। जब हम आप्त पुरुषों से किसी विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं तो अनुमान से उस ज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसते हैं और तत्पश्चात् उस ज्ञान का प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् अनुभव करना चाहते हैं, तभी हमारी ज्ञान सम्बन्धी जिज्ञासा शान्त होती है।[28] पाश्चात्य दर्शन में प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वत: माना जाता है अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान में कोई शंका या पूछताछ की आवश्यकता नहीं है।[29] लेकिन जैसा कि हमने इस विषय पर पीछे भी चर्चा की है कि न्याय प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वत : नहीं मानता। 'प्रत्यक्ष सभी ज्ञानों का अन्तिम परीक्षण है' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्यक्ष यथार्थ और केवल यथार्थ ही हो सकता है। लेकिन हां, व्यावहारिक वस्तुवादी दृष्टिकोण से यह प्राय: मान लिया जाता है कि सामान्य परिस्थितियों में जो कुछ प्रत्यक्ष किया जाता है, वह यथार्थ ही होता है और उसका पुन: परीक्षण करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु यदि प्रत्यक्ष के प्रामाण्य में कोई शंका होती है तो न्यायमतानुसार हमें अन्य ज्ञानों की भान्ति प्रत्यक्ष ज्ञान का भी परीक्षण कर लेना चाहिये।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण—न्याय दर्शन के प्रणेता आचार्य गौतम ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया था, "जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो, जिस ज्ञान की उत्पत्ति में शब्द का प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न ही तथा जो भ्रम रहित व निश्चयात्मक हो" (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्) ।[30] इस लक्षण में चार मुख्य तत्त्व हैं—[1] इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष, जो प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रमुख लक्षण है । [2] अव्यभिचारी, जो प्रत्यक्ष ज्ञान की यथार्थता एवं प्रमाणिकता को इंगित करता है, [3] अव्यपदेश्यम् और[4] व्यवसायात्मकम्, ये दोनों प्रत्यक्ष के दो भेदों का निर्देश करते हैं।

इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। सन्निकर्ष का अर्थ है—सम्बन्ध। चक्षुइन्द्रिय का पुस्तक के साथ सम्बन्ध होने पर पुस्तक का ज्ञान होता है, यही प्रत्यक्ष कहलाता है। आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिये तीन सम्बन्धों का होना आवश्यक है—आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय का विषय से। गौतम द्वारा की गई प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रथम दो सम्बन्धों का उल्लेख नहीं किया गया है क्योंकि ज्ञान प्राप्ति के अन्य सभी साधनों द्वारा उत्पन्न ज्ञान में ये दोनों अनिवार्य हैं। अतः यहां केवल विशेष सम्बन्ध का ही वर्णन किया गया है।[31] इस प्रकार 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' प्रत्यक्ष-लक्षण की मुख्य विशेषता है।

प्रत्यक्ष के इस लक्षण को अनेक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं।[32] पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं कि इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण का आवश्यक अंग है। [33] किन्तु नव्य नैयायिक इसे आवश्यक नहीं मानते। उनका कथन है कि इन्द्रिय संयोग के बिना भी प्रत्यक्ष-ज्ञान हो सकता है। ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान है, परं ईश्वर की कोई इन्द्रिय नहीं है। जब रस्सी को भ्रमवश सर्प समझ लिया जाता है तो इन्द्रिय संयोग का अभाव रहता है, क्योंकि वहां कोई वास्तविक सांप नहीं है, जिस के साथ आंखों का सम्पर्क हो। सुख दुःख आदि मनोभावों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय संयोग के बिना ही होता है। अतः इन्द्रिय-संयोग प्रत्यक्ष के लिये नितान्त आवश्यक नहीं है।

नवीन नैयायिक गंगेश उपाध्याय ने प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा है कि, "वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, जिसमें कोई दूसरा ज्ञान करण या साधन न हो।[34] इसके अनुसार प्रत्यक्ष ही केवल ऐसा ज्ञान है जिसमें कोई दूसरा ज्ञान साधन नहीं बनता, क्योंकि अनुमिति में व्याप्ति-ज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, और शब्द-बोध में पद-ज्ञान करण होता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान तब होता है जब उसका साक्षात्कार होता है। अतः कुछ भारतीय तार्किक साक्षात् प्रतीति को ही प्रत्यक्ष कहते हैं, यद्यपि वे मानते हैं कि अधिकांश प्रत्यक्ष इन्द्रिय-स्पर्श के ही कारण होते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद :— प्रत्यक्ष के भेदों का निरूपण कई प्रकार से किया जा सकता है। एक प्रकार से प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक हो सकता है। यह विभाजन इस बात पर आधारित है कि इन्द्रिय का वस्तु के साथ किस तरह संयोग होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष —सामान्य रूप से जब इन्द्रिय का संयोग वस्तु के साथ होता है तब लौकिक प्रत्यक्ष होता है। लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—बाह्य तथा मानस। बाह्य प्रत्यक्ष पञ्च ज्ञानेन्द्रियों—आंख, नाक, कान, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होने से पांच प्रकार का होता है—चाक्षुष, घ्राणज, श्रावण, स्पार्शन तथा रासन। मानस प्रत्यक्ष केवल एक ही प्रकार का होता है और यह मानसिक अनुभूतियों के साथ मन का संयोग होने से होता है। इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार का होता है।[35]

दूसरी दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हो सकते हैं—निर्विकल्पक, सविकल्पक, तथा प्रत्याभिज्ञा। यह विभाजन इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है।

निर्विकल्पक—इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर जब उस विषय का सर्वप्रथम ज्ञान होता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब वह ज्ञान हमारे लिये सामान्य स्तर का कि 'यह कुछ है' इस प्रकार का होता है, उस वस्तु के नाम, गुण, रूप रंग आदि के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं होता। गौतम ने इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अव्यपदेश्यम्' कहा है।[36] निर्विकल्पक ज्ञान की तुलना हम अबोध बच्चों के उस ज्ञान से कर सकते हैं जिसे शब्दों से अभिव्यक्त नहीं किया जा, सकता। अन्नं भट्ट ने 'निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्[37] कहा है अर्थात् प्रकार (विशेषण) रहित ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं। जैसे दूर से हमने कोई वस्तु देखी, विशेष ज्ञान होने से पहले नाम जात्यादि रहित जो 'इदं किञ्चित्' यह कुछ है ऐसा ज्ञान होता है वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

सविकल्पक:—गौतम ने अपनी प्रत्यक्ष परिभाषा में सविकल्पक ज्ञान को 'व्यवसायात्मकम्' कहा है।[38] 'यह घट है' इस रूप में नाम जात्यादि विशिष्ट रूप में होने वाला ज्ञान सविकल्पक कहलाता है। यह ज्ञान 'विशेष्यविशेषणभावयुक्त' होता है जिसमें 'यह वस्तु' (घट) विशेष्य है और घटत्व विशेषण है। विशेष्य-विशेषणभाव युक्त ज्ञान को ही न्याय की भाषा में सप्रकारक[39] अर्थात् विशेषण सहित ज्ञान कहते हैं। मनोविज्ञान वस्तु ग्रहण के अवसर पर सेन्सेशन (संवेदन) तथा परसैप्सन (प्रत्यक्ष) में जो अन्तर बतलाता है, वही अन्तर 'निर्विकल्प' तथा 'सविकल्प' प्रत्यक्ष में भी विद्यमान है।

प्रत्यभिज्ञा—प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—पहचान। यदि किसी वस्तु को देखने से यह ज्ञान हो कि 'यह वही वस्तु है जिसे मैंने पहले देखा था' तो ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ-साथ भूतकाल का ज्ञान भी विद्यमान रहता है।[40]

प्रत्यक्ष के उपरोक्त तीन भेदों के आधार पर हमें इस क्रम से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है :—

(१) इन्द्रिय का घटविषय के साथ सम्बन्ध होने पर हमें उस घट का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, जिसमें घट और घटत्व का अलग-अलग 'विशेष्य-विशेषणभाव रहित' ज्ञान होता है।

(२) इसके बाद आत्मा में 'यह घट है' इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान होता है जिसमें 'घट' और 'घटत्व' में 'विशेष्यविशेणभाव' होता है।

(३) इसके बाद हमें सविकल्पक ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा या अनुव्यवसाय इस रूप में होता है कि 'मैं इस घट को जानता हूं'।

अलौकिक प्रत्यक्ष :

अलौकिक प्रत्यक्ष में विषय का इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं होता अपितु अलौकिक सम्बन्ध से ही विषय का ज्ञान होता है। सभी अलौकिक प्रत्यक्ष निश्चित होने से सविकल्पक ही होते हैं।[41] यह तीन प्रकार का होता है :—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज।

१. सामान्य लक्षण :

हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में कुछ ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनका प्रत्यक्ष से, अर्थात् साधारण लौकिक सन्निकर्ष से, समाधान नहीं हो सकता। जैसे जहां जहां धूम है, वहां वहां वह्नि होती है, इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय तभी हो सकता है जब हम सब देश और सब कालों के सब धूमों को देख लें कि वे वह्नि के साथ सहचरित हैं। परन्तु यह लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। नैयायिकों का कहना है कि धूमत्व नामक सामान्य धर्म के द्वारा सारे धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को सामान्य लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं. क्योंकि सामान्य धर्म के द्वारा ही इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष न्याय दर्शन के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। इस के बिना हम व्याप्ति की, जो अनुमान प्रमाण का आधार है, व्याख्या नहीं कर सकते।

२. ज्ञानलक्षण :

इसमें विषय का इन्द्रिय से सीधा सम्बन्ध नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता अपितु विषय के अतीत ज्ञान का ही इन्द्रियों से अलौकिक सम्बन्ध होता है। भूतकाल में चन्दन की लकड़ी का प्रत्यक्ष होने से हमने उस लकड़ी के रंग के साथ उसके गन्ध का भी घ्राण किया है। इस तरह मन में रंग तथा गन्ध में एक सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यही कारण है कि चंदन को देखने से ही उसके गन्ध का भी प्रत्यक्ष साथ-साथ हो जाता है। इस तरह का अनुभव हमें अतीत ज्ञान के ही कारण होता है। इसलिये इसे 'ज्ञान लक्षण' प्रत्यक्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष अलौकिक इसीलिये है कि इससे एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रिय के विषय का अनुभव कर सकती है जो साधारणतया सम्भव नहीं है। रसायन विज्ञान आदि शास्त्रों में भी हम इसी प्रत्यक्ष के द्वारा गैसों की उपस्थिति का विश्लेषण करते हैं। उदाहरणतया, जब हमें सड़े हुए अंडों की दुर्गन्ध का अनुभव होता है तो यह समझा जाता है कि यह हाईड्रोजन सल्फाइड ($H_2 S$ gas) ६।

३. **योगज :**

इसके द्वारा भूत और भविष्य, निकटस्थ या दूरस्थ सभी प्रकार की वस्तुओं का साक्षात्कार किया जाता है। योगज प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—युक्त और युंजन। जो व्यक्ति योग में पूर्ण सिद्ध है वह युक्त कहलाता है। ऐसे व्यक्ति का योगज ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। लेकिन जिन्होंने योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त की है उन्हें 'युंजान' कहते हैं। सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने के लिये इन्हें अधिक ध्यान-धारणा की आवश्यकता होती है। योगज प्रत्यक्ष को भारतीय दर्शन में प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकार किया जाता है। यद्यपि आधुनिक विज्ञान का योगज प्रत्यक्ष में कोई विश्वास नहीं है तथापि हम कुछ आधारभूत विज्ञान शास्त्रों में योगज प्रत्यक्ष के कुछ उदाहरण देख सकते हैं। उदाहरणतया श्री कैकुले ने योगज प्रत्यक्ष द्वारा ही अपना बैनजीन सिद्धान्त (Formula of Benzene) प्रतिपादित किया है। यह सिद्धान्त समस्त कार्बनिक रसायन विज्ञान का आधार है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के उपर्युक्त समस्त विवेचन को हम इस मानचित्र द्वारा संक्षेप में दिखा सकते हैं:—

```
                         प्रत्यक्ष प्रमाण
                                |
         लौकिकप्रत्यक्ष————————अलौकिक प्रत्यक्ष
              |          | 1               |
बाह्य———मानस        | सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण, योगज
  |                      |                        |
चाक्षुष, श्रावण,         |                        |
घ्राणज, स्पार्शन, रासन  |               युक्त—युंजान
                         |
                         | 2
     निर्विकल्पक, सविकल्पक, प्रत्यभिज्ञा
```

न्याय दर्शन में वर्णित प्रत्यक्ष-प्रमाण के उपरोक्त विवेचन से यह स्वतः स्पष्ट है कि न्याय का प्रत्यक्ष सम्बन्धी ज्ञान कितना विस्तृत है। आज के वैज्ञानिक युग में प्रत्यक्ष की महत्ता एवं उपादेयता किसी भी प्रकार से कम नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण न केवल दार्शनिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है अपितु ज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं में आज ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रत्यक्ष जा प्रयोग किया जा रहा है। क्या समाज शास्त्री और क्या मनोविज्ञान शास्त्री सभी ज्ञान की खोज में प्रत्यक्ष का प्रयोग कर रहे हैं। इण्टरनेशनल एनसाइकलोपीड़िया आंफ सोशल सांईसीज (१९६८) जिल्द ११ में जलियन ई० हकबर्ग ने आज के युग में प्रत्यक्ष का महत्त्व बताते हुए कहा है कि, "Such understanding is obivously important to the physician, to the physiologist, and, it was once thought, to the philosopher concerned with the question of how we can be sure about the truths of our ideas."[42]

परन्तु यह हमें बड़े खेद से कहना पड़ता है कि आज समाज शास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों आदि द्वारा यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष सम्बन्धी समस्त ज्ञान युनानी दर्शन की देन है। इसका प्रमुख कारण यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि उन्हें अपने प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के विषय में कोई जानकारी नहीं है और वे इन्हें केवल आध्यात्मिक विषयों की ही व्याख्या करने वाले ग्रन्थ कह कर व्यावहारिक दृष्टि से तिरस्कृत सा कर देते हैं। परन्तु वास्तविक रूप में भारतीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य आत्मा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना है और उस उद्देश्य प्राप्ति के लिये ही व्यावहारिक जगत की व्याख्या हमारे ग्रन्थों में पाई जाती है। अतः भारतीय दर्शन का क्षेत्र आज के भौतिक ज्ञान से व्यापक है। प्रो० जदुनाथ सिन्हा ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि,

"The crowning achievement of the Hindus was metaphysical speculation. But the philosophical literature of India is not only rich in metaphysics but also in Psychology, Logic, Ethics, Esthetics and Epistemology. The psychological account of some problems of perception, e. g. perception of the self, perception of the universal etc, is unintelligible without consideration of their metaphysical foundations"[43]

परन्तु यदि हम अपने प्राचीन भारतीय दर्शन, विशेषकर न्याय दर्शन का गम्भीरता से अध्ययन करें तो पायेंगे कि प्रमाणों का जैसा विस्तृत एवं प्रामाणिक वर्णन यहाँ हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। पाश्चात्य विद्वानों के प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी विचार, जैसा कि हमने पीछे देखा है, न्याय दर्शन से मिलते जुलते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने प्राचीन साहित्य में छिपे हुए अक्षय कोश को खोजें और ज्ञान की उन किरणों को समस्त विश्व में बिखेर दें।

संदर्भ सूत्र :

१. डा० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, जिल्द II पृष्ठ १७३

२. आचार्य गौतम: न्यायसूत्र १.१.१

३. वात्स्यायन : न्याय भाष्य १.१.१

४. वात्स्यायन : न्याय भाष्य १.१.१

५. कौटिल्य : अर्थशास्त्र १.२

६. मनु : मनुस्मृति १२.१०६

७. वात्स्यायन: न्याय भाष्य १.१.१

8. Bertrand Russell; The Problems of Philosophy, Page 217.
"knowledge, in its strict sense, means a true belief that carries with it an assurance of its truth".

९. पाणिनि सूत्र, १.४.४२।

१०. वात्स्यायन : न्याय भाष्य १.१.१

११. जयन्त : न्याय मञ्जरी, पृष्ठ १२

१२. न्याय सूत्र : १.१.१५

१३. अन्नं भट्ट : तर्क संग्रह पृष्ठ ६

१४. न्याय भाष्य : १.१.१

१५. न्याय सूत्र : १.१.३

१६. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ १८७

१७. न्याय भाष्य १.१.१, न्यायसूत्र १.१.१७

१८. श्चेरबात्सकी : बुद्धिस्ट लॉजिक, जिल्द १, पृष्ठ ४६।

१९. विस्तार के लिये श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय का **'The Nyaya theory of knowledge'** तृतीय व पंचम अध्याय देखिये

२०. माधवाचार्य : सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय १

२१. वही, अध्याय २।

२२. वाचस्पति मिश्र : सांख्य तत्त्व कौमुदी, कारिका ५, पतञ्जलि : योगसूत्र १.७

२३. प्रशस्तपाद : पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४. उमास्वामी : तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, १.१०-१३

२५. न्याय भाष्य : १.१.६-७

२६. न्याय सूत्र : १.१.५

27. J.S. Mill, A System of Logic, Page 3.
"The truths known by intuition are the original premises from which all others are inferred".

२८. वात्स्यायन : न्याय भाष्य १.१.३

29. (a) J.S. Mill, A System of Logic, Page 4.
"Whether is known to us by consciousness (intuition), is known beyond possibility of question. What one sees or feels, whether bodily or mentally, one cannot but be sure that one sees or feels."
(b) Russell, The Problems of Philosophy, Page 72.
"The truths of perception are self-evident truths, for which we require no test at all".
(c) W. T. Marvin, The new Realism, Pages 66-67.
"Perception is the ultimate crucial test, and as such, it does not presuppose its own possibility. It simply is; and the man who questions it assumes it an order to do the questioning".

३०. गौतम न्यायसूत्र १.१.४

३१. वात्स्यायन : न्याय भाष्य १.१.४

३२. प्रशस्तपाद : पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ६४
ईश्वरकृष्ण : सांख्य कारिका, कारिका ५
व्यास : व्यास भाष्य, १.७
जैमिनी : मीमांसा सूत्र, १.१.४

33. J.H. Parsons, An Introduction to the theory of Perception, Page 3.
"Sensory presentations, as we experience them, invariably evolve perception, however naive it may be, at the start: but there is no perception without sensory presentation."

३४. गंगेश : तत्त्वचिन्तामणि, पृष्ठ ५५२
विश्वनाथ : सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ २३७

३५. विश्वनाथ: सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ ५२-६३

३६. गौतम : न्याय सूत्र १.१.४ ।

३७. अन्नं भट्ट : तर्क संग्रह, प्रत्यक्ष खण्ड

३८. गौतम न्याय सूत्र १.१.४ ।

३९. अन्नं भट्ट : तर्क संग्रह, प्रत्यक्ष खण्ड

४०. वात्स्यायन : न्याय भाष्य, ३.१.७; ३.२.२

४१. न्यायकोश : पृष्ठ ४९९

42. International Encyclopedia of the social sciences, (1968), Page 527.

43. **Jadunath Sinha : Indian Psychology of Perceptlon, Pages XV and XVI.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० आशानन्द वोहरा
हिन्दी विभाग,
गवर्नमेंट कालिज, गुड़गांव,
(हरियाणा)

गुरु तेगबहादुर की भक्ति-साधना

एक भगति भगवान जिह प्रानी कै नाहि मनि ॥
जैसे सूकरु सुआन नानक मानो ताहि तनु ॥[1]

पंजाब की गुरु परंपरा के नवम परम सन्त गुरु तेगबहादुर जी की सम्पूर्ण वाणी का रहस्य सत्यं, शिवं, सुन्दरं की साधना एवं उपासना है। उनकी यह उपासना प्रमुख रूप से मानसी एवं गौण रूप से वाङमयी थी। वे अकाल पुरुख के अनन्य भक्त थे। उनकी भक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा और अन्तर की अनुभूति थी। उन्होंने अपने समय की प्रचलित सभी धर्मसाधनाओं को आत्मसात करके अपने को एक नितान्त निराला धर्मसाधक सिद्ध किया था। वे भक्त होने के साथ साथ उच्चकोटि के चिन्तक भी थे। उनकी भक्ति में कवि-सुलभ कल्पना का योग स्वभाव से ही हो गया था। बाल्यकाल में उनकी एकान्त प्रियता ने उन्हें उच्चकोटि का भक्त एवं चिन्तक बनाने में अपना पूर्ण योगदान दिया था। यौवन में भी वे सांसारिक पदार्थों से उदासीन रहे। वाहिगुरु की आराधना ही उनका जीवन लक्ष्य होने के कारण वे गुरु पदवी के लिए भी लालायित न हुए। परन्तु जब अष्टम गुरु श्री हरिकृष्ण जी उन्हें अपने स्थान पर गुरु मनोनीत करने लगे तब उन्होंने 'बाबा बकाला'[2] कह कर इनकी ओर संकेत करते हुए इन्हें गुरु पदवी प्रदान की। तब भी इनकी भक्ति भावना ने इन्हें बकाला में अकाल पुरख के ध्यान में लीन रखा[3]। जब इन के एक सेवक श्री मक्खनशाह ने इन्हें अन्तर्यामी रूप में जानकर वास्तविक गुरु उद्घोषित किया तब भी ये हरिभजन में लीन थे[4]। गुरु पदवी पर आसीन होकर भी ये अपने पारिवारिक जीवन में ग्रस्त न हुए और अधिकतर यात्राएं ही करते रहे। उनके विचार से इस प्रपंचात्मक संसार से छूटने का एक मात्र उपाय हरि-भक्ति था, जिसके बिना इन्हें यह समस्त जीवन भारस्वरूप प्रतीत होता था। प्रभु-भक्ति से रहित जीवन इन्हें अधार्मिक प्रतीत होता था। इसी कारण ये अपनी यात्राओं के दौरान कलियुग के संतापकारी त्रयताप के शमन हेतु अपने कोमल हृदय से भगवद्भक्ति रस की मन्दाकिनी प्रवाहित करते रहे, जिस के द्वारा इन्होंने अपने सेवकों के मानसिक कालुष्य-पंक का प्रक्षालन कर उन्हें स्वच्छ-हृदयता ही प्रदान नहीं की अपितु उन्हें उच्चभावों से सम्पन्न भी बनाया। कर्मकाण्ड के जटिल जाल में ग्रस्त जनता को तीर्थ, व्रत, जप आदि का वास्तविक स्वरूप व्यक्त किया। ऐहिकता की मृगतृष्णा के पीछे भटकते हुए मानव-मन-कुरंग को हरि-भजन की मन्दाकिनी के सरस तट पर लाकर छोड़ दिया। उन्होंने स्वयं भी इस भक्ति की शक्ति को पाकर कठोर अत्याचारों का सामना किया और अपने सेवकों को भी इस मार्ग पर चलने का आदेश दिया। वे तो न किसी को भयभीत करते थे और न ही किसी का भय मानते थे[6]। इसी कारण उन्हें हिन्दुत्व की रक्षा के लिए अपना बलिदान देने पर भी तनिक कष्ट अनुभव नहीं हुआ। इसका मूल कारण था उनकी ब्राह्मी-वृत्ति। उन्होंने अपने सेवकों के प्रति भौतिक विषयों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुष्परिणामों का उद्घाटन इतनी सफलता से किया कि वे अनायास ही हरिभजन में लीन रहने लगे थे। उन्होंने अपने अनुपम ज्ञान और वैराग्य के द्वारा भक्ति को प्रतिष्ठित किया और कलियुग में नाम-स्मरण को ही उपासना का सर्वोत्तम स्वरूप उद्घोषित किया था। यथा :—

कलि महि मुकति नाम ते पावत गुरु यह भेदु बतावै।
कहु नानक सोई नरु गरुआ जो प्रभ के गुन गावै ॥[7]

यह नाम स्मरण—स्वरूप भक्ति स्वतः पूर्ण है, वह साधन नहीं, साध्य है। इसकी प्राप्ति से समस्त कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। वाहिगुरु जी का भक्त भी वाहिगुरु रूप हो जाता है।

भक्ति-दर्शन के प्रतिपादक ग्रंथों में भक्ति के स्वरूप का सैद्धान्तिक विश्लेषण मिलता है। 'भक्ति[8]' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज सेवायाम्'[9] धातु से 'क्तिन'[10] प्रत्यय लगाने पर होती है जिसका भाव भगवान की सेवा व्यक्त होता है। भक्ति आचार्यों ने भगवान के प्रति परम अनुरक्ति को भक्ति कहा है[11], तथा अनेकानेक परिभाषाएं भी दी हैं[12], जिनका सारांश यही है कि भक्ति में प्रेम का भाव अवश्यम्भावी है, जिसके द्वारा भगवान को शीघ्र प्रसन्न किया जा सकता है। इसमें श्रद्धा और प्रेम के अनुपम महत्व के कारण ही आचार्य शुक्ल ने इसे "श्रद्धा और प्रेम का योग" बताया है। ऐसी भक्ति करने वाले साधक के लिए विषय-भोगों के प्रति कोई उत्साह नहीं रह जाता। वह तो आत्मानन्द की प्राप्ति से सांसारिक विषयों से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है। गुरु तेगबहादुर जी भी ऐसी ही भक्ति-साधना में लीन रहते थे। वे तो सांसारिक त्रयताप से दुःखी प्राणियों को इसी भक्ति-साधना का सन्देश देते थे। उनकी भक्ति साधना व्यक्तिगत होने के साथ-साथ लोक-रक्षा के भाव को भी दृढ़ करती है।

साधो कउन जुगति अबि कीजै।
जा ते दुरमति सगल बिनासे राम भगति मनु भीजै ॥
मनु माइआ महि उरझि रहिओ है।
बूझै नह कछु गिआना ॥
कउनु नामु जगु जा के सिमरै, पावै पदु निरबाना ॥१॥
भए दइआल किरपाल संत जन तब इह बात बताई ॥
सरब धरम मानो तिह कीए,
जिह प्रभ कीरति गाई ॥ २ ॥
राम नामु नर निसि बासुर महि,
निमख एक उरि धारै ॥
जम को त्रासु मिटै नानक तिह,
अपुनो जनमु सवारै ॥ ॥ ३ ॥[13]

'भक्ति' एक मानसिक स्थिति है जिस के अन्तर्गत साधक अपने स्वरूप का अनुसन्धान करता है[14]। उसका चित्त द्रवीभूत होकर परब्रह्म परमात्मा से एकाकार हो जाता है। वह प्रभु की कीर्ति के श्रवण एवं मनन से तदाकारता धारण करता है। ऐसी द्रवीकृत चित्त वृत्ति का नाम ही 'भक्ति' है। इसी कारण इस शब्द का प्रयोग भक्तिभाव की अभिव्यक्ति रूप क्रिया। श्रवण, कीर्तन, गायन आदि साधन रूप व्यापारों के लिए भी किया जाता है[15]। परन्तु इसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि यह एक साथ ही साधन और साध्य दोनों है[16]। इसका ऐसा ही विवेचन भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने किया है।

आराध्य या भजनीय के स्वरूप भेद से भक्ति दो प्रकार की कही गई है—सगुण भक्ति एवं निर्गुण भक्ति। सगुण भक्ति का सम्बन्ध साकार भगवान के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम आदि से होता है और निर्गुण भक्ति का सम्बन्ध ज्ञानवादियों के निराकार ब्रह्म-विषयक चिन्तन, मनन से होता है। गुरु तेगबहादुर जी की वाणी में यद्यपि पूर्ववर्ती गुरु साहिबान की भाँति ब्रह्म के निराकार स्वरूप का विश्लेषण अलख, निरंजन आदि विभिन्न शब्दों से हुआ है तथापि उनके सविशेष विशेषणों—दीन-दयाल, कृपा-निधि, पतित-पुनीत आदि का भी स्थान स्थान पर उल्लेख मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१—अगनत अपारु अलख निरंजन,
जिह सभ जगु भरमाइओ ।।[17]
२—घट ही भीतरि बसत निरंजनु,
ताको मरमु न जाना ।।[18]
३—पतित पुनीत दीनबन्धु हरि,
सरनि ताहि तुम आयउ ।।[19]
४—दीन दइआल सगल भै भंजन,
सरनि ताहि तुम परु रे ।।[20]
५—पतित उधारन भै हरन हरि अनाथ के नाथ ।।[21]
कहु नानक तिह जानीए सदा बसतु तुम साथ ।।

ऐसे स्वरूप वाले ब्रह्म के भजन का उपदेश ही उन की वाणी का प्रमुख विषय कहा जा सकता है। हरिनाम एवं राम नाम के भजन से उनका गीतिकाव्य परिपूर्ण है । ये दोनों नाम ही उनके भजनीय हैं। इस तरह से कहा जा सकता है कि उनकी भक्ति साधना पर औपनिषदिक एवं पौराणिक भक्ति-दर्शन की छाप अंकित है। उन्हें निर्गुणमत की अभेदभक्ति के साथ साथ सगुण भेद-भक्ति भी मान्य है। अत: गुरु तेगबहादुर जी की भक्ति समन्वयवादी है।

साध्य-साधन भेद से भक्ति के दो प्रकार बतलाये गये हैं—(१) वैधी भक्ति (गौणी), (२) रागात्मिका (अहेतुकी भक्ति) या प्रेमा भक्ति। वैधी भक्ति अनेक विधि-विधानों से युक्त होती है। इसका उद्देश्य रागात्मिका भक्ति को उद्दीप्त करना है। अत: परमेश्वर में निरतिशय और निर्हेतुक प्रेम ही रागात्मिका भक्ति है। तीव्र श्रद्धालु साधकों के लिए रागात्मिका भक्ति है[22]। भक्ति की अबाध मंदाकिनी गुरु तेगबहादुर जी के प्राय: प्रत्येक पद में प्रवाहित हुई है।

उक्त द्विविध वर्गीकरण के अतिरिक्त भक्ति-दर्शन के निरूपक ग्रंथों में विभिन्न दृष्टियों से भक्ति के अनेक वर्गीकरण प्रस्तुत किए गए हैं। रूप गोस्वामी[23] ने इसके बारह भेदों का निरूपण किया है। नारायण तीर्थ[24] ने इस के सत्रह भेद गिनाए हैं। इसी तरह नारद भक्ति सूत्र[25] में भक्ति सम्बन्धी ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख मिलता है। ये सभी वर्गीकरण वैज्ञानिक न होने पर भी भक्ति दर्शन के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं। इन सब वर्गीकरणों में से भागवत की नवधा-भक्ति सब से अधिक लोकप्रिय रही है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।[26]

इसी का अविकल उल्लेख अध्यात्म रामायण,[27] शिवपुराण,[28] ब्रह्म वैवर्तपुराण[29] आदि में मिलता है। रामानन्द, वल्लभाचार्य, रूपगोस्वामी आदि अनेक भक्ति शास्त्रियों ने इसी को आप्त मानकर इसकी नव-विधाओं को अधिक गौरव प्रदान किया है। गुरु तेगबहादुर जी ने अपनी समन्वयवादी दृष्टि के अनुकूल ही जहां इस पारम्परिक भक्ति साधना का अनुसरण किया वहां गुरमत प्रतिपादित नाम स्मरण आदि सम्बन्धी भक्ति को ही कलिकाल की कलुषतापूर्ण धर्म-बुद्धि के परिष्कार का एक मात्र साधन माना है। उन्होंने वेद पुराण द्वारा प्रतिपादित नाम जप को ही एक मात्र उपाय बताया है। इसी के द्वारा कलिकाल के प्राणी भव-सागर से पार उतर सकते हैं। उन्होंने कहा भी है :—

प्रानी कउनु उपाउ करै ।।
जा ते भगति राम की पावै जम को त्रासु हरे ।।
कउनु करम विदिआ कहु कैसी,
धरमु कउनु फुनि करई ।।
कउनु नामु गुर जा कै सिमरै,
भव सागर कउ तरई ।। १ ।।
कल मै एकु नामु कृपा निधि जाहि जपे गति पावे ।।
अउर धरम ता कै समि नाहनि,
इह विधि बेदु बतावै ।। २ ।।[30]

इसी तरह के नाम-महिमा का प्रतिपादन करने वाले अनेक पदों का गुरु तेगबहादुर जी ने सृजन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवण : हरि, गोबिन्द, राम के गुण, यश लीला, आदि का सुनना सुनाना ही श्रवण-भक्ति कहलाता है। गुरु जी की समस्त वाणी में पग पग पर राम के नाम की महिमा गाई गई है। राम नाम का श्रवण ही सब प्रकार से सुखदायक कहा गया है। इसी लिए गुरु जी ने कहा भी है :—

१—रे मन राम सिउ करि प्रीति ॥
स्रवन गोबिंद गुनु सुनउ,
अरु गाउ रसना गीति ॥[31]

२—रे मन कउन गति होइ है तेरी ॥
इह जग मैं राम नामु सो
तउ नहीं सुनिआ कान ॥[32]

३—बीत जैहै बीत जैहै जनमु अकाज रे ॥
निस दिन सुन कै पुरान, समझत नह रे अजान ॥[33]

राम नाम के स्मरण के बिना जीवन व्यर्थ ही व्यतीत हो रहा है। मनुष्य जन्म पाकर भी जिसने वेद पुराण आदि का स्मरण नहीं किया, निसदिन उन्हें सुन कर राम नाम के मर्म को जानने का प्रयास नहीं किया, ऐसे मानव की कैसी गति होगी? कहा नहीं जा सकता। यदि भगवन नाम के महत्व को समझा जाये तो मनुष्य का उद्धार हो सकता है। हरि नाम का प्रभाव ही ऐसा है कि महान से महान पापी भी इसके सहारे इस संसार से पार हो जाते हैं।

स्मरण : भगवान् के नाम, रूप, गुण आदि की स्मृति 'स्मरण' है। हरिनाम के स्मरण से ही सर्व-सुखों की प्राप्ति होती है। भगवान के साक्षात्कार का यही एक सरलतम साधन है। हरिनाम की ओट लेने से मोक्ष की प्राप्ति सहज हो जाती है। अजामल और गज आदि को इसी नाम स्मरण से अभय पद की प्राप्ति हुई थी। गुरु जी ने इसी बात का समर्थन निम्न पदों में किया है :—

१—हरि को नामु सदा सुखदाई ॥
जा कउ सिमरि अजामलु उधरिओ,
गनिका हू गति पाई ॥
पंचाली कउ राज सभा महि,
राम नाम सुधि आई ॥
ता को दूख हरिओ करुनामै,
अपनी पैज बढ़ाई ॥ १ ॥
जिह नर जसु कृपानिधि गाइओ,
ता कउ भइओ सहाई ॥
कहु नानक मै इही भरोसे,
गही आनि सरनाई ॥ २ ॥[34]

२—रे मन ओट लेहु हरिनामा ॥
जा के सिमरनि दुरमति नासे,
पावहि पदु निरबाना ॥ १ ॥ रहाउ ॥
बडभागी तिह जन कउ जानहु,
जो हरि के गुन गावै ॥
जनम जनम के पाप खोइ कै,
फुनि बैकुंठि सिधावै ॥ । ॥
अजामल कउ अंति काल महि,
नाराइन सुधि आई ॥
जा गति कउ जोगीसुर बांछत,
सो गति छिन महि पाई ॥ २ ॥
नाहन गुनु नाहिन कछु बिदिआ
धरमु कउनु गजि कीना ॥
नानक बिरदु राम का देखो,
अभै दानु तिह दीना ॥ ३ ॥[35]

सौ बातों की एक ही बात तो यही है कि दिनरात उस हरिनाम का स्मरण किया जाये।

कीर्तन : भगवान के सगुण अथवा निर्गुण नामों का बारंबार उच्चारण ही 'कीर्तन' है। प्रभु के गुणों एवं लीलाओं का गायन भी कीर्तन कहलाता है। गुरमत दर्शन में इसका विशेष महत्व प्रतिपादित है। पूर्ववर्ती गुरु साहिबान की तरह ही श्री गुरु तेगबहादुर जी भी संगीत कला में भी इतने ही निपुण थे जितने कि काव्यकला में। उनके समस्त पद गीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण है। वे जन्मसिद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गायक थे और उन्होंने अनेक राग-रागिनियों का समावेश अपने पदों में किया है। कीर्तन के अन्तर्गत गान, वाद्य और नृत्य तीनों ही कलाओं का समावेश होता है। वे अपने पदों को रचते या कहते ही नहीं थे अपितु उन्हें गाते भी थे। गोविन्द की लीलाओं के गान में उन्हें आनन्दानुभूति होती थी। इसी लिए वे अपने पदों में गोविन्द के गुण गाने की प्रेरणा देते हैं:-

१—साधो गोबिन्द के गुन गावउ ॥
मानस जनमु अमोलकु पाइओ,
बिरथा काहि गवावउ ॥[36]

२—हरि जसु रे मना गाई लै जो संगी है तेरो ॥
अउसरु बीतिओ जातु है,
कहिओ मान लै मेरो ॥[37]

३—हरि गुन काहि न गावही मूर्ख अगिआना ॥[38]

४—नानक भउजलु पारि परै जउ,
गावै प्रभ के गीत ॥[39]

वास्तव में इस संसार में भी वही नर सुखी कहा जा सकता है जो रामनाम के गायन में लीन रहता है, अन्यथा जगत तो माया मोह के जाल में ही बन्धा रहता है। गुरु जी ने कहा है :—

१—कहु नानक सोई नर सुखीआ,
राम नाम गुन गावै ॥[40]

२—जिह्वा गुन गोबिंद भजहु,
करन सुनहु हरिनाम ॥
कहु नानक सुन रे मना,
परहि न जम के धाम ॥ २१ ॥[41]

हरिनाम का गायन करने वाले को जम का त्रास सताता नहीं। इसी लिए वे अचेत मनुष्य को जगाते हैं कि तुझे यह मनुष्य योनि पुनः नहीं मिलेगी। इस लिए मुक्ति का कुछ उपाय कर। संसार सागर से पार उतरने का यही सरलतम साधन है कि जिस हरि के यश का गायन वेद पुराण कर रहे हैं तू भी उसी के स्मरण और गायन में लीन होकर अपना उद्धार कर ले।

१—बेद पुरान जास गुन गावत,
ता को नामु हीऐ मो धर रे ॥
पावन नामु जगति मै हरि को,
सिमरि सिमरि कलमल सभु हरु रे ॥ १ ॥
मानस देह बहुरि नह पावै,
कछू उपाउ मुकति का करु रे ॥
नानक कहत गाइ करुनामे,
भव सागर कै पारि उतरु रे ॥ २ ॥[42]

२—गुन गोबिंद गाइओ नहीं,
जनमु अकारथ कीन ॥
कहु नानक हरि भजु मना,
जिहि बिधि जल को मीन ॥ १ ॥[43]

पाद सेवन : भगवान और उनके भक्त-गुरमुख व्यक्तियों की सेवा, गुरद्वारे गमन, तीर्थयात्रा, तीर्थ स्नान आदि पाद-सेवन है। गुरमत दर्शन में गुरु सेवा का अद्वितीय महत्त्व कहा गया है। गुर-पूजा के द्वारा भक्त के हृदय में दास्य-प्रेम का आविर्भाव होने से वह मानसिक पाद-सेवन की कोटि तक पहुंच जाता है। इसी लिए गुरु जी कुमति से पूर्ण व्यक्ति को समझाते हुए कहते हैं :—

१—मन रे कउनु कुमति तै लीनी ॥
परदारा निंदिआ रस रचिओ,
राम भगति नही कीनि ॥ १ ॥
मुकति पंथु जानिओ तै नाहनि,
धन जोरन कउ धाइआ ॥
अंति संग काहू नहीं दीना,
बिरथा आपु बंधाइआ ॥ १ ॥
ना हरि भजिओ न गुर जनु सेविओ,
नह उपजिओ कछु गिआना ॥[44]

२—मन की मन ही माहि रही ॥
ना हरि भजे न तीरथ सेवे,
चोटी कालि गही ॥ १ ॥ रहाउ ॥[45]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त पद्यांशों में हरि भजन के अतिरिक्त गुरु जन सेवा एवं तीर्थ सेवन से मानव उद्धार की बात कही गई है। यदि मनुष्य इन्हें अपना ले तो उसे मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

अर्चन : अर्चन का अभिप्राय श्रद्धा-सहित प्रभु के स्वरूप की उपासाना 'अर्चन भक्ति' कही जाती है। गुरमत दर्शन में यद्यपि मूर्तिपूजा का निषेध है तथापि गुरु साहिबान के अनेक पदों में भगवान के विभिन्न अवतारों की स्तुति का वर्णन मिलता है। 'कन्हाई' और 'रघुनाथ' आदि के वर्णन में उन के स्वरूप का उल्लेख मिलता है। गुरु जी की दृष्टि में भगवान के विभिन्न स्वरूप—हरि, गोबिंद, राम, कृष्ण सब ही अर्चनीय हैं।

१—सगल जनमु विखिअनि सिउ खोइआ
सिमरिओ नाहि कन्हाई ॥[46]

२—कहु नानक इह बिपत महि,
टेक एक रघुनाथ ॥[47]

राम कृष्ण की अर्चना के अतिरिक्त उन्होंने गुरु की अर्चना पर भी विशेष बल दिया है। गुरमत में तो गुरु को ही अर्चनीय जान कर भोजन, वस्त्र, भूषण, माला आदि समर्पित किए जाते हैं।

वन्दन : 'वन्दन' का अर्थ प्रणाम, नमस्कार या स्तुति है। गुरु जी ने प्रभु के चरणों की वन्दना के लिए बार बार मन को सम्बोधित किया है। अचेत प्राणी को गुरु उपदेशानुसार गोबिन्द की वन्दना करने के लिए प्रेरित किया गया है।

मन रे गहिओ न गुरु उपदेसु ॥
....
रहिओ अचेत न चेतिओ गोबिंद,
बिरथा अउध सिरानी ॥
कहु नानक हरि बिरदु पछानउ,
भूले सदा परानी ॥ ३ ॥[48]

उक्त वन्दन और अर्चन दोनों प्रकार की भक्तियों से भक्त के हृदय की दास्य भावना की अभिव्यंजना होती है।

दास्य : भगवान को स्वामी और स्वयं को दास समझना 'दास्य भाव' कहलाता है। गुरु तेगबहादुर जी के आदर्श भक्त इसी मनःस्थिति की कामना करते हैं। गुरु जी ने एक श्लोक में इसका सुन्दर निरूपण किया है :—

सुआमी को गृहु जिउ सदा,
सुआन तजत नहीं नित ॥
नानक इह विधि हरि भजउ,
इक मनि हुइ इकि चिति ॥ ४५ ॥[49]

दास के हृदय में भगवत्कैंकर्य, दीनता एवं निःस्वार्थता होनी परम आवश्यक है। जैसे 'सुआन' अपने स्वामी के गृह को न त्याग कर उसकी सेवा करता है वैसे ही भक्त भी अपने इष्ट के द्वार को त्याग कर कहीं अन्यत्र आश्रय एवं पोषण-रक्षण पाने से संकोच करता है।

सख्य : इस भक्ति में आराध्य के प्रति सख्यभाव का प्राधान्य रहता है। गुरु तेगबहादुर जी की भक्ति भावना में अपने आराध्य के प्रति किसी प्रकार के प्रणय और मैत्री आदि के सम्बन्ध का उल्लेख नहीं मिलता है। वे तो उक्त 'दास्य भाव' को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अतः उनकी वाणी में सख्याभाव का निरूपण नहीं हुआ है। वैराग्य, दैन्य, विनय आदि के भावों से प्रेरित होकर उन्होंने जिन पदों की रचना की थी उन्हें हम शान्ता भक्ति विषयक पद कह सकते हैं। एक ओर उन के पदों में संसार के प्रति विरक्ति की भावना और संसार के नाना रूपों एवं व्यवहारों के प्रति तिरस्कार की भावना मिलती है तो दूसरी ओर भगवान की अनुकम्पा एवं भक्त-वत्सलता का वर्णन मिलता है। यथा :—

जगत मै झूठी देखी प्रीति ॥
अपने ही सुख सिऊ सभ लागे,
किआ दारा किआ मीत ॥ १ ॥ रहाउ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरो मेरो सभै कहत है,
हित सिउ बाधिओ चीत ।।
अंति कालि संगी नह कोऊ,
इह अचरज है रीति ।। १ ।।
मन मूरख अजहू नह समझत,
सिख दै हारिओ नीत ।।
नानक भउजलु पारि परै जउ
गावै प्रभ कै गीत ।। २ ।।[50]

ऐसी झूठी प्रीति के कारण ही उनकी वाणी में सख्य भाव का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। उनके विचार में दास्य भक्ति ही श्रेष्ठ है, क्योंकि इस में भगवान की महिमा और अपनी दीनता के प्रति सेवक के हृदय में जागरूकता पाई जाती है।

आत्म-निवेदन : उक्त झूठी सांसारिक प्रीति एवं संतापों से प्रपीड़ित मानव हृदय आत्मग्लानि से भर कर प्रभ को रक्षा के लिए पुकारता है। अपनी असहाय अवस्था को देख कर वह प्रभु को ही अपना सहायक मान कर उसके प्रति सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण करने के लिए विवश हो जाता है। उसकी ऐसी स्थिति को ही आत्म-निवेदन की संज्ञा दी जाती है। गुरु जी भी जब आत्म-बलिदान के लिए तत्पर हो उठते हैं तो सर्वशक्ति-सम्पन्न होते हुए भी प्रभु के प्रति आत्म-निवेदन करते हुए एवं गुरु गोबिन्द सिंह की परीक्षा हेतु निम्न श्लोकों का उच्चारण करते हैं[51] :—

बलु छुटकिओ बंधन परे कछु न होत उपाइ ।।
कहु नानक अब ओट हरि गजि जिउ होहु
सहाई ।। ५३ ।।
... ...
संग सखा सभि तजि गए,
कोउ न निबहिओ साथ ।।
कहु नानक इह बिपति महि,
टेक एक रघुनाथ ।। ५५ ।।[52]

ऐसे आत्म निवेदन के प्रत्युत्तर में गुरु गोविन्द सिंह ने राम नाम को ही एक मात्र संरक्षक बताया। ऐसे राम नाम से सम्पन्न प्राणी को किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं हो सकता। वह तो अकाल पुरुष को ही करनकरावनहार मान लेते हैं। इस तरह संसार में रहते हुए भी निर्भयपद को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे :—

रामनामु उरि महि गहिओ,
जा के सम नही कोइ ।।
जिह सिमरत संकट मिटै,
दरसु तुहारो होइ ।। ५७ ।।[53]

इस राम नाम की अनुपम महिमा का गायन ही उनकी वाणी का सर्वस्व है। इसी के स्मरण को उनकी भक्ति साधना का लक्ष्य कहा जा सकता है। प्रभु के इस नाम को प्रबोधित कराने वाला भी वह नाम ही तो है। इसी लिए आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी सभी प्रकार के भक्तों ने इसी को अपनाया है। योगी लोग भी इसी के बल पर जागृत रहा करते हैं[54]। यह राम नाम ही भवसागर से पार कर सकता है।

नाम स्मरणात्मक भक्ति : इस कलि काल में तो भगवान का नाम ही कल्पतरु के समान है। इसी के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति की जा सकती है। गुरु जी ने अजामिल, गज, गणिका, द्रौपदी, ध्रुव, नारद आदि के उदाहरण से इसी बात को सिद्ध किया है और इसकी वरदायक महिमा का आख्यान अपनी वाणी में किया है :—

१—अजामलु कउ अंतकाल में,
नारायन सुधि आई।[55]
२—गज की त्रास मिटी छिनहु महि,
जब ही रामु बखानो ।।[56]
३—जिह सिमरत गनका-सी उधरी,
ताको जसु उरि धारो ।।[57]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४—पंचाली को राजसभा में,
राम नाम सुधि आई ।।[58]

५—नारद कहत सुनत ध्रुव बारिक,
भजन माहि लिपटानो ।।[59]

इस नामस्मरण के मार्ग की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इस पर साक्षर या निरक्षर, धर्मात्मा या पापी सभी चल सकते हैं। परन्तु फिर भी इस सुगम मार्ग पर चलने के लिए कोई तत्पर नहीं होता। करोड़ों में कोई विरला इस ओर प्रवृत होता है।

जन नानक कोटन में कोउ,
भजन राम को पावै ।।[60]

भक्ति के कुछ अन्य साधन : भक्ति साध्य और साधन दोनों ही है। इस लिए कहीं उसे साधन के रूप में माना जाता है तो कहीं साध्य। कहीं उस के विभिन्न अंगों पर विचार करते हुए साध्य एवं साधन की एकता पर विचार किया जाता है। इस नाम स्मरणात्मक भक्ति के कुछ विशेष साधनों को गुरु जी की वाणी में प्राधान्य प्राप्त हुआ है।

वेद-पुराण-तीर्थ-सेवन : गुरु जी वेद पुराण का अध्ययन और तीर्थ सेवन आदि को भी मानव-कल्याण के लिए उचित समझते थे। परन्तु मानव-मन इसका अध्ययन और सेवन करने पर भी यदि नामस्मरण नहीं करता तो उस पथभ्रष्ट प्राणी को कौन समझाये :—

१—वेद पुरान साध मग सुनि कर,
निमख न हरि गुन गावै ।[61]

२—बेद पुरान पढ़े को इह गुन,
सिमरे हरि को नामा ।।[62]

३—बेद पुरान सिमृति के मत सुनि,
निमख न हीए बसावै ।।[63]

४—बीत जैहे बीत जैहे जनम अकाज रे ।।
निसि दिनु सुन कै पुरान,
समझियो नह रे अजान ।।[64]

बेद पुराण आदि ग्रंथों में उस प्रभु के यश का ही तो गान किया गया है। इस लिए मानव-मन को उनके अध्ययन से नामस्मरण में ही प्रवृत होना चाहिए जिस से वह इस दुःखमय भवसागर से पार उतर सकता है। इनका पठन-पाठन तो केवल साधन मात्र है, साध्य तो प्रभु का नामस्मरण ही है। इसी तरह तीर्थ-सेवन से यदि मन की चंचलता दूर नहीं होती तो तीर्थ सेवन भी व्यर्थ है। गुरुजी तीर्थ सेवन की महिमा कम नहीं करते परन्तु उनका साध्य राम नाम स्मरण ही है :—

१—तीरथ बरत अर दान करि,
मन महि धर गुमानु ।।[65]
नानक निहफल जात तिह,
जिहु कुंचर इसनानु ।।

२—कहा भइओ तीरथ ब्रत कीए,
राम सरनि नही आवै ।।[66]

३—तीरथ करै वरत फुनि राखै,
नह मनुआ बस जाको ।।[67]

अंहकार त्याग : इस राम नाम से विमुख हुए प्राणियों को उद्बोधित करते हुए वे उन्हें सांसारिक विषय विकारों एवं मिथ्या-स्नेह-सम्बन्धों की मृग तृष्णा के माया जाल से बचने का उपदेश देते हैं। ऐसे लोगों की दयनीय दशा पर द्रवीभूत होकर गुरु जी उन्हें अंहकार त्यागकर नामस्मरण की ओर प्रवृत करते हैं। पूर्ववर्ती गुरु साहिबान ने इस अंहकार को दीर्घ रोग[68] कहा था। सांसारिक जीवन में दुःख का मूल कारण ही अहंकार है। यदि कोई व्यक्ति इस अहंकार भावना को समझ ले तो उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वह प्रभु के 'भाणे' में विश्वास कर हर कार्य को करता है।

१—साधो मन का मानु तिआगउ ।।
कामु क्रोधु संगति दुरजन की,
ता ते अहिनिसि भागउ ।।[69]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२—पाप करत सुकचिश्रो नही,
नह गरबु निवारिश्रो ॥ २ ॥[70]

३—जिहि प्रानी हुउमै तजी, करता राम पछान ॥
कहु नानक वहु मुकति नर,
इह मन साचो मान ॥ १९ ॥[71]

४—गरबु करतु है देह को,
बिनसै छिन महि मीति ॥
जिहि प्रानी हरि जसु कहिश्रो,
नानक तिहि जगु जीति ॥ ४२ ॥[72]

५—कहु नानक सुन रे मना,
हरि भावै सो होइ ॥ ३९ ॥[73]

उक्त उदाहरणों में श्रहंकार के त्याग से ही मुक्ति की उपलब्धि हो सकती है ऐसा स्पष्ट किया गया है। देह के 'गरब' को भी श्रनुचित कहा गया है, क्योंकि यह तो नश्वर है। संसार में केवल हरि-यश के गायक को ही सम्मान मिलता है। श्रहंकारी पुरुष तो काम क्रोध श्रादि के ही वशीभूत रहता है। जब तक वह गुरु की शरण में नहीं जाता श्रौर राम नाम के महामन्त्र को प्राप्त नहीं करता तब तक वह इस संसार की यातनाश्रों को सहन करता ही रहता है। इसी लिए गुरुजी ने प्रभु की शरण में (श्रौर गुरु की शरण में) जाने के लिए मनुष्य को उपदेश दिया है—

१—हरि जू राखि लेहु पति मेरी ॥
जम को त्रास भइश्रो उर श्रंतरि,
सरनि गही कृपा निधि तेरी ॥
... ...
नानक हारि परिश्रो सरनागति,
श्रभै दानु प्रभ दीजै ॥[74]

२—कहि नानक श्रब नाहि श्रनत गति,
बिनु हरि की सरनाई ॥[75]

३—जउ सुख कउ चाहै सदा,
सरनि राम की लेह ॥
कहु नानक सुन रे मना,
दुरलभ मानुख देह ॥ २७ ॥[76]

सत्संग : गुरु जी ने सत्संग पर भी बहुत श्रधिक जोर दिया है। इसी के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार संभव बताया गया है। सज्जनों के संग से ही मनुष्य के हृदय में वैराग्य की भावना का श्राविर्भाव होता है। वह विवेक द्वारा धर्माचरण करता है। सत्संग के तीर्थ-राज में स्नान कर वह उज्ज्वलता को प्राप्त होता है। सत्संग ही प्रभु के नाम स्मरण के सच्चे भक्ति रस का रसिक बना देता है। इसी के द्वारा मनुष्य के हृदय में श्रद्धा एवं विश्वास मूलक नाम स्मरण की श्रोर रुचि होती है श्रौर उसके द्वारा प्रभु-प्रेम पल्लवित होता है।

१—करि साध संगति सिमरु माधो,
होहि पतित पुनीत ॥[77]

२—साधसंग कबहू नहीं कीना,
नह कीरति प्रभ गाई ॥[78]

३—तजि श्रभिमानु सरणि संतन गहु,
मुकति होहि छिन माही ॥[79]

सत्संग द्वारा ही श्रहंकार त्याग की भावना उत्पन्न होती है। जिस ने कभी सत्संग किया ही नहीं श्रौर न ही प्रभु कीर्ति का गायन ही किया है उसका जीवन व्यर्थ माना गया है। श्रत: सत्संगति द्वारा पतित व्यक्ति भी पुनीत हो जाता है। उसका जीवन भी सफल हो जाता है।

वैराग्य : गुरु जी ने श्रपने भक्ति निरूपण में वैराग्य की श्रावश्यकता पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित योग-मार्ग को उपयुक्त नहीं माना है। उनके पदों में भक्ति के समक्ष योग मार्ग की निरर्थकता प्रतिपादित है। वैराग्य योग-मार्ग का प्रधान साधन है, परन्तु गुरु जी वैराग्य को भक्ति का साधन मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

१—मन रे गहिश्रो न गुरु उपदेशु ॥
कहा भइश्रो जउ मूड़ मुडाइश्रो,
भगवउ कीनो भेसु ॥[80]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२—काहे रे बन खोजन जाई ॥
सरब निवासी सदा अलेपा,
तोही संगि समाई ॥[81]
... ...
जन नानक बिनु आपा चीनै,
मिटै न भ्रम की काई ॥

३—जोग जग निहफल तिह मानउ,
जो प्रभ जसु बिसरावै ॥ १ ॥
मान मोह दोनौ कउ परहरि,
गोबिंद के गुन गावै ॥
कहु नानक इह विधि को प्रानी,
जीवन मुकति कहावै ॥ २ ॥ २ ॥[82]

भक्ति के बिना जोग केवल अहंकार को उत्पन्न करता है। गुरु उपदेश के बिना बाह्य पाखंडवाद का दूरीकरण संभव नहीं है, अतः प्रभु यश गायन द्वारा ही प्राणी को वास्तविक रूप में जीवनमुक्ति की अवस्था की प्राप्ति होती है। वैराग्य द्वारा ही प्राणी इस अवस्था की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात न केवल उसे नाम धन की प्राप्ति होती है अपितु उस का हृदय समुद्रवत शान्त हो जाता है। उस समय वह मोह, माया और ममता के माया जाल से छूट जाता है। तभी उसे भक्ति की प्राप्ति होती है :—

माई मै धनु पाइओ हरिनाम ॥
मनु मेरो धावन ते छूटिओ,
करि बैठो बिसरामु ॥ १ ॥ रहाउ ॥
माइआ ममता तन ते भागी,
उपजिओ निरमल गिआनु ॥
लोभ मोह इह परसि न साकै,
गही भगति भगवान ॥ १ ॥[83]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गुरु जी की भक्ति-साधना का मर्म इस राम नाम के स्मरण में निहित है। गुरु जी ने व्यक्ति-कल्याण के साथ लोक-कल्याण करने वाले भक्ति मार्ग का उपस्थापन किया। उन्होंने लोकधर्म-विरोधी भक्ति-पद्धतियों का खरेपन के साथ विरोध किया। उन्होंने अपनी वाणी में भक्ति-रस की ऐसी जीवन-धारा प्रवाहित की जिस ने तत्कालीन जन-मानस को राम नाम की जीवन दायिनी शक्ति प्रदान की। उन्होंने इसी को मुक्ति-प्राप्ति का वास्तविक मार्ग बताया है :—

निज करि देखिओ जगतु मै को काहु को नाहि ॥
नानक थिर हरि भगति है,
तिह राखहु मन माहि ॥ ४८ ॥[84]

---

१. आदि ग्रंथ, श्लोक महला, ९, अंक ४४, पृ० १४२८
२. (क) गुरु प्रताप सूरज, राशि १०, अंशु ५२, अंक ३६, पृ० ३९६०
(ख) महिमा प्रकाश, साखी ४, अंक १७, पृ० ६४७
३. गुरु प्रताप सूरज, राशि ११, अंशु २, अंक ४०-४१, पृ० ३९८२
४. वही, राशि ११, अंशु ८, पृ० ४००३-११
५. वही, राशि ११, अंशु ३३, पृ० ४०९७
६. "भै काहू कउ देत नहि, नहि भै मानत आन"। आदि ग्रंथ, श्लोक, महला ९, अंक १६, पृ० १४२७
७. वही, रागु बिलावलु महला ९, दुपदे (३) पृ० ८३१
८. द्रष्टव्य : हिन्दी शब्द सागर, हिन्दी विश्वकोश आदि
९. पाणिनि : धातुपाठ, भ्वादिगण, पृ० १५, पं० ६
१० पाणिनि : अष्टाध्यायी, अ० ३, पाद ३, सूत्र ९४
११. (क) 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' : शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १.१.२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) 'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' : नारद भक्ति सूत्र २

१२. (क) गीता : अ० ६, श्लोक १३

(ख) श्रीमद्भागवत स्कं० ३. तथा अध्य० २५ श्लोक ३२-३३ तथा स्कं० २०, अध्य० २६, श्लोक १३-१५

(ग) विष्णु पुराण १,२०,१६

(घ) मधु सूदन सरस्वती : भक्ति रसायन १.३

१३. आदि ग्रन्थ : रामकली महला ६, त्रिपदे, पृ० ६०२

१४. स्व० स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते-विवेक चूड़ामणि-३२

१५. डा० उदयभानु सिंह : तुलसी दर्शन मीमांसा, पृ० २६८

१६. हरि भक्तिरसामृतसिन्धु—१.२.१ ।

१७. आदि ग्रंथ : रागु बिहागड़ा महला ६, पृ० ५३७

१८. वही सोरठि महला ६, पृ० ६३३

१९. वही, रागु गउड़ी महला ६, पृ० २१६

२०. वही, वही, पृ० २२०

२१. वही, श्लोक महला ६, पृ० १४२६

२२. डा० जयराम मिश्र : श्री गुरु ग्रंथ दर्शन, पृ० २८८

२३. हरि भक्ति रसामृतसिन्धु १.२—४

२४. भक्ति चन्द्रिका, पृ० १४८-५३

२५. नारद भक्ति सूत्र : ८२

२६. भागवत पुराण ७.५.२३ ।

२७. अध्यात्म रामायण ३.१०.२२-३१

२८. शिवपुराण २.२.२३/२२-२३

२९. ब्रह्म वैवर्तपुराण २.६३.१६-२०

३०. आदि ग्रंथ : सोरठि महला ६, पृ ६३२

३१. वही, वही, पृ० ६३१

३२. वही, रागु जैजावंती महला ६, पृ० १३५१

३३. वही, वही

३४. आदि ग्रंथ : मारु महला ६, पृ० १००८

३५. वही, रागु रामकली महला ६, त्रिपदे, पृ० ६०१/६०२

३६. आदि ग्रंथ : गउड़ी महला ६, पृ० २१६

३७. वही, तिलंग महला ६, काफी, पृ० ७२७

३८. वही, वही, पृ० ७२६

३९. वही, देवगंधारी महला ६, पृ० ५३६

४०. वही, गउड़ी महला ६, पृ० २२०

४१. वही, श्लोक महला ६, पृ० १४२७

४२. आदि ग्रंथ : गउड़ी महला ६, पृ० २२०

४३. वही, सलोक महला ६, पृ० १४२६

४४. वही, रागु सोरठि महला ६, पृ० ६३२

४५. वही, वही, पृ० ६३१

४६. आदि ग्रंथ : मारु महला ६, पृ० १००८

४७. वही, दोहरा, पृ० १४२६

४८. वही, सोरठि महला ६, पृ० ६३३

४९. आदि ग्रंथ : सलोक महला ६, पृ० १४२८

५०. वही, रागु देवगंधारी महला ६, पृष्ठ ५३६

५१. गुरु प्रताप सूरज, राशि १२, अंशु ६२, अंक २५-२८, पृ० ४४६०

५२. आदि ग्रंथ : दोहरा, महला ६, पृ० १४२६

५३. वही, वही, महला ६, पृ० १४२६

५४. डा० बलदेव प्रसाद मिश्र : 'तुलसी दर्शन', पृ० २६० (सं० २०१३)

५५. आदि ग्रंथ : रामकली महला ६, पृ० ६०२

५६. वही, बिलावलु महला ६, पृ० ८३०

५७. वही, सोरठि महला ६, पृ० ६३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५८. वही, मारु महला ६, पृ० १००८
५९. वही, बिलावलु महला ६, पृ० ८३०
६०. वही, गउड़ी महला ६, पृ० २१९
६१. आदि ग्रंथ : गउड़ी महला ६, पृ० २२०
६२. वही, वही, महला ६, पृ० २२०
६३. वही, सोरठि महला ६, पृ० ६३३
६४. वही, जैजावंती महला ६, पृ० १३५२-५३
६५. वही, सलोक महला ६, पृ० १४२८
६६. वही, बिलावलु महला ६, पृ० ८३०
६७. वही, वही पृ० ८३१
६८. 'हउमै दीरघु रोग है दारु भी इसु माहि' ॥ आसा की वार : एक सांस्कृतिक अध्ययन. पृ० ४३
६९. आदि ग्रंथ : गउड़ी महला ६, पृ० २१९
७०. वही, तिलंग महला ६. पृ० ७२७
७१. वही, श्लोक महला ६, पृ० १४२७
७२. वही, पृ० १४२८
७३. वही, वही ।
७४. वही, जैतसरी महला ६, पृ० ७०३
७५. वही, टोडी महला ६, पृ० ७१८
७६. आदि ग्रंथ : श्लोक महला ६, पृ० १४२७
७७. आदि ग्रंथ : सोरठि महला ६, पृ० ६३१
७८. वही, वही. पृ० ६३२
७९. वही, सारंग महला ६. पृ० १२३१
८०. वही, सोरठि, महला ६, पृ० ६३३
८१. वही, धनासरी महला ६, पृ० ६८४
८२. आदि ग्रंथ : बिलावलु महला ६, पृ० ८३१
८३. वही, बसंतु हिंडोल महला ६, पृ० ११८६
८४. वही, श्लोक महला ६, पृ० १८२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय
दयानन्द स्नातकोत्तर
महाविद्यालय,
आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश)

आधुनिकता का आरंभ बिन्दु* उपाध्याय पण्डित बदरी नारायण चौधरी —'प्रेमघन' की कविताएं

भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों में प्रेमघन का स्थान महत्वपूर्ण है। प्रेमघन एक समर्थ तथा मेधावी लेखक थे। उनकी कविताओं को सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है :

१—प्रबन्धकाव्य,

२—ऐसी कविताएं जिनमें रीतिकालीन काव्य-परम्परा का निर्वाह किया गया है,

३—राजभक्ति तथा देश-भक्ति प्रधान कविताएं,

४—युगीन यथार्थ का चित्रण करने वाली कविताएं ; तथा

५—जातीय-संगीत-विभिन्न विषयों पर समय समय पर लिखे गये गीत।

यहां प्रेमघन की उन प्रमुख कविताओं का ही विवेचन प्रस्तुत है जो आधुनिक संवेदना के निकट हैं या जिनमें आधुनिकता का दर्शन होता है।

१—प्रबन्ध काव्य : "जीर्ण जनपद अथवा दुर्दशा दत्तापुर :—

"जीर्ण जनपद" शीर्षक कविता की प्रेरणा प्रेमघन को गोल्ड स्मिथ के 'डेजर्टेड विलेज' से प्राप्त हुई।[1] परन्तु "जीर्ण जनपद" गोल्ड स्मिथ से अधिक कवि के गांवों के निकट है।[2] वर्णनात्मक शैली में लिखी गयी इस कविता में, कवि का अपनी जन्म-भूमि के प्रति अनुराग प्रकट है। परन्तु उससे भी महत्वपूर्ण है—दत्तापुर की प्राचीन और वर्तमान दशाओं का चित्रण। नये जमाने में हुए परिवर्तनों तथा मूल्यों का यथार्थ-परक चित्रण, इस कविता को आधुनिक हिन्दी कविता में ऐतिहासिक महत्व प्रदान करता है। आधुनिक हिन्दी कविता की प्रगति के दौरान, गांवों के चित्रण तथा आंचलिकता की प्रवृत्ति का बीज इस कविता में देखा जा सकता है। कविता में दत्तापुर की 'पूर्वदशा' में अगणित जीवन स्थितियों, दैनन्दिन जीवन की घटनाओं तथा दृश्यों और वर्तमान दीन दृश्य तथा नये मूल्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। कविता हास्य, व्यंग्य-प्रधान चित्रों से भरी-पड़ी है। 'कचहरी-दीवान' में मुंशियों के प्रधान कायस्थ का चित्र इस प्रकार हैं :—

तिन सबको प्रधान कायथ इक बैठ्यो मोटो।
सेत केस कारो रंग कछु डीलहु को छोटो ॥[3]

अति व्यभिचारी वैष्णव तथा रिश्वतखोर लाला के चित्र इस प्रकार हैं :—

पूजा करत देर लौं बनत वैष्णव भारी।
पढ़ि रामायन रोवत है पै अति व्यभिचारी ॥
बिन पाये कछु नजर मिलावत नजर न लाला।
लाख बीनती करा बतावत टालै बाला ॥[4]

अंग्रेजी राज्य में गरीब जनता के लिये दुर्लभ न्याय, कुशाग्र-बुद्धि वकीलों की कला से सच का झूठ और झूठ का सच बन जाना, आर्थिक प्रलोभन-वश झूठी गवाही, न्याय मांगने वाली जनता की तबाही के दृश्य कवि की आंखों से ओझल नहीं हो पाये हैं।[5]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि के अनुसार वर्तमान जीवन-क्रम में होने वाले विविध परिवर्तनों तथा विघटन का मूल कारण है-अंग्रेजी राज्य :—

शान्त राज अंगरेजी ज्यों २ फैलत आयो।
सबै पुरानौ रंग बदलि और ढंग ल्यायो ॥[6]

विगत मूल्यों, जीवन-रीतियों के विघटन के कारण कवि का मन ग्लानि से भर जाता है। जीवन के नये परिवर्तनों ने जनता की सुख-शान्ति छीन ली है, सर्वत्र दरिद्रता, कलह, मुकदमेबाजी का बोल-बाला है। 'जन-अधिकारी' स्वार्थी तथा लोभी हो गये हैं और अपना धर्म छोड़कर जनता का शोषण करने में लगे हुये हैं :—

भये स्वार्थी जब सों पिछले जन अधिकारी।
भरे ईर्षा, द्वेष, अनीति विरत, अविचारी ॥
करने लगे जब सों अन्याय सहित धन अरजन।
भूलि धर्म, करि कलह, स्वजन परजन कहं पेख ॥
होन तबहिं सो लगी दीन यह दसा भयावनि।
देखे पूरब दसा लोग मन भय उपजावनि ॥[7]

गाँव उजड़ते चले गये, अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग खेती को हीन दृष्टि से देखने लगे, फैशन-परस्ती के कारण, उनमें कड़ी मेहनत करने की शक्ति भी नहीं रही और न तो नौकरी ही मिलती। अंग्रेजी शिक्षा से लाभान्वित होने की जगह, अपनी गलत दृष्टि के कारण, नवयुवकों ने अपनी बरबादी के ही बीज बोए।

ढढ़त फिरत नौकरी जो नहिं कोउ बिधि पावत।
खेतीहू करि सकत न, दुख सों जनम बितावत।
चले कुदारी तिहि कर किमि जो कलम चलायो।
उठे बरकला छन तिन सों किमि जिन पढ़ि पायो।
अंगरेजी पढ़ि राजनीति यूरप आजादी।
सीखि, हिन्द में बसि, निरख्यो अपनी बरबादी ॥[8]

अन्त में, कवि यह कामना करता है कि सर्वत्र समाज में सद्धर्म, न्याय तथा सदाचरण की प्रतिष्ठा हो तथा,

होय देश यह पुनरपि सुख पूरति पूरबवत।
भारत के सब अन्य प्रदेसन पाहिं समुन्नत ॥[9]

उपर्युक्त पंक्तियां कवि की निर्मल देश भक्ति का ही केवल परिचय नहीं देतीं अपितु देश की अखंडता तथा सभी प्रान्तों की समान उन्नति का एक बड़ा स्वस्थ आदर्श प्रस्तुत करती हैं। वर्तमान समय में देश में संकीर्ण प्रान्तीयतावाद, भाषावाद आदि की जो लहर उठी है, उसका खंडन भी सहज ही हो जाता है। प्रेमघन ने प्रस्तुत कविता में जिन परिस्थितियों और समस्याओं का चित्रण किया है, आज के संदर्भ में भी उतना ही सच है, जितना कि वे प्रेमघन के समय में सच रही होंगी।

२—राजभक्ति तथा देश-भक्ति प्रधान कवितायें :

(१) राजराजेश्वरी जयति में महारानी विक्टोरिया के राजराजेश्वरी होने पर कवि हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करता है :

सुनि अभिषेक राज राजेश्वरि चित मुद मंगल सानहु।
भारथ सुदिन बीज या छन सों जामों यहु मन आवहु ॥[10]

तथा मुस्लिम शासन के स्थान पर भारत में 'ब्रिटिश राज' की स्थापना करने के लिये विक्टोरिया की प्रशंसा करता है—

जब करूणानिधि आपु हरि ह्वै कै महा अधीर।
नासि यवन राजहिं हर्यो प्रजा दुसह दुख पीर ॥
ब्रिटिश राज थाप्यो सुदृढ़ भारत खंड मझार।
न्याय प्रकास्यो रवि सदृश हरि दुख दुसह विकार ॥[11]

(२) हार्दिक हर्षादर्श : "महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबिली पर विरचित इस कविता में कवि इस्लामी शासन काल में भारत की अधोगति का चित्रण करता है तथा 'ब्रिटिश क्राउन' द्वारा भारत का शासन सूत्र संभाले जाने पर महारनी विक्टोरिया के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है—

धन्य ईसवी सन् अठारह सौ अट्ठावन।
प्रथम नवम्बर दिवस सितासित भेद मिटावन ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभय दान जब पाय प्रजा भारत हरषानी।
अरु लहि तुमसी दयावती माता महरानी ॥[12]

महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा में कवि कहता है

विक्टोरिया महारानी तुव सम नृपति ना ॥[13]

विक्टोरिया के शासन-काल में भारत की बहु-मुखी उन्नति—स्वच्छ प्रशासन, शांति, सुरक्षा, रेल, डाक, तार, अस्पताल, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों की स्थापना, विद्युत, सड़क, आवागमन के साधनों के विकास के लिये कवि महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा करता है :

या बहु भांतिन करि भारत उन्नति मनभावनि ॥
तब उन्नति अपनी कीनी तुम हिय हरषावनि ॥[14]

पर साथ ही कवि इस बात के लिये चिन्ता व्यक्त करता है कि चतुर्दिक उन्नति के बावजूद भारत में दीनता बढ़ती जा रही है, तथा दिन प्रतिदिन सम्पति क्षीण होती जा रही है, और—

मंहगी बढ़तहि जात, घटत है अन्नभावनित।
जाते कोऊ सुख सामग्री नहिं सुहात चित ॥[15]

अन्त में कवि कामना करता है कि :

उमड़े भारत में सुख, सम्पति, धन, विद्या, बल।
धर्म्म, सुनीति, सुमति, उछाह, व्यापार, ज्ञान भल ॥[16]

३—**भारत बधाई:** (सम्राट श्री सप्तम एडवर्ड के भारत साम्राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर) शीर्षक कविता में कवि भारतीयों की राज भक्ति का परिचय देता है—

... ...

राज भक्त भारत सरिस और ठौर कहूं नाहिं।[17]

तथा अंग्रेजी राज्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। इस कविता के अन्त में भी पूर्वोक्त कामना की गयी है।

४—**आर्याभिनन्दन :** प्रिन्स आफ वेल्स के भारत आगमन पर स्वागतार्थ विरचित प्रस्तुत कविता में भी कवि भारतीयों की राजभक्ति[18] का परिचय देता है।

यह कविता प्रेमघन की समृद्ध सांस्कृतिक चेतना का प्रमाण प्रस्तुत करती है। भारत के विगत वैभव, अतीत की समृद्धि की समाप्ति पर कवि हार्दिक दुःख प्रकट करता है। अंग्रेजी शासन में भारत ने उन्नति जरूर की, अनेक भव्य नगरों का निर्माण हुआ, परन्तु कवि को सबसे बड़ा कष्ट इस बात का है कि

"कहूं न लखि परत भारत छवि प्राचीन ॥[19]

भारत में भारतीयता का लोप हृदय को कचोट जाता है—केवल

सबै बिदेसी बस्तु नरगति रति रीति लखात।[20]
और
... ...
भारतीयता कुछ न अब भारत में दरसात ॥[21]

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अंग्रेजियत के अन्धानुसरण की प्रवृत्ति को घातक मानकर, कवि उसकी भर्त्सना करता है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि-

"अंग्रेजी गुन गन्ध नहि प्रविसि इन हिय माहिं।[22]

साम्राज्ञी विक्टोरिया द्वारा दिये गये सुधार-आश्वासनों की ओर भी कवि युवराज का ध्यान आकृष्ट करता है। कविता के अन्त में यह कामना की गयी है कि–

सब द्वीप की विद्या, कला, विज्ञान, इत चलि आवई।
उद्यमनिरत आरज प्रजा, रहि सुख समृद्ध बढ़ावई ॥[23]

५—**सौभाग्य समागम** "अथवा श्री पंचम जार्ज के दिल्ली में साम्राज्याभिषेक पर बधाई और स्वागत सम्बन्धी कविता"[24] में कवि ने सम्राट का स्वागत किया है तथा अंग्रेजों की प्रशस्ति गायी है। कविता का अन्त भी पूर्वोक्त कविता की ही भांति होता है।

६—प्रेमघन के एक गीत[25] में भी अंग्रेजी राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रशंसा की गई है। उक्त गीत में कवि लार्ड रिपन की जय-जयकार मनाता है तथा भारत-वासियों से आलस्य त्याग कर सर्वतोमुखी उन्नति करने का आग्रह करता है—

भारत माता के उर उन्नति,
आशाधीर धराओ।
श्रीयुत लाट रिपन प्रभुवर की
जयजयकार मनाओ।।"[26]

३—युगीन यथार्थ का चित्रण करने वाली कविताएँ :

१—"कलिकाल तर्पण" शीर्षक कविता में कवि भारतीयों की दीन दशा का वर्णन करता है। कविता का मुख्य वर्ण्य-विषय यह है कि मुसलमानों के आक्रमणों से भारत के जन, धन तथा सम्मान की अपूरणीय क्षति हुई। देवी-देवता तथा ईश्वर भारतीयों की दुर्दशा मौन भाव से देखते रहे और

उमड़यो रुधिर समुद्र तमाम, भये तबौ नहिं तृप्यन्ताम।।[27]

जब भारत वासी स्वयं दीन-हीन और अतृप्त हैं तो कैसे वे देवी-देवताओं को तृप्त कर सकते हैं ?

दुखी यहां के नर औ बाम। देयं कहा तुमको आराम।।
अब अतृप्त आवै सब जाम। करै तृप्त किमि तुमहि अवाम।"[28]

कवि देवी-देवताओं से पूछता है—

रह्यो कहां तुम तबै लुकान। जब इन चढ़े यवन मुगलान।।[29]

कवि अनुमान करता है कि शायद भारतवासियों को पशुओं से भी अधम जान कर ईश्वर मौन हो गया है या तो वह वृद्ध और बलहीन हो चुका है।[30]

कवि की प्रश्न-दृष्टि में नूतन चेतना का प्रतिफलन सहज ही देखा जा सकता है।

२—पितर-प्रलाप में प्राचीन महापुरुषों का बड़े आदर के साथ स्मरण किया गया है। समाज के विगत स्वरूप तथा वैभव के प्रति कवि के मन में श्रद्धा उमड़ पड़ती है। भारत की वर्तमान दुर्दशा देखकर मृत्युलोक में आये हुए पितरगण शोकाकुल और क्षुब्ध हो जाते हैं —

आये जो ये पितरगन, भरतखण्ड के बीच।
देखि यहां की दुख दशा, सुकचिकिये सिर नीच।।[31]

कवि भारत की पतित अवस्था का चित्रण करता है। पतन के अनेक कारण हैं—प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में अविश्वास तथा उसका विघटन,[32] भारतवासियों की स्वधर्म विमुखता, नास्तिक्ता,[33] ईश्वर कोप,[34] आलस्य, उद्योगहीनता और युगानुरूप अपने को ढालपाने की अक्षमता[35]। परन्तु देश की वर्तमान दुरवस्था के प्रमुख कारण हैं—पराधीनता तथा आर्थिक शोषण :—

ढोवत सिर नीचे किये, सदा बोझ दासत्व।
भूलि गये ये आपनो, अगिलो हाय महत्त्व।।
टिकस नाग तापै डंस्यौ, एकएक को टोय।
कैसे बचे न पास जब, शक्ति औषधी होय।[36]

कविता में व्यंग्य-चित्रों से अतिरिक्त सजीवता आ गयी है। एक मूर्ख तथा आडम्बरी ब्राह्मण का चित्र देखिये—

आवै जायन मन्त्र कछु, पढ़े लिखे है नाहिं।।
धरू पैसा धरू दच्छिना, इतनो बोलत जाहिं।।
केवल उपरोहित नहीं, सांचे अरथ समान।।
खान पान अरु दान मिसि, मूड़त सिर यजमान।।[37]

दही बेचने वाली "ग्वालिन गूजरी" का चित्र इस प्रकार है—

काजर रेख भरे बड़े, नैनन रही गुरेर।
सब बजार सों भाव में, बेचत कम एकसेर।।[38]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि के ऊपर प्राचीन संस्कारों की छाप स्पष्ट ही देखी जा सकती है। पर यह भी सच है कि कवि भारत की प्रगति चाहता है तथा धर्म के क्षेत्र में व्याप्त अनैतिकता और आडम्बरों का विरोध करता है।

३—होली की नकल या मोहर्रम की शकल (इन्‌कम-टैक्स के लगने पर लिखित) : कविता अपने तेवर और मिज़ाज में भारत के आर्थिक शोषण के प्रति विद्रोह का स्वर है। कवि ने अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण का बड़ा सजीव चित्र अंकित किया है। शोषण के विभिन्न माध्यम हैं—मालगुजारी, कुरकी, चुंगी और सबके ऊपर इनकम-टैक्स।[39] इनके अलावा हाकिमों की रिश्वतखोरी[40] तथा न्याय मांगने वाली निर्धन जनता की हाकिमों द्वारा सांसत ने सामान्य जनता का जीवन दूभर बना दिया। मेहनत कश जनता अपनी सारी कमाई अंग्रेजों को अर्पित कर देने के लिये विवश कर दी जाती रही। कवि ने बड़े साहस के साथ दो-टूक बात कही है—

लूटि विलायत भारत खाय। माल ताल बहु
विधि फैलाय॥
... ...
देसी माल न इहां बिचाय। घाटा भारत के सिर
जाय॥[41]
... ...
करे हाकिमी गोरा जाय। खर्चा भारत सीस
बिसाय॥[42]

४—मंगलाशा : दादाभाई नौरोजी के ब्रिटिश पार्लियामैण्ट का मैम्बर चुने जाने पर लिखी गई इस कविता में कवि उक्त घटना को "भावी मंगल का प्रतीक' मानता है[43] और इस विषय पर मिश्रित प्रतिक्रिया व्यक्त करता है- क्योंकि,

भारत को धन राज लियो औरे अंगरेजन।
पैं निश्चय यह सबकों लीन्बों तुमहि आज
मन॥[44]

कविता में काले और गोरे की समस्या पर भी कवि ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस विभेद को कवि कृत्रिम और अमानवीय मानता है। दादाभाई नौरोजी के लिये प्रयुक्त 'काला' सम्बोधन, कवि की दृष्टि में नितान्त अपमानजनक है। कवि बड़ी निर्भीकता से अपनी खीझ प्रकट करता है। प्रस्तुत कविता का यही मुख्य स्वर है—

कारन सो गोरन की घिनको नाहिन कारन।
कारन तुमहीं या कलंक के करन निवारन॥
कारन हीं के कारन गोरन लहत बड़ाई।
कारन ही के कारन गोरन की प्रभुताई॥[45]

कविता में दूसरा स्वर देश-भक्ति का है।[46] ब्रिटिश राज्य में प्राप्त "ज्ञान विद्या, नव उन्नति[47] के प्रति कवि कृतज्ञता ज्ञापित करता है तथा लिबरल दल की प्रशंसा करता है।[48]

५—भारत की आठवीं जातीय सभा, प्रयाग में आये हुए प्रतिनिधियों की सेवा में विरचित "स्वागत पत्र"[49] शीर्षक कविता में सभा के प्रतिनिधियों से जाति तथा देश की दीनता और हीनता की समाप्ति के लिये, आपस का बैर-भाव आदि त्याग कर, उत्साहपूर्वक उद्योग करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[50]

६—आनन्द अरुणोदय प्रेमघन की खड़ी बोली की रचना हैं। इस कविता के माध्यम से कवि भारतवासियों को सम्बोधित करता है तथा उन्हें कर्त्तव्य का बोध कराता है। उन के मन में स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग जगाता है[51] और उनसे "ब्रिटिश राज्य स्वपन्त्र्यमय"[52] में व्यर्थ समय न गंवाने का आग्रह करता है। वह भारतवासियों को आलस्य त्यागकर चतुर्दिक उन्नति करने के लिये प्रेरित करता है। भारत-वासियों की हीन दशा का कारण है—वैदिक धर्म से विमुख हो जाना—

वैदिक सत्यधर्म तजकर मनमाने मत प्रगटाये।
कृषि त्रिकालदर्शी गन के उपदेश भूल दुख पाये॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णाश्रम गुण कर्म्म स्वभाव विरुद्ध चाल चलने से।
बने दीन तुम धर्म्म सनातन की सम्मति टलने से ।।[53]

प्रेमघन सदाचार मूलक उन्नति पर बल देते हैं ।[54] सत्य और धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारवादी है।[55] उनके मत में धर्म के नाम पर कलह और विद्वेष अविवेकपूर्ण हैं, सभी धर्म सत्य-मार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं, ईश्वर एक है, वही सबका आराध्य है, वेद धर्म का मूल ग्रन्थ है। प्रेमघन वर्णाश्रम धर्म का पालन करने, लोक-परलोक एक साथ साधने[57], श्रौतस्मार्त कर्म्म अनुशासन के अनुसरण,[58] नई पुरानी दोनों प्रकार की विद्यायें तथा दोनो प्रकार के विज्ञान सीखने[59] शिल्पकला की सम्यक उन्नति[60] तथा निज व्यापार ...प्रसार[61], आवश्यक समाज संशोधन,[62] और राज अर्थ और धर्म्म नीति के एकीकरण[63] पर बल देते हैं।

इस प्रकार कवि परम्परा से जुड़ा रहना चाहता है परन्तु 'अन्ध-परिपाटी'' तर चलते रहने को अविवेकपूर्ण भी मानता है।

प्रचलित हाय अन्धपरिपाटी पर तुम चलते जाते।''[64] कवि की हार्दिक अभिलाषा है कि–

आर्य्य जाति का हो अभ्युदय भूमि भारत पर।
... ...
एकता धीरता प्रेमघन देशभक्ति स्वाधीनता।
हरि वैर फूट अन्याय संग हरे, दोष दुख दीनता ।।[65]

४—प्रेमघन का गीत काव्य :

जातीय गीत :

काव्य-रचना के अतिरिक्त प्रेमघन ने विभिन्न लयों में गीत भी लिखे हैं। भाव-व्यंजना तथा हास्य और व्यंग्य की दृष्टि से, उनके गीत भी बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। 'एंग्लो हिन्दुस्तानी भाषा' शीर्षक विनोद परक सामाजिक गीत में अंग्रेजियत के अन्धानुसरण तथा फैशन-परस्ती का अच्छा मजाक उड़ाया गया है।[66]

'स्थानिक ग्राम्यस्त्री भाषा' में लिखे गये गीतों में 'बाल्यविवाह'[67] 'अनमेल विवाह'[68] 'बालावृद्ध विवाद'[69] जैसी सामाजिक कुरीतियों के दोष दिखलाये गये हैं। जातीय गीतों में स्वदेश दशा का वर्णन किया गया है। इन गीतों में कवि अतीत का स्मरण करता है, वर्तमान की दुर्दशा के कारणों पर प्रकाश डालता है तथा भारतीयों को उन्नति करने, सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करता है।[70]

''स्वदेश बिन्दु'' का जातीय गीत देश-भक्ति प्रधान है।[71] दो गीतों में भारत के प्राचीन महापुरुषों तथा विदुषी स्त्रियों के यश और कीर्ति[72] का वर्णन किया गया है। ''स्त्रियों की कीर्ति शीर्षक गीत स्त्रियों के लिये उद्बोधन है।'' 'चरखे की चमत्कारी' पर लिखे गये दो गीतों[73] में स्वदेशी और स्वतंत्रता के प्रति अनुराग और अभिरुचि जगाने का संकल्प स्पष्ट है। 'सत्य आग्रह', 'असहयो' 'हिन्दु मुसलिम एकता' पर लिखे गये अंतिम गीत[74] में भारत में नये तरह की होली और नये वातावरण का चित्रण किया गया है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि का संकल्प और उसकी साध द्रष्टव्य है—

चले स्वराज राह ताकि तजि भय,
सकल विघ्न तृण छोली।
विजय पताका लै महातमा गांधी घर घर डोली।[75]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रेमघन की नयी शैली की रचनाओं में नये विषयों का निर्वाह सफलतापूर्वक हुआ है। उपर्युक्त रचनाओं में प्रेमघन की आधुनिक दृष्टि का यथेष्ट प्रमाण मिल जाता है। प्रेमघन ने यदि अतीत के प्रति आदर-अनुराग दिखाया है तो युगीन यथार्थ के चित्रण के माध्यम से समसामयिकता के दबाव को भी उन्होंने स्वीकार किया है और उसे भी चित्रित किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगीन संदर्भ में राज- भक्ति को असंगत नहीं ठहराया जा सकता। प्रेमघन की रचनाओं में सबसे प्रमुख स्वर देश-भक्ति का है। यह देश-भक्ति महज सैद्धान्तिक नहीं है, अपितु उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है, जिसके अन्तर्गत देश और समाज के नये सिरे से निर्माण के संकल्प और समाजसुधार की आकांक्षा का स्थान है। प्रेमघन की काव्य-संवेदना का धरातल विस्तृत है। इन कविताओं में जन-सामान्य के आर्थिक शोषण के प्रति तीव्र आक्रोश की अभिव्यक्ति के साथ सफल और सार्थक व्यंग्यों का भी बड़े सधे ढंग से प्रयोग मिलता है। प्रेमघन में परम्परा के नितान्त तटस्थ विश्लेषण का अभाव, भले ही कुछ विद्वानों को खटके, लेकिन परम्परा की जांचने-परखने की प्रवृत्ति तथा अतीत और वर्तमान के प्रति तुलनात्मक दृष्टि का प्रेमघन में अभाव भी नहीं है। उनमें पुराने और नये (जिसका उद्घाटन अंग्रेजी संपर्क के कारण हुआ) के समन्वय की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है।

प्रेमघन की भाषा

भारतेन्दु की काव्य-भाषा के संदर्भ में हम यह कह चुके हैं कि उनकी भाषा नूतन विचारों को वहन करने में सक्षम है। भाषा प्रयोग में नूतनता, भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में पायी जाती है। प्रेमघन की भाषा में स्पष्टता, स्वाभाविकता और सजीवता के गुण विद्यमान हैं। प्रेमघन की ब्रजभाषा की कविताओं में ठेठ शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है:
उदाहरणार्थ :

रोओ सब मुंह **बाय बाय**।
हय हय टिक्कस हाय।
रोज कचहरी धाय धाय।
अमलन के ढिग जाय जाय।।[76]
... ...
रोकड़ जाकड़ ल्याय ल्याय।
लेखा बही मिलाय आय।
घर घाटा दिखलाय हाय।
उजुर माजरा गाय गाय।।[77]
... ...
अक्की बक्की गई भुलाय।
इनकी ईश्वर करो सहाय।[78]

'हास्यबिन्दु' की हास्य-प्रधान कवितायें स्वयं में भाषा की नवीन भंगिमा का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। हास्य बिन्दु के एक भजन में अंग्रेजी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग हुआ है :—

एक समय रूसा के मन्दिर,
नोकराज महाराज सिधारे।
शेक हैंड कै तुरत सूस जी,
ईजी चेर पर ले बैठारे।
आइस मिश्रित **सोड़ा वाटर**,
भरि **टमलर** दै **चुरुट** विकारे।
सुलगायो घंसि **मैच** बिहसि कहि,
इक प्याली **टी** पीऊहुकारे।
ब्रेक फास्ट पुनि **टिफिन** खाय,
अरु **डिनर** चाभि श्रम सकल बिसारे।
आज भये कृत कृत्य देखि प्रभु,
तुमहि भाग निज गुनि बहु मारे।[79]

इसी प्रकार एंग्लो हिन्दुस्तानी भाषा के एक गीत की कुछ पंक्तियों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग देखते ही बनता है :—

चुसह **चुरुट** लाख,
पर लागत पान बिना मुंह सून।। सां० गो०।।
अच्छर चारि पढ़ेहे अंगरेजी,
बनि गया अफलातून।। सां० गो०।।
मिलहि मेम तोहै कैसे,
जेकर फेयर फेस लाइक दी मून।। सा० गा०।।
बिस्कुट, केक कहां तूं पैव्यः,
चायः चना भलें भून।। सां० गो०।।
डियर प्रेमघन **हियर** दया कर,
गीत न गावो लैम्नम्।। सां० गी०।।[80]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह इस युग की भाषा विषयक सन्तुलित और उदार दृष्टि का प्रमाण है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त प्रेमघन ने मंजी हुई खड़ी बोली में भी काव्य–रचना की।

'मन की मौज', 'आनन्द अरुणोदय' तथा 'मयंक महिमा' प्रेमघन की खड़ी बोली की रचनाएं हैं। उस युग में खड़ी बोली में काव्य रचना बड़े साहस का काम था। जिस प्रकार प्रेमघन ने परंपरित तथा नये विषयों के लिये ब्रजभषा का कुशल प्रयोग किया, उसी प्रकार खड़ी बोली में भी उन्होंने पुराने और नये दोनों प्रकार के वर्ण्य विषयों का बड़ी खूबी और सफाई से निर्वाह किया है।

यह केवल संयोग की बात नहीं कि भारतेन्दु और प्रेमघन की अधिकांश कविताओं में बार-बार अतीत का आदर पूर्वक उल्लेख किया गया है; प्राचीन महापुरुषों, विगत वैभव और अपनी सांस्कृतिक मर्यादा का स्मरण किया गया है। और न तो यही कहा जा सकता है कि इन कवियों के पास कहने लायक कुछ नहीं था या इन्होंने केवल प्राचीनता की दुहाई दी है। सच बात तो यह है कि इन कवियों की दृष्टि समन्वयवादी थी। इस युग के कवि यह अच्छी तरह जानते थे कि केवल अतीत के गीत गाने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में अतीत के प्रति आदर–अनुराग और आत्म सम्मान का भाव नहीं जगाया जा सकता था। अतीत से कटकर कोरी सामयिक और भौतिक उन्नति की बात करना भी अविवेकपूर्ण और एकांगी था। जिस समाज की जड़ें गहराई में होती हैं वही समाज वास्तविक उन्ननि कर सकता है। इसलिये इन कवियों ने यदि एक ओर अतीत का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया तो दूसरी ओर युगीन यथार्थ का भी बड़ी निर्भीकता से चित्रण किया।

इस युग के कवियों पर आर्य समाज की विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा। लेकिन प्रेमघन की कविताओं में यह प्रभाव अधिक मुखर और स्पष्ट है। प्रेमघन की कविताओं का विवेचन यथास्थान किया जा चुका है। प्रेमघन की "आनन्द अरुणोदय" शीर्षक कविता उपर्युक्त कथन को पुष्ट करने के लिये पर्याप्त है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का लक्ष्य था वैदिक धर्म का पुनरुत्थान। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर एक है, तथा सच्चा ईश्वरीय ज्ञान वेदों में सुरक्षित है। इसलिये वेदों को उन्होंने प्रमाण माना, वेद विहित मार्ग पर चलने का आदेश दिया तथा सदाचार और शुद्धता पर विशेष बल दिया। स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में आर्य समाज ने समाज सुधार पर विशेष बल दिया। सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन की दिशा में सराहनीय कार्य किये गये। दयानन्द ने शिक्षा को युगीन संदर्भों के अनुरूप बनाया। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से लाभान्वित होने की दृष्टि से, शिक्षा के व्यापक प्रसार के लिये स्थान-स्थान पर विद्यालयों की स्थापना की गयी। "आनन्द अरुणोदय" शीर्षक कविता में प्रायः उपर्युक्त सभी आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रभाव दृष्टव्य है। विस्तार भय से 'आनन्द अरुणोदय' या प्रेमघन की कविताओं का पुनर्विवेचन अभीष्ट नहीं है। फिर भी इतना संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आर्य समाज की विचारधाराओं के मेल में ही प्रेमघन ने बहुत स्पष्ट स्वरों में यह घोषित किया कि "वैदिक सत्य धर्म्म"[81] को छोड़ देने तथा "ऋषि त्रिकालदर्शी गन के उपदेश"[82] भूल जाने के कारण भारतवासियों को दुःख भोगना पड़ा। धर्म के नाम पर आपस के कलह, वैर, द्वेष तथा धर्म की ओट लेकर स्वार्थसाधना की प्रवृति को उन्होंने निन्दनीय ठहराया और क्षमा, सत्य, धृति, दया, शौच, अस्तेय, अहिंसा, शम, दम, तितिक्षादि यम, नियम[83] के त्याग को कष्टप्रद बताते हुये उन्होंने इन के आचरण पर बल दिया।

प्रेमघन ने समाज में व्याप्त अंध-विश्वास की निंदा की तथा मूर्तिपूजा का खंडन किया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है मिथ्या विश्वास,
तुम्हारे मन में इतना छाया।
ढूहों और कबरों पर भी जा,
मस्तक हाय नवाया।[84]

निम्नलिखित उद्धरण में "नवीन धर्म्म" के नाम पर ईसाइयत का विरोध बहुत साफ है—

नित्य नवीन धर्म्म पर रचकर,
ढग तुमको बहकाते।
स्वर्ण छोड़ तुम राख राशि,
लेकर प्रसन्न दिखलाते।[85]

प्रेमघन ने भी यह विश्वास व्यक्त किया कि सबका आराध्य ईश्वर एक है तथा वेद ज्ञान के मूल हैं—

जगदीश्वर आराध्य देवता,
सबका है वही एकी।
मूल धर्म्म का ग्रन्थ वेद,
सबका जब एक विवेकी॥
समझो तब कैसा विरोध,
आपस का सबने ठाना।[86]

प्रेमघन ने आर्यवंश की एकता तथा वेद-विहित मार्ग के अनुसरण का आदर्श सामने रखा—

आर्य वंश को करो एक,
अब द्वैत भेद बिनसाओ।
मन बच कर्म्म एक हो
वेद विदित आदर्श दिखाओ।[87]

और उनकी यह अभिलाषा थी कि :

आर्य जाति का हो अभ्युदय,
भूमि भारत पर।"[88]

इस संदर्भ में लक्ष्य करने की बात यह है कि भारतीय नवजागरण में पुनरुत्थानवादी (रिवाइवलिस्ट) और आधुनिकतावादी (माडर्निस्ट) दोनों ही तत्त्व विद्यमान थे। आर्य समाज आन्दोलन भी इसका अपवाद नहीं है। ये दोनों तत्त्व प्रेमघन की कविताओं में स्पष्टत: देखे जा सकते हैं। पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति के स्तर पर उन्होंने अतीत के गौरव का चित्रण किया है और प्रगतिवादी तत्वों के धरातल पर वर्तमान और समसामयिकता का। तात्पर्य यह है कि प्रेमघन की कविताओं पर मध्यकालीन बोध की छाप भी है और उन में आधुनिकता का स्पन्दन भी है। मध्यकालीन बोध और आधुनिक बोध की टकराहट केवल प्रेमघन की कविताओं तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह आगे भी जारी रहती है।

* इस अनुक्रम में 'भारतेन्दु की कविताएं' लेख परिशोध—२१-२२ में प्रकाशित हो चुका है (सम्प)

१. डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा : हिन्दी काव्य पर आंगल प्रभाव, (पद्मजा प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण २०११) पृष्ठ ७७।
२. डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु-युग, (विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, चतुर्थ संस्करण, १९६३) पृष्ठ १३८।
३. प्रेमघन सर्वस्व : प्रथम भाग : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग : द्वितीय संस्करण : शक १८८४ (१९६१ ई०) : पृष्ठ १२।
४. वही : पृष्ठ १३।
५. वही : पृष्ठ १६।
६. वही : पृष्ठ ४७।
७. वही : पृष्ठ ४५।
८. वही : पृष्ठ ४८।
९. वही : पृष्ठ ४९।
१०. वही : पृष्ठ १२६।
११. वही : पृष्ठ १२४-१२५।
१२. वही : पृष्ठ २७३।
१३. वही : पृष्ठ २६८।
१४. वही : पृष्ठ २७५।
१५. वही : पृष्ठ २८५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६. वही : पृष्ठ २६० ।
१७. वही : पृष्ठ ३३७ ।
१८. वही : पृष्ट ३७५ ।
१९. वही : पृष्ठ ३७३ ।
२०. वही : पृष्ठ ३७४ ।
२१. वही : पृष्ठ ३७४
२२. वही : पृष्ठ ३७५
२३. वही : पृष्ठ ३७७
२४. वही : पृष्ठ ३८१-३८७
२५. वही : पृष्ठ ४३०-४३१ (गीत संख्या ९२)
२६. वही : पृष्ठ ४३१
२७. वही : पृष्ठ १४८
२८. वही : पृष्ठ १४५
२९. वही : पृष्ठ १४६
३०. वही : पृष्ठ १५०
३१. वही : पृष्ठ १५६
३२. वही : पृष्ठ १५८
३३. वही : पृष्ठ १६१-१६२
३४. वही : पृष्ठ १६२
३५. वही : पृष्ठ १६१
३६. वही : पृष्ठ १६० ।
३७. वही : पृष्ठ १५४ ।
३८. वही : पृष्ठ १५४ ।
३९. वही : पृष्ठ १८७ ।
४०. वही : पृष्ठ १८५ ।
४१. वही : पृष्ठ १८६ ।
४२. वही : पृष्ठ १८७
४३. वही : पृष्ठ २४८
४४. वही : पृष्ठ २४८
४५. वही : पृष्ठ २४७
४६. वही : पृष्ठ २४३
४७. वही : पृष्ठ २४४
४८. वही : पृष्ठ २४६ और २४९
४९. वही : पृष्ठ ३५१ ।
५०. वही : पृष्ठ ३५४, ३५६ तथा ३५९ ।
५१. वही : पृष्ठ ३६३ ।
५२. वही : पृष्ठ ३६३ ।
५३. वही : पृष्ठ ३६३-३६४ ।
५४. वही : पृष्ठ ३६४ ।
५५. वही : पृष्ठ ३६५ ।
५६. वही : पृष्ठ ३६५ ।
५७. वही : पृष्ठ ३६५ ।
५८. वही : पृष्ठ ३६५ ।
५९. वही : पृष्ठ ३६५ ।
६०. वही : पृष्ठ ३६६ ।
६१. वही : पृष्ठ ३६६ ।
६२. वही : पृष्ठ ३६६ ।
६३. वही : पृष्ठ ३६६ ।
६४. वही : पृष्ठ ३६४ ।
६५. वही : पृष्ठ ३६७ ।
६६. वही : पृष्ठ ५३१-५३३
६७. वही : पृष्ठ ५३३-३४ (गीत संख्या १३८)
६८. वही : पृष्ठ ५३४-५३५ (गीत संख्या १३९)
६९. वही : पृष्ठ ५३५-५३६ (गीत संख्या १४०)
७०. वही : पृष्ठ ५३७-५४१ (गीत संख्या १४१, १४२, १४३, १४४, १४९ तथा १५०) ।
७१. वही : पृष्ठ ६४५-४६) ।
७२. वही : पृष्ठ ६४७ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७३. वही : पृष्ठ ६४८-४६ ।

७४. वही : पृष्ठ ६४६-५० ।

७५. वही : पृष्ठ ६५० ।

७६. वही : पृष्ठ १८५ ।

७७. वही : पृष्ठ १८५ ।

७८. वही : पृष्ठ १८८ ।

७९. वही : पृष्ठ २५५ ।

८०. वही : पृष्ठ १८५ ।

८१. आनन्द अरुणोदय : प्रेमघन सर्वस्व : प्रथम भाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, शक १८८४, (१९६१ ई०) पृष्ठ ३६३ ।

८२. वही : पृष्ठ ३६३ ।

८३. वही : पृष्ठ ३६४ ।

८४. वही : पृष्ठ ३६४ ।

८५. वही : पृष्ठ ३६४ ।

८६. वही : पृष्ठ ३६५ ।

८७. वही : पृष्ठ ३६५ ।

८८. वही : पृष्ठ ३६७ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन कुमार जैन
४२, सुभाषनगर,
गिदड़बाहा,
(पंजाब)

शंकर देव के नाटकों में राम का स्वरूप

मध्यकाल में तुलसीदास और उनके परवर्ती अग्रदास, नाभादास, केशवदास, उदयराम, हृदयराम और प्राणनंद चौहान इत्यादि कवियों ने राम के चरित्र को अपनी रचनाओं का आधार बनाकर राम के स्वरूप का सुन्दर, सजीव, सबल और सफल चित्रण किया है—यह सर्वविदित है। दूसरी ओर कृष्ण भक्त कवियों—सूरदास, नंददास, हित हरिवंश, मीरा, और नाटककारों में शंकरदेव, माधवदेव, उमापति उपाध्याय ने कृष्ण के चरित्र को आधार बनाकर अपने साहित्य का सृजन किया। दोनों धाराओं के साहित्यकार अपनी ही धाराओं से बंधे रहे हों, ऐसा मध्यकालीन साहित्य का अध्ययन करने पर दिखाई नहीं देता। राम भक्त कवियों ने अनेक कृष्ण-विषयक पदों की रचना की है और कृष्ण भक्त कवियों-नाटककारों ने राम के जीवन को आधार बनाकर पदों-नाटकों की रचना की है।

ऐसे ही नाटककार शंकरदेव हैं। शंकरदेव मूलतः कृष्ण भक्त नाटककार के रूप में जाने जाते हैं क्योंकि इनके अधिकांश नाटक-'कालियदमन', 'पत्नी प्रसाद', 'केलिगोपाल', 'रुक्मिणीहरण' और 'पारिजातहरण' कृष्ण के जीवन की विभिन्न घटनाओं को लेकर लिखे गए हैं। इन नाटकों में कृष्ण को अवतार, योद्धा, वीर, कूटनीतिज्ञ, साहसी, उद्योगी, चंचल और नटखट बालक के रूप में चित्रत किया गया है। इन नाटकों के नांदी और भरतवाक्य नाटककार की कृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धा को प्रकट करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शंकरदेव कृष्णभक्त नाटककार हैं, पर उनको केवल कृष्ण भक्त नाटककार ही मानना हमारी बड़ी भूल होगी। वे राम के भी भक्त हैं जिसका प्रकटीकरण उनके 'राम विजयनाट' में हुआ है। इसका रचनाकाल संवत् १४१० है। शंकरदेव का यही एक नाटक है जिसमें रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1]

यह नाटक रामायण की प्रसिद्ध घटना परशुराम पर रामचन्द्र की विजय को आधार बनाकर लिखा गया है। आइए, इस नाटक का अध्ययन करके देखें कि शंकरदेव जैसे कृष्ण भक्त नाटककार ने रामचन्द्र के स्वरूप को किस प्रकार चित्रित किया है। क्या शंकरदेव के राम तुलसीदास जैसे ही हैं ? या उनके चरित्र में कोई परिवर्तन किया गया है। यदि किया गया है तो कितना ? क्या वह परिवर्तन ग्राह्य है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत नाटक के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। नाटककार ने प्रारम्भ के श्लोक में भगवान राम की वन्दना करते हुए उन्हें समस्त सांसारिक संतापों को दूर कराने वाला, प्रेम का आस्पद, अपार सागर को पार कराने वाला, चण्डालों को पवित्र करने वाला और धरती पर मोक्ष देने वाला कहा है।[2]
इससे आगे उन्होंने राम के शौर्य का वर्णन कर उन्हें शिव-धनुष को तोड़ने वाला, सीता को आश्वासन देने वाला, क्रूर परशुराम का पराभव करने वाला और भूपतियों को विजय करने वाला बताया है।[3]

नाटक की भटिमा' में राम को भय का विनाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला, संसार से मुक्ति दिलाने वाला, सुग्रीव को सिंहासन दिलाने वाला, रावण का वध करने वाला, भूमि के भार उतारने वाला, ब्रह्मा-महेश्वर का आराध्य कहकर नाटककार ने भगवान राम को ईश्वरीय अवतार के रूप में चित्रित किया है।

नाटक आगे बढ़ता है। भगवान राम हाथ में धनुष लिए प्रवेश करते हैं जिसका मनोहारी चित्रण नाटककार ने किया है—

संगे सोदरशर धनु धरि हाथ।
श्याम रुचिर चिर पीत परकाश ॥
पंकज नयन बयन मन्दहास।
मणिमय मुकुट कुन्डल गन्ड़े होते।
हेरि मुरुति मन मनमथ भोले ॥
माणिक मोति ज्योति हेमहारा।
गगन उजोरे जैचन रुचितारा ॥

राम को नाटककार ने अवतार कहलाया है—

ऋषि—"अये दशरथ। तुहु रामक चरित्र किछु जानये नाहि। योग बले हामु सब जानो। ओहि राम चन्द्र परम ईश्वर हरिक अवतार। असुर राक्षसक मारि भूमिक भार उतारब........।"[5]

ऋषि विश्वामित्र महाराजा दशरथ से राम-लक्ष्मण को मांग कर वन में जाते हैं। मार्ग में भगवान राम ताड़का का वध करते हैं—

बोलि निर्भय जोरल वान।
ताड़का हृदये करु सन्धान ॥
पड़ल पिशाची तेजि आरास।
वज्रपाते यैचे लोकतरास ॥[6]

ताड़का-वध के पश्चात् वे सुबाहु और मारीच का वध करते हैं—

पेखु पेखु दोहो राक्षस आवे।
अब रघुनाथ करहु मोहित्राण ॥
सुनिए राम धरल धनु वाण।
वेधल हृदय सरक सन्धाने ॥
उड़ल राक्षस रामक बाने।
मेलि सुबाहु सागरत पात।
मारीच पड़ल प्राणे लंकात ॥[7]

राक्षसों के वध के पश्चात् राम-लक्ष्मण मुनि के साथ आगे बढ़ते हैं। आगे की भटिमा में उनके रूप का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। देखें—

कि कहब रूप कुमारिक राम।
कनक पुतलि तुल तनु अनुपाम ॥
रतन तिलक लोले अलक कपोल।
हेरिया भ्रुवभंग त्रिभुवन मोल ॥
देखिए बदन चान्द मेलि लाज।
नयन निरखि कमल जल माझ ॥
हेरिये भुज युग मिलल उछंक।
ललित मृणाल काजल जलपंक ॥[8]

वे राजा जनक की सभा में पहुंचते हैं तो जनक आश्चर्य चकित होकर पूछता है—"हे ऋषिराज, ओहि बालक दुहु अद्भुत मधुर मुरुति देखि परम आनन्द भेलो। काहेर कुमार कि देव, किंबा मानुष, हामु बुझये नाहि पारि। ओहि सुकुमार दुहोक देखि हृदय सन्तोष भेलो।[9]

इससे आगे उन्हें कोटि-कन्दर्प—दलन, श्याममूर्ति, पीताम्बरधारी, घन में बिजली रूप, अरुण अधर, मंद हंसने वाला, सुन्दर दन्त-पंक्ति वाला, माणिक के समान कान्ति वाला, पंकज के समान नयनों वाला[10] कहा गया है।

वे धनुष को तोड़ते हैं। सीता वरमाला उनके गले में डालती है। यहीं परशुराम का आगमन होता है। परशुराम का क्रोध जब अधिक बढ़ता जाता है तो भगवान राम उसे द्विजाधम कह कर यमपुरी भेजने का निश्चय करते हैं। तभी परशुराम उनके पांवों में गिरकर क्षमा मांगते हुए कहता है—

"तोहो परम ईश्वर। हामु तोहारी से अंश। इहा ना जानि दर्प कयलो।"[11]

परशुराम की प्रार्थना पर राम उसे प्राणदान देते हैं परन्तु उसके दुर्व्यवहार के कारण उसका स्वर्ग-मार्ग काट देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाटक के अंत में भगवान राम के शौर्य और वीरता का वर्णन है।

नाटक का आद्यन्त अध्ययन कर लेने के पश्चात् स्पष्ट है कि शंकर देव ने राम के स्वरूप को दो प्रकार से चित्रित किया है। वे श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, पंकज नयन, अरुण कपोल, कनक पुतलि, अनुपम तन, कोटिक-कन्दर्प-दलन, मंद-हास, मणिक-कान्ति, धवल-दन्त-पंक्ति वाले सुन्दर राजकुमार भी हैं और परमेश्वर, अवतार, शिव-धनुष भंजक, सांसारिक संतापों को दूर करने वाले, अपार सागर को पार कराने वाले, चण्डालों को धरती पर मोक्ष देने वाले, क्रूर परशुराम का पराभव करने वाले, ताड़का-सुबाहु मारीच को मारने वाले, भय का विनाश करने वाले, मुनिजनों को भय मुक्त करने वाले, भूपतियों को विजय करने, सुग्रीव को सिंहासन दिलाने वाले, रावण का वध करने वाले और ब्रह्मा-महेश्वर के आराध्य विष्णु के अवतार भी हैं। दोनों ही स्तरों पर नाटककार ने राम के रूप-वर्णन और महिमा-वर्णन में कोई शिथिलता नहीं आने दी है। जिस प्रकार दूसरे कृष्ण विषयक नाटकों में कृष्ण के स्वरूप को पूर्ण मनोयोग से नाटककार ने चित्रित किया है वैसे ही यहां राम के स्वरूप का चित्रण किया है। कई स्थलों पर तो ऐसा भी दिखाई देता है कि शंकरदेव राम और कृष्ण में किसी प्रकार का भेद ही नहीं कर पा रहे हैं। वही श्यामवर्ण और पीताम्बर जैसे शब्द राम के स्वरूप-वर्णन में भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त किए गए हैं। निःसंदेह शंकर देव के राम तुलसीदास के ही राम हैं। एक दो स्थलों को छोड़कर शेष नाटक में राम को परम्परागत रूप में ही चित्रित किया गया है। राम का परशुराम को द्विजाधम कहना कोई विशेष महत्त्व का नहीं है, अतः इस प्रकार की एक-दो बातों को छोड़कर राम का चरित्र ग्राह्य है, सुन्दर और सजीव है।

कहा जा सकता है कि शंकर देव जितने कुशल चितेरे कृष्ण-रूप के हैं उतने ही राम के। उनके लिए राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं। वे एक हैं और इसी ऐक्य में नाटककार ने दोनों में बिना किसी विभाजक रेखा को खींचे अपनी आराधना को समर्पित किया है।

---

१. प्रचीन भाषा नाटक संग्रह : सं० जगदीश चन्द्र माथुर तथा दशरथ ओझा पृ २३३
२. वही, पृ० २३७ (राम विजय नाट)
३. वही, पृ० २३७
४. वही, पृ० २४०
५. वही, पृ० २४६
६. वही, पृ० २४५
७. वही, पृ० २४६
८. वही, (राम विजय नाट), पृ० २४७
९. वही, (राम विजय नाट), पृ० २४९
१०. वही, पृ० २५१
११. वही, पृ० २६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूर चन्द जैन,
जूनी चौकी का वास,
बाड़मेर (राजस्थान)

तुलसी और सूर परम्परा के कविरत्न :
भक्त कवि बारठ ईसरदास

राजस्थान का पश्चिमी सीमावर्ती बाड़मेर जिला अपनी अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता के लिये आज सर्व विख्यात है। पश्चिमी पाकिस्तान से सटा यह जिला सम्पूर्ण रेगिस्तानी क्षेत्र होने के कारण अकाल की भीषण छाया से यदा कदा पीड़ित रहता है। अकाल प्रसिद्ध बाड़मेर जिले में जहां ऊबड़ खावड़ रास्ते, कंटीली झाड़ियां, दुगर्म मार्ग, रतीले टीबों की भरमार है, वहां शिल्पकला के सुविख्यात निर्मिति किराडू, जूना, खेड़, कपालेश्वर महादेव, देवका, सिवाना, नाकोड़ा आदि इतिहास प्रसिद्ध हैं। शूरवीरों की भूमि बाड़मेर शहीदों की स्मृतियों को गोद में संजोये हुए है तो दूसरी ओर भारत प्रसिद्ध कवियों की जन्मस्थली के लिये भी विख्यात रही हैं। इस धरती में भक्त कवि ईसरदास, कविराजा बांकीदास, कवि केसरी घुघंलीमल जैसे अनेकों कवियों की काव्य रस धारा से शुष्क वातावरण में नई साहित्य, भक्ति एवं वीर रस की धारा प्रवाहित हुई है। भक्त कवि ईसरदास बाड़मेर जिले की ऐसी महान् विभूति हुए हैं जिनकी तुलना तुलसीदास एवं सूरदास से की जाती है। आज भी इनके कविता-छन्दों को भारत और पाकिस्तान के राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्ध, घाट, थारपारकर के क्षेत्रों में बड़ी श्रद्धा और भक्ति से गाया जाता है।

भक्त कवि ईसरदास का जन्म मारवाड़ राज्य के मालानी परगने में बाड़मेर नगर से उत्तर पश्चिम में स्थित भाद्रेस गांव में हुआ था। भाद्रेस आज के राजस्थान के बाड़मेर जिले की बाड़मेर पंचायत समिति एवं तहसील का मुख्य ग्राम है। बारठ कवि ईसरदास का जन्म वि०सं० १५९५ में चैत्र सुदी नवमी को रोहिड़िया शाखा के चारण सुजो जी के यहां माताश्री अमराँबाई की कोख से हुआ। बचपन में माता पिता के स्वर्गवास होने पर आपका पालन पोषण आपके चाचा हरिसूर एवं आसोजी पर आ पड़ा। आपके दोनों चाचा उस समय के माने हुए कवि होने के कारण आपकी भी रुचि काव्य की ओर बढ़ने लगी। चाचा आसाजी बालक की योग्यता, दक्षता एवं स्पष्टवादिता से अत्यन्त ही प्रभावित हुए और ईसर को सदा अपने पास रखने लगे। आसाजी का उन दिनों सम्पर्क राजघरानों, साहित्यकारों, कवियों एवं विद्वानों से था और वे सदा उन से मिलने जाते। तब ईसरदास को वह अवश्य ही साथ ले जाते थे। इससे बालक ईसरदास में मान और सम्मान की भावनाएं जागृत हो उठीं और वे अपनी काव्य रस धारा से सबको अपनी ओर आकर्षित करने में दिनों दिन उन्नति की ओर अग्रसर होने लगे।

भक्त कवि ईसरदास के "हरिरस" भक्ति काव्य ने संत तुलसीदास और सूरदास की स्मृतियों को ताजा करने में पूर्ण योगदान दिया। जिस प्रकार तुलसी और सूरदास के भक्ति काव्यों को लोकप्रियता एवं आत्मीयता प्राप्त हुई उसी प्रकार ईसरदास के "हरिरस" से भी जनमानस को ईश्वरीय उपासना आराधना के लिये मार्ग दर्शन मिल सका। "हरिरस" काव्य के रचयिता कवि ईसरदास ने इस काव्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्तिभाव और भगवद् स्वरुप को निखारने के जो अथक प्रयत्न किये उनके कारण लोग इन्हें ईश्वर के स्वरूप में देखते हैं। इस सम्बन्ध में प्रचलित कहावत "ईसरा परमेसरा' आज भी राजस्थान और गुजरात में अत्यन्त ही लोकप्रिया बनी हुई है। 'हरिरस' भक्ति भावनाओं से ओत प्रोत काव्य हैं जिस में ३६० छन्द हैं। ग्रन्थ में दोहा, गाथा, विअखरी, मोतीदाम और छप्पय—पाँच छन्दों का प्रयोग किया गया है। कवि ने इस काव्य में अपने शान्त और आध्यात्मिक भावों से सरस्वती वन्दना, गुरु वन्दना, अवतार नामावली, चरित्र स्तुति, ईश वन्दना-महिमा, नाम महिमा, चरण महिमा, ब्रह्म दर्शन, सृष्टि उत्पति वर्णन, हरि सुमिता उपदेश, सत्य महिमा, भगवत महिमा, हरिरस महिमा, आत्मा के उद्गार, स्तुति और अनेक देवताओं को स्मरण करने का सफलीभूत प्रयत्न किया है।

हरिरस काव्य के रचियता मरुभूमि के भक्त कवि ईसरदास जब १४ वर्ष के थे उस समय इनका पहला विवाह देवलबाई के साथ हुआ। इनकी पत्नी वि०सं० १६१६-१७ में स्वर्ग सिधार गई। शोक व्याकुल ईसरदास को उसके चाचा आसोजी द्वारका जी की यात्रा के लिये अपने साथ गुजरात-सौराष्ट्र ले गये। जामनगर के रावल जाम से आसोजी ने ईसरदास का परिचय करवाया। ईसरदास ने वीररस, राज्य स्तुति से कवि प्रेमी रावल जाम को अपनी काव्य रस धारा से अत्यन्त ही प्रभावित किया। द्वारका की यात्रा से लौटने पर रावल जाम ने ईसरदास को अपने दरबार में रख लिया और इनकी काव्य प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि इन्हें सम्मानित करने के लिये पोलपाल बनाया, कोड़ पसाव का पुरस्कार दिया, नौ गांव-सचाणों, रंगपुर, वीरवदरको, गुड़ा, मकबाणों, आंवलोहापो, जांगवण, सावड़ी, वाधों आदि जागीरी में दिये। रावल जाम ने इनका दूसरा विवाह सूराशाखा की चारण बालिका राजबाई के साथ करवाया।

जामनगर के दरबार की शोभा भक्त कवि ईसरदास रावल जाम के दरबारी प्रधान राजपंडित पीताम्बरदास भट्ट से भागवतादि धर्म शास्त्रों का अध्ययन करने लगे। एक बार जाम के दरबार में अनेकों विद्वानों और कवियों का सम्मेलन हुआ जिसमें कवि ईसरदास ने अपना काव्य पाठ आरम्भ किया। सुनने वाले रस विभोर हो उठे। रावल जाम इनकी कविता पर अत्यन्त ही आनन्दित हुआ और इन्हें पुरस्कृत करने के लिये राजपंडित की तरफ इशारा किया। पंडित पीताम्बरदास ने इशारे से पुरस्कार देने से इन्कार कर दिया। कवि ईसरदास यह सारी स्थिति स्वयं देख चुके थे। वे अत्यन्त ही क्रोधित हुए और रात्रि को पंडित पीताम्बरदास को सदा के लिये समाप्त करने हेतु उनके निवास स्थान पर गये। पंडित पीताम्बरदास अपनी पत्नी से कह रहे थे कि आज कवि ईसरदास ने दरबार में काव्य रस की ऐसी सरिता बहाई कि लोग मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते रहे। अफसोस यह है कि नौजवान अपनी प्रतिभा को राज स्तुति कर दुरुपयोग कर रहा है। यदि वह ईश्वर उपासना, स्तुति में काव्य की रस धारा बहाता तो कितना अच्छा होता।

राजपंडित और भक्त पीताम्बरदास भट्ट के इन शब्दों को सुनते ही कवि ईसरदास तलवार को एक तरफ फैंक कर भट्ट के चरणों पर आकर गिर पड़े। अपने क्रोधित हत्या के कार्य पर पश्चाताप करने लगे। इस घटना से कवि ईसरदास के कवि हृदय में परिवर्तन आ गया और वे राज्य स्तुति, वीर रस के काव्य के निर्माण के स्थान पर प्रभु भक्ति, महिमा, स्तुति रचने लग गये। कविराज ईसरदास से अब वह भक्त ईसरदास बन गए। जिस प्रकार तुलसी की दास्य भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान श्री राम ने और सूर की कीर्त्तन भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान श्री कृष्ण ने दर्शन दिये उसी प्रकार भक्त ईसर की दास्य भक्ति के कारण द्वारका के श्री रणछोड़ राय ने भगवती रुकमणी जी के साथ हरिरस सुनकर दर्शन दिए। तब से ही ईसरा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमेसरा अर्थात ईसरदास परमेश्वर का स्वरूप माना जाता है।

भक्त ईसरदास की भक्ति ने भगवान को प्रसन्न कर दिया और इनके दैवी चमत्कार ने जनमानस में एक नई सद्भावना एवं आत्मीयता पैदा कर दी। भक्त ईसरदास के दैवी चमत्कारों के सम्बन्ध में कई दंतकथाएं प्रचलित हैं। इन्हें मुसलमान बनाने के प्रयत्नों पर चांद को उगने से रोक दिया, सर्प दंशित से मृत्यु को प्राप्त करण सरवैये को जीवित किया, गुजरात की वंणु नदि में डूबकर मरे हुए सांगा को जीवित कर दिया, बाड़मेर जिले के आलपुरा गांव में खारे पानी के कुएं का पानी मीठा कर दिया, लुटेरों द्वारा इनकी कुटिया से लूटे नारियलों को गोबर के कण्डे बना दिया और लुटेरों द्वारा क्षमायाचना करने पर उन्हीं कण्डों को वापिस नारियल में परिवर्तित कर दिया।

भक्त कवि ईसरदास द्वारा "हरिरस" काव्य के अतिरिक्त छोटा हरिरस, देवियांण, गुणरास लीला, गुण आगम, गुण वैराट, गुण निन्दा स्तुति, गुण भगवंत हंस, गुण बाल लीला, गुण सभापर्व, गुरुड़ पुराण, आपण, दांणा लीला, सांमला रा दूहा, बीस दुंआलो, सृष्टि से उत्पति रो गीत, साखियां, भजन, हालां-झालां रा कुंडलिया, गीत छंद आदि काव्य आज भी लोकप्रिय बने हुए हैं। एक ओर भक्ति भावनाओं से कवि ने हरिरस को रचकर धार्मिक क्षेत्र में लोकप्रियता प्राप्त की तो दूसरी ओर हलबल नरेश झाला रामसिंह का अपने मामा धोल के राजा हाला जलाजी से भयंकर युद्ध का आंखों देखा वर्णन कवि ने "हालां-झालां रा कुंडलियों" में करके वीर रस के काव्य को रचकर रणक्षेत्र की सत्यता एवं शूरवीरता की अनूठी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। वीर रस का यह ग्रन्थ आज भी जनप्रिय बना हुआ है।

रेगिस्तान के शुष्क क्षेत्र राजस्थान प्रदेश के बाड़मेर जिले के छोटे से गांव भाद्रेस में साधारण परिवार में पैदा होने वाले कवि ने गुजरात के जामनगर दरबार में सर्वोच्च पद पर आसीन होकर भी अपनी काव्य प्रतिभा को बराबर बनाये रखा। चालीस वर्ष तक जाम दरबार में रहकर वापिस अपनी जन्मभूमि मरुधरा में आये और लूनी नदी के किनारे गुड़ा के पास झोपड़ी बनाकर अपने जीवन के अंतिम दिनों प्रभु अराधना में व्यतीत करने लगे। भक्त कवि ईसरदास का ८० वर्ष की आयु में इसी स्थान पर वि० सं० १६७५ की चैत्र शुक्ला नवमी को स्वर्गवास हो गया। भक्त कविराज ईसरदास आज यद्यपि हमारे बीच नहीं हैं लेकिन इनकी काव्य देन आज भी अधिक लोकप्रिय बनी हुई है। इनके भक्ति के गीत और छन्द आज भी ईश्वर उपासना में गुनगुनाये जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० लखन लाल सिंह 'आरोही'
काव्य कुंज खैरा,
पतसौरी खैरा, भागलपुर
(बिहार)

गुरुभक्त सिंह 'भक्त' के प्रणय-काव्य का स्वच्छन्दतावादी स्वरूप

प्रेम जीवन की सब से प्रबल प्रवृत्ति है। मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षी भी प्रेम के आकर्षण-जाल में फंसे रहते हैं। प्रेम जीवन की सबसे व्यापक वृत्ति है। यह एक ऐसी मधुर अनुभूति है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कभी न कभी अवश्य अनुभव करता है। सबके जीवन में कभी न कभी अवश्य यौवन-वसंत आता है और प्रेम का कोकिल बोल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय-मंदिर में एक बार अवश्य प्रेम-दीप जलता है। जीवन की सबसे मधुर और व्यापक वृत्ति होने के कारण काव्य में प्रेम एक मधुर एवं व्यापक अनुभूति के रूप में चित्रित हुआ है।

प्रेम एक मधुर एवं आनन्दजन्य अनुभूति है, जो शारीरिक ही नहीं, मानसिक और आध्यात्मिक भी है। यहां "काम" और "प्रेम" के अंतर को स्पष्ट समझ लेना चाहिए। प्रेम सेक्स (काम) से ऊंचा तत्व है। सेक्स की अनुभूति शारीरिक होती है। किन्तु, प्रेम की अनुभूति में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों अनुभूतियां समन्वित रहती हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि काम प्रेम की व्यापक परिधि में अन्तर्भूत है। प्रत्येक प्रेम पहले शारीरिक होता है और तदुपरान्त मानसिक और आध्यात्मिक प्रसार एवं विकास पाकर प्रेम की संज्ञा प्राप्त करता है। प्रेम का कमल सेक्स (काम) के कर्दम में खिलता है।

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर, उसके विचरण की,
सारी लीलभूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहां रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी मुख मंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

... ...

जगता प्रेम प्रथम लोचन में,
तब तरंग-निभ मन में,
प्रथम दीखती प्रिया एकदेही,
फिर व्याप्त भुवन में।

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी।[2]

स्पष्ट है कि प्रेम पहले शरीर-जन्य होने के कारण काम है, परन्तु मन तथा आत्मा तक प्रसारित होकर जब वह परिष्कृत हो जाता है, तब वह प्रेम कहलाता है। प्रेम की अनुभूति काम से श्रेष्ठ होती है— वह लोकोत्तर होती है। व्यक्तित्व के विकास में प्रेम सहायक होता है, सेक्स नहीं।[3] काम का आनन्द क्षणिक और घटिया स्तर का होता है, जबकि प्रेम का आनन्द स्थायी और श्रेष्ठ कोटि का होता है। शरीर के घाट पर पानी पीकर तृप्त हो जाना काम है, परन्तु शरीर से आगे जाकर मन और आत्मा के घाट पर जल पीकर तृषा बुझाना प्रेम है। काम का परिष्कार प्रेम है। इस लिए प्रेम का आरम्भ चितवन से शुरू होता है और ध्यान में समाप्त होता है। सेक्स के आनन्द के लिए भी प्रेम आवश्यक है क्योंकि प्रेम के अभाव में सेक्स का व्यापार भी ज्यादा दिन नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चल सकता। इसके अतिरिक्त सेक्स से संतान तो हो सकती है, लेकिन कला और साहित्य की सृष्टि प्रेम के बिना संभव नहीं।

प्रेम अनेक रूपों में व्यक्त होता है—प्रणय, स्नेह, मैत्री, वात्सल्य, भक्ति आदि। परन्तु यहां प्रेम का एक रूप प्रणय ही प्रतिपाद्य है। नर-नारी का प्रेम ही प्रणय है। सृष्टि के प्रथम प्रभात से नर और नारी एक दूसरे से अकृष्ट होते आए हैं। नर-नारी का यह प्रेम इसके अन्य रूपों से ज्यादा मोहक, आकर्षक और आनन्दप्रद रहा है। इसलिए जैसा राजत्व इस प्रेम का जीवन में है, वैसा ही साहित्य, कला और संगीत में। नर-नारी के प्रेम-चित्रण ने खजुराहो और कोणार्क की कठोर चट्टान को पंखुड़ी से भी कोमल बनाकर उसे सचेतन बना दिया है और लगता है कि वह अब बोल उठेगी। यमुना के तट पर खड़ा आगरे का ताज प्रेम-देवता के सिर पर रखा ताज ही है। कालिदास विद्यापति, जयदेव, शेक्सपियर, गेटे, शैले, कीट्स, बायरन, पंत, प्रसाद, दिनकर, बच्चन का समस्त काव्य प्रणयानुभूति से ही स्पन्दित हो रहा है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि अगर विश्व वाङ्मय से प्रणय-काव्यांश को हटा दिया जाय, तो साहित्य में कुछ शेष नहीं बचता। इससे स्पष्ट है कि काव्य, कला और संगीत की सबसे बड़ी प्रेरणा यही प्रणय है। प्रणय ही वह प्रेरक शक्ति है जिसने कालिदास से मेघदूत और दिनकर से उर्वशी लिखवायी। स्पष्ट है कि प्रेम के सभी रूपों में प्रणय सबसे सशक्त, मोहक और मधुर अनुभूति है।

रसेल के अनुसार प्रेम (प्रणय) की रोमांटिक धारणा प्रेम के सामान्य रूप से भिन्न है। रोमांटिक प्रेम का मूल तत्व यह है कि इसमें प्रेम के पात्र को पाना बड़ा कठिन माना जाता है और उसे बहुमूल्य समझा जाता है।...जिस पुरुष को स्त्री की प्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं होती, उस स्त्री के प्रति उसकी भावना रोमांटिक प्रेम का रूप धारण नहीं करती।[4] कलाओं के दृष्टिकोण से वह स्थिति अवश्य ही शोचनीय होती है जब कि स्त्रियां आसानी से उपलब्ध हों। सबसे अधिक वांछनीय बात तो यह है कि उन्हें प्राप्त करना कठिन हो, परन्तु असंभव न हो।[5] उसी पुस्तक में रसेल ने आगे लिखा है कि "मेरा अपना विश्वास है कि रोमांटिक प्रेम जीवन के सर्वोत्तम उल्लास का स्रोत है।[6] रोमांटिक प्रेम के प्रेम-पात्र के सम्बन्ध में रसेल का कहना है कि रोमांटिक प्रेम में प्रेम-पात्र सच्चे रूप में दिखाई नहीं पड़ता बल्कि सौंदर्य के कुहासे में से दीखता है।[7] होता यह है कि रोमांटिक प्रेम में प्रेमी अपने प्रेमपात्र को अपनी प्रेम-भावना में रंगकर देखता है। लैला मजनूँ के लिए किसी की बेटी नहीं होती, अपितु वह तो मजनूं की कल्पना और भावना के हाथों निर्मित कोई भिन्न लैला होती है। यह आँग्ल उक्ति रोमांटिक प्रेम-भावना के संदर्भ में एकदम सही है कि "ब्यूटी लाइज इन लवर्स आइज़"। इसी कारण लैला के कुरूप होने पर भी मजनूं उस पर जान देता था। रोमांटिक प्रेम किसी भी प्रकार की रूढ़ि, परम्परा एवं बंधन से मुक्त होता है। वह परम्पराभुक्त नहीं परम्परामुक्त होता है और सहज होता है। रोमांटिक प्रेम धन, जाति, सम्प्रदाय, यहां तक कि रूप के आकर्षण से भी आकृष्ट नहीं होता। वह तो हृदयों से एकाएक फूट पड़नेवाला सहज निर्झर है जो अपने प्रवाह में जाति, धर्म, संप्रदाय आदि के आदर्श को डुबाता हुआ दोनों प्रेमियों के जीवन-तट को सरस करता रहता है। रोमांटिक प्रेम हृदय का सहज और निस्संकोच स्रोत होने के कारण उसमें एक अजीब और निर्वचनीय आनन्द होता है जिसका अनुभव रोमांटिक प्रेमियों को होता है। यह भी बात सही है कि रोमांटिक प्रेम अतृप्ति, असंतोष और बाधा के बीच विकसित होता रहता है। प्रेम-पात्र को पाने में प्रेमी को सामाजिक रूढ़ि एवं आदर्श जितनी बाधा पहुंचाता है, प्रेम उतना ही निखरता है और वह उतना ही आवेग-पूर्ण होता है। तृप्ति रोमांटिक प्रेम को समाप्त कर देती है और प्राप्ति की कठिनाई उसे अधिक आकर्षक बना देती है। इस संदर्भ में दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियां ध्यातव्य हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन कहे ? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है।
जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है।[8]

वास्तव में रोमांटिक प्रेम दूरी एवं अपरिचय का रोमांस चाहता है। अतः जिस प्रेम में नारी को पाने में नर को किसी भी प्रकार की बाधा का सामना नहीं करना पड़ता है, वह प्रेम रोमांटिक प्रेम की संज्ञा का अधिकारी नहीं होता।

रोमांटिक प्रेम के तीन तत्त्व हैं—आवेग, कल्पना और कोमलता।[9] रोमांटिक प्रेम में भावों का प्रचंड आवेग पाया जाता है। प्रेम की तीव्रता प्रेमी को उद्विग्न बना देती है। उसके हृदय में भाव का तूफान बहने लगता है जिसमें पड़कर प्रेमी का मन असंतुलित हो जाता है।

प्रेमी उद्विग्न बन जाता है। उसे न तो दिन में चैन मिलता है और न रात में। उसका समग्र चिन्तन एक ही दिशा की ओर प्रवाहित होने लगता है। प्रेम चेतना का अपरिहार्य अंग बन जाता है।[10] भावावेग में मनुष्य साक्षात रूप को भी अपनी कल्पना से रंग लेता है और प्रत्यक्ष में भी किसी परोक्ष सौंदर्य के दर्शन करता है। यह कल्पना तीव्र भावावेग का परिणाम है। किसी वस्तु को देखते ही मन में उससे मिलते-जुलते चित्रों का तांता बंध जाता है, वह तीव्र भावावेग के कारण ही होता है[11]। इससे स्पष्ट है कि रोमांटिक प्रेम में भावावेग प्रेमी को कल्पनाप्रवण बना देता है। उसका प्रेमपात्र कल्पना के इन्द्रधनुष में आवृत्त होकर उसके सम्मुख उपस्थित होता है। रोमांटिक प्रेमी सदा कल्पनालोक में विचरण करता है। यह संसार उसके लिए अप्सरा-लोक हो जाता है। उसकी प्रेयसी उसके लिए अप्सरा बन जाती है। वह अपने प्रेमी के लिए अम्लान कुसुम, चांदनी, जूही का फूल, मरु की धार और मलय समीर बन जाती है। वह छूने की वस्तु न होकर देखने की वस्तु बन जाती है। रोमांटिक प्रेम नारी को देखने की वस्तु बना देता है, और चूंकि रोमांटिक प्रेम पवित्र और निष्कलुष होता है, इसलिए नारी-सौंदर्य देखने के साथ-साथ पूजा की भी वस्तु हो जाता है। यही कारण है कि रोमांटिक प्रणय-भावना ने प्रेम के आलम्बन-सौंदर्य का मानदण्ड ही बदल दिया है।[12] सौंदर्य भोग की वस्तु न होकर उपासना का विषय बन जाता है।

रोमांटिक प्रेम का तीसरा तत्व है—कोमलता। रोमांटिक प्रेम कोमल और सुकुमार होता है। उसमें कठोरता का कोई स्थान नहीं। रोमांटिक प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिए अपने हृदय में बड़ी ही सुकुमार भावना पालता है। रोमांटिक प्रेम में प्रेमी को प्रेम-पात्र का पाना बड़ा कठिन होता है। उसे अनेक दिक्कतों एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी उसकी प्रेयसी उसके प्रति अनुकूल व्यवहार नहीं करती। इससे प्रेमी के हृदय में उसके प्रति कोई कठोर भावना, घृणा आदि नहीं उत्पन्न होती। रोमांटिक प्रेमी तो अपनी प्रिया के प्रेम में पागल बन जाता है। इसीलिए प्रेयसी द्वारा विपरीत आचरण करने पर भी उसका चित्त घबड़ाता नहीं है, वरन् संगीत, कविता, चित्र आदि के द्वारा रिझाकर उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। रोमांटिक प्रेमी प्रेयसी के पत्थर के प्रति भी फूल का ही व्यवहार करता है। रोमांटिक प्रेमी सुकुमार वृत्ति का व्यक्ति होता है, इसलिए उसका प्रेम सुकुमार भावना से समृद्ध रहता है और उसकी अभिव्यंजना भी सुकुमार ही होती है, क्योंकि अभिव्यंजना सदैव भाव का ही अनुसरण करती है।

रोमांटिक प्रेम का उदय आकस्मिक होता है।[13] यह प्रेमी और प्रेम-पात्र के दीर्घ साहचर्य का परिणाम नहीं होता, यह तो अचानक हो जाता है। प्रेमी और प्रेमिका की आंखें चार हुई और प्रेम आरम्भ हो गया। नायक ने नायिका को किसी संकट से बचा लिया, प्रेम शुरू हो जाता है। रोमांटिक प्रेम में प्रणय का कमल एकाएक खिल उठता है। रोमांटिक प्रेम बहुधा आकस्मिक मिलन अथवा दुर्घटना में प्रेमी द्वारा प्रेमिका की रक्षा का परिणाम होता है। रोमांटिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम प्रथम दर्शन का प्रेम होता है। दर्शन होते ही प्रेम-व्यापार आरम्भ हो जाता है। प्रेमी प्रेम-दीप का शलभ बनकर उसपर दौड़ने लगता है और जल जलकर तड़पता रहता है। इस प्रकार रोमांटिक प्रेम प्रेमियों के हृदय में अचानक उदित होकर उन्हें आक्रान्त कर लेता है। प्रणय का बादल किसी अज्ञात दिशा से आकर प्रेमियों के हृदय को ढक लेता है। रसेल ने ऐसे रोमांटिक प्रेम के महत्व को जीवन में मुक्त हृदय से स्वीकार किया है। ऐसे प्रेम का महत्व अमूल्य है, और इस प्रकार के प्रेम से वंचित रहना किसी भी मानव के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात होती है।[14] जीवन के सहज और अकुंठित विकास एवं आनन्द के लिए रोमांटिक प्रेम का अनिर्वचनीय महत्व है।

रोमांटिक प्रेम अशरीरी होता है। भोग और वासना से यह मुक्त होता है। इसलिए स्वाभाविक है कि रोमांटिक प्रेम विवाह में परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि विवाह के लिए सेक्स आवश्यक हैं और रोमांटिक प्रेम सेक्स के दाग से मुक्त रहता है। चूंकि विवाह का मुख्य प्रयोजन संतान है और संतान होते ही नर-नारी का ध्यान एक-दूसरे की ओर से हटकर संतान पर चला जाता है, दोनों एक दूसरे के हृदय की भावना का ध्यान नहीं करते, इसलिए विवाह रोमांटिक प्रेम के अवसान की सूचना है। रोमांटिक प्रेम आदर्श प्रेम होता है, दूसरे शब्दों में यह प्लेटोनिक होता है। इसलिए रोमांटिक प्रेम में विवाह का स्थान नहीं हैं और जब विवाह हो ही जाय, तो समझना चाहिए कि रोमांटिक प्रेम समाप्त हो गया।

'नूरजहां' और 'विक्रमादित्य' महाकवि श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त' के दो प्रणय-काव्य हैं। कवि ने इन दोनों काव्यों में रोमांटिक प्रेम को अभिव्यक्ति दी है। नूरजहां में पहले कवि ने सलीम और अनारकली के बीच और फिर सलीम एवं मेहर के बीच प्रणय का चित्र अंकित किया है। 'विक्रमादित्य' में एक ही प्रेमी चन्द्रगुप्त से तीन-तीन नारियां—ध्रुवदेवी, कुबेरनागा और वीणा प्रेम करती हैं। रोमांटिक प्रेम का उदय एकाएक होता है। ध्रुवदेवी स्वयंवर में चन्द्रगुप्त को देखती है और उसके गले में जयमाला डाल देती है—

> मानस-सिंहासन पर निज सम्राट
> बिठा मैंने तत्काल,
> श्रद्धायुत निज हृदयेश्वर को दी
> पहना मधूक की माल।[15]

यद्यपि कुबेरनागा चन्द्रगुप्त की विवाहिता पत्नी है, पर दोनों का कभी मिलन नहीं हुआ है। दोनों एक दूसरे से अपरिचित हैं। नियति ने दोनों को अपरिचित, निर्वासित, अनाथों के रूप में अकस्मात् नदी-तट पर वन में मिला दिया। दोनों के हृदय में एक दुसरे के प्रति प्रेम-भावना उत्पन्न हो जाती है। क्षत्रपकन्या वीणा भी वनवासी चन्द्रगुप्त पर प्रथम मिलन में ही मोहित हो गई और प्रेम-बावली हो गई। नूरजहां में भी सलीम अनारकाली के कला-प्रदर्शन और उसके अपूर्व सौंदर्य को देखकर उसके प्रेम-जाल में फंस जाता है—

> लख कला प्रदर्शन उसका,
> उसका सौंदर्य निराला।
> सुध खो सलीम तन मन की,
> हो गया प्रेम मतवाला।[16]

और अनारकली की मृत्यु के उपरान्त सलीम जब मेहर से प्रेम करना आरम्भ करता है, तो वह प्रेम भी आकस्मिक है। सलीम मेहर को शाही उपवन में देखता है और वह मेहर के प्रणय-दीप का शलभ बन जाता है। होता यह है कि मेहर अपनी उंगली, जिसमें गुलाब का फूल तोड़ते समय कांटा चुभ गया था, थामे सलीम के पास आती है। सलीम अपना आंचल फाड़कर उंगली बांध देता है। सलीम के इस भोलेपन पर मेहर लटट् हो गई—"कांटा लगा दूसरा दिल में दामन के फटते ही"।[17] इतना ही नहीं, जब मेहर के हाथों से एक कबूतर उड़ गया और सलीम के पूछने पर कि वह कबूतर किस प्रकार उड़ गया, तो मेहर ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उसी भोलेपन से जवाब दिया—

उत्तेजित हो पूछा उसने उड़ा, अरे वह कैसे ?
फड़ से उड़ा, दूसरा, बोली, उड़ा देखिये ऐसे ।[18]

ये आकस्मिक घटनाएं सलीम और मेहर को एक दूसरे के प्रणय-पाश में आबद्ध कर देती हैं । इस प्रकार भक्त जी के प्रणय-काव्य में प्रेम का आगमन आकस्मिक होता है । प्रणय-कमल मुकुलित होकर विकसित नहीं होता है ।

भक्त जी ने अपने प्रणय-काव्य में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया है, वह रूढ़ि, परम्परा, जाति और धर्म से मुक्त होने के कारण रोमांटिक है । शहजादा सलीम एक साधारण नर्तकी अनारकली और बाद में एक गरीब सौदागर की लड़की मेहर से प्रेम करता है । ध्रुवदेवी सम्राट रामगुप्त की उपेक्षा कर चन्द्रगुप्त के गले में अपना प्रीतिमाल डालती है । राजकुमारी वीणा भी चन्द्रगुप्त को राजकुमार जानकर नहीं, वरन् 'सुन्दर युवक-मुकुट मणि" समझ कर ही उसे हृदय न्योछावर कर देती है । राजकुमारी कुबेरनागा और राजकुमार चन्द्रगुप्त भी एक दूसरे की स्थिति से सर्वथा अपरिचित रहकर ही परस्पर प्रेम करते हैं । यह भी रूढ़ि एवं परम्परा के विरुद्ध ही है कि चन्द्रगुप्त एक ही साथ तीन-तीन नारियों के प्रणय के अवलम्ब बने हुए हैं । सलीम भी अनारकली की मृत्यु के बाद मेहर से प्रेम करने लगता है । रोमांटिक प्रेम मध्यकालीन नैतिकता को स्वीकार नहीं करता और इसलिए एक प्रेमपात्र की मृत्यु के बाद दूसरे को स्वीकारने से मना नहीं करता—"अंधेरे घर में दीपक जलाना कब मना है ?"

रोमांटिक प्रेम में प्रेम-पात्र का पाना असंभव तो नहीं, परन्तु कठिन अवश्य रहता है । इससे प्रेम-पात्र का मनोवैज्ञानिक महत्व बढ़ जाता है । प्रेमी का प्रेम पात्र के प्रति आकर्षण और ललक बढ़ जाती है । यह कठिनाई उसके प्रेम को तीव्र और आवेगपूर्ण बना देती है । प्रेमी अपने प्रेम-पात्र को पाने के लिये हर प्रकार के कष्ट और बाधा को झेलता रहता है । वह बड़ा उद्विग्न हो उठता है । अकबर जब अनारकली से सलीम के विरुद्ध प्रणय-याचना करता है और अनारकली द्वारा अस्वीकार किये जाने पर धमकी देता है, तो उसके प्रेम की तीव्रता और उत्कटता निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हो उठती है—

मैं रानी नहीं बनूंगी, रहने दो मुझे भिखारिन ।
मैं जपा करूंगी माला अपने प्रियतम की निशिदिन ।[10]

और सलीम तो अष्टम एडवर्ड के समान अपनी प्रेमिका के लिए ताज को ठुकराने के लिए तैयार हो जाता है और आगरा छोड़कर अनारकली के साथ लाहौर जाने के लिए तत्पर हो जाता है । परन्तु अनार प्रणय की भूखी थी, वासना की नहीं । अनार को सलीम से भरपूर प्रणय मिला था । उसे वासना से कलंकित नहीं करना चाहती थी । रोमांटिक प्रेम अशरीरी होता है, इसलिए वह वासना से मुक्त होता है । अनार अपते रोमांटिक प्रणय की पवित्रता पर बलिदान हो गई—विषपान कर चिरनिद्रा में सो गई । अनारकली सलीम से कहती है :—

नहीं वासना है विलास की प्रणय मिला दर्शन पाया ।
क्षमा मांगकर अन्त समय में प्रिय का आलिंगन पाया ।[20]

हर रोमांटिक प्रेम में बाधा या कठिनाई किसी न किसी रूप में अवश्य उपस्थित हो जाती है । सलीम और मेहर के प्रेम को भी जमीला की ईर्ष्या का झटका लगता है । मेहर का विवाह शेर अफगन से कर दिया जाता है । दोनों का संसार उजड़ जाता है । मेहर के हृदय में प्रेम और सतीत्व का द्वंद्व छिड़ जाता है । वह दोनों को स्वीकारती है । रात्रि में सलीम मेहर के पति की हत्या करने आता है । मेहर का सतीत्व सलीम को डांट भगाता है । परन्तु सलीम के चले जाने के बाद वह मूच्छित होकर पृथ्वी पर गिर जाती है सलीम का प्रेम मेहर को धिक्कार देता है । सलीम और मेहर के प्रणय के बीच सतीत्व की दीवार खड़ी हो जाने से दोनों के प्रेम की उत्कटता बढ़ जाती है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेहर का सतीत्व उसके प्रेम को सहलाने का प्रयत्न करता है, परन्तु प्रेम की तीव्रता के सामने उसका सतीत्व कमजोर पड़ जाता है। नूरजहां का दसवां सर्ग मेहर की विदाई के करुण प्रसंग के साथ-साथ उसके सलीम के प्रति उत्कट प्रेम की भी व्यंजना करता है। मेहर का प्रेम उसके सतीत्व से अधिक स्वाभाविक और सहज होने के कारण वह मिलते ही सतीत्व को पराजित कर देता है। बंगाल चले जाने के बाद, प्रेम-पात्र की दूरी ने मेहर के प्रति सलीम के प्रेम को और तीव्र बना दिया। मेहर के पति की हत्या के बाद सलीम मेहर को आगरा लाता है। परन्तु सतीत्व प्रेम के आगे सदा बाधक के रूप में उपस्थित होता है। अंत में प्रेम सतीत्व पर विजयी होता है। मेहर सलीम के आगे झुक जाती है और सलीम उसके सिर पर ताज रख देता है:—

प्रेम अश्रु झलके आंखों में,
झुका दिया रमणी ने सर।
जहांगीर ने गदगद हो,
रख दिया ताज उसके सर पर॥[21]

काव्य इस प्रसंग के साथ ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि कवि का लक्ष्य सलीम और मेहर के प्रेम का चित्रण था, उनकी वासना का नहीं, जो रोमांटिक प्रेम को कलुषित कर देती है।

'विक्रमादित्य' में भी ध्रुवदेवी के प्रेम में चन्द्रगुप्त की उदासी ही मुख्य रूप से बाधक रूप में उपस्थित होती है। ध्रुवदेवी अपने कृष्ण की मीरा बन जाती है। अपने रूठे कृष्ण को मनाने के लिए वह विविध उपायों का सहारा लेती है। वह चन्द्रगुप्त को अपने भाई से विद्रोह कर उसे अपनाने के लिए कहती है, पर चन्द्रगुप्त उसके आग्रह को निर्दयता से अनसुना कर देता है। अपने प्रेम की उपेक्षा ध्रुवदेवी को तिलमिला देती है। वह चन्द्रगुप्त को अपने पति रामगुप्त के राज्य से निकलवा देती है। इससे ध्रुवदेवी के प्रेम की विह्वलता और बढ़ ही गई और प्रेम-व्यथित ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त की खोज में दर दर भटकने लगी। वह चन्द्रगुप्त के प्रेम में वियोगिनी बन जाती है—

इनकी उदासीनता ही ने मुझे विरक्त बनाया है,
इनके ही वियोग ने मुझ को योगिनी बना
नचाया है।[22]

अंत में ध्रुवदेवी का वियोग चन्द्रगुप्त की उदासी पर विजयी होता है। चन्द्रगुप्त के हृदय में ध्रुवदेवी के प्रेम की मधुर पीर जग पड़ी—

उठ रही पीर है कैसी मीठी-मीठी मानस में,
हाथों से निकला जाता क्यों हृदय नहीं है बस में,
हटा ली प्रत्यंचा टूटी अब तीर नहीं तरकस में,
गिर गया अंततोगत्वा, मन डूब,
चाह के रस में।[23]

ध्रुवदेवी का रोमांटिक प्रेम चन्द्रगुप्त की उदासीनता पर विजयी हो जाता है और चिर-वियोगी दो प्रेमियों का मिलन हो जाता है।

कुबेरनागा और चन्द्रगुप्त वन में एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित रहकर एक साथ रहे। दोनों विलासिता से दूर सख्य भाव से देश-भ्रमण करते रहे। जीवन की दुर्बलताओं के वे कभी शिकार नहीं हुए। एक आदर्श प्रेमी का वे जीवन-यापन करते रहे। परन्तु जब उनके बीच योगिनी-रूप में ध्रुवदेवी का प्रवेश हुआ तब ध्रुवदेवी को चन्द्रगुप्त से पूर्व-परिचित जानकर एक दिन कुबेरनागा अपने सहचर से अलग हो गई। ध्रुवदेवी की उपस्थिति कुबेरनागा और चन्द्रगुप्त के प्रेम में बाधक बन जाती है। यद्यपि इस समय की मार्मिक स्थिति पर कवि ने मौन स्वीकार कर लिया है और उसकी मार्मिकता पाठकों की कल्पना पर छोड़ दी है, परन्तु निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि कुबेरनागा चन्द्रगुप्त की मधुर पीड़ा की आग अपने हृदय में लिए उनसे अलग हुई—

कहीं रहो आनन्द करो तुम दो मुझको आशीर्वाद,
मैं तो भूल नहीं पाऊंगी जाना भूल हमारी याद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते-कहते फूट पड़ी वह आँखों ने कर दी बरसात,
ऐसी हिचकी बंध आई कुछ मुंह से निकल न
पाई बात ।[24]

इस वियोग से कुबेरनागा के प्रेम की तीव्रता बढ़ जाती है, जिसे कवि ने पाठकों की कल्पना पर छोड़ दिया है । कुबेरनागा प्रेम ज्वाला में तड़पती रहती है और तभी एक दिन चन्द्रगुप्त के सिंहासनासीन होने का समाचार पाकर वह अपने प्रेमी को बधाई देने वहां पहुंचती है । कुबेरनागा के कापालिक सम्बन्धी चित्र एवं कटार द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन होता है कि कुबेरनागा चन्द्रगुप्त की विवाहिता पत्नी है । शकुन्तला को दुष्यंत मिल जाता है । इस मिलन के साथ ही दोनों का रोमाँटिक प्रेम समाप्त हो जाता है, इसलिए कवि ने उनके दाम्पत्य-प्रेम का चित्र अंकित नहीं किया है, क्योंकि यह उनका अभिप्रेत विषय नहीं था ।

वीणा को भी चन्द्रगुप्त से प्रथम-दर्शन में ही प्रेम हो जाता है । वह चन्द्रगुप्त के दिव्य रूप पर विमुग्ध हो जाती है :—

है ललाट उन्नत हिम गिरि सा केशकलाप
कजलि-कानन,
भल्ल लिए आजानु बाहु में किधर चले वे
दिव्यानन ।[25]

ध्रुवदेवी के प्रेम जाल को तोड़ कर भागनेवाले चन्द्रगुप्त वीणा के प्रेम-जाल मे फंस जाते हैं—

जाल तोड़ कर मैं भागा था
फिर फँस गया, यही संयोग ।[26]

परन्तु प्रेम का पाहुन चन्द्रगुप्त अपनी प्रेमिका वीणा को अपने हार का उपहार दे उसे वियोग में जलने के लिए छोड़ चला जाता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त के शब्दों में :—

मैं तो इस समय बटोही हूं
मेरी गति है जैसे पारद,
अभिशाप किसीने देकर के,
है बना दिया मुझको नारद ।[27]

वीणा से उसके प्रेम-चिह्न के रूप में उसकी अंगूठी लेकर और उससे पुनः मिलने का आश्वासन उसे प्रदान कर चन्द्रगुप्त चला जाता है । इसके बाद वीणा की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना कोई भी सहृदय कर सकता है । रोमांटिक प्रेम में उसकी तीव्रता को बढ़ाने के लिए किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न करना आवश्यक-सा है । वीणा के प्रेम का आवेग आजीवन बना रहता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त के सिंहासनासीन होने पर जब वह उससे मिलने जाती है और ध्रुवदेवी के साथ उसे देखती है, तो अपने हृदय की पीड़ा अधोलिखित पंक्तियों में व्यक्त करती है—

उपहार कुछ न चाहिए मुझे,
मैं तो दर्शन की प्यासी थी,
जी बहलाने को निकल पड़ी,
जीवन में बड़ी उदासी थी ।[28]

वीणा के दर्शन की प्यास बड़ी प्रबल थी । उसका स्वप्न-संसार उजड़ चुका था, परन्तु प्रेम-लता हरी-भरी थी । रोमांटिक प्रेम शारीरिक सान्निध्य से अधिक भावना और सौंदर्य-दर्शन में निहित है । इसलिए अपने प्रेमी चन्द्रगुप्त के चन्द्रमुख के दर्शन कर अपनी प्रेम-पिपासा नित्य शांत करने के उद्देश्य से वीणा अपने जीवन को वीरसेन से नत्थी कर लेती है ।

रोमांटिक प्रेम अत्यन्त सुकुमार एवं कल्पनापूर्ण होता है । प्रेमी अपने प्रेम–पात्र के प्रति अपने हृदय में बड़ी सुकुमार भावना रखता है जिसकी व्यंजना वह बड़ी कल्पनापूर्ण भाषा में करता है । कल्पना रोमांटिक प्रेम का एक बहुत अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण तत्त्व है । रोमांटिक प्रेम प्रेमी को कल्पनाप्रवण बना देता है । वह अपने प्रेम-पात्र को सदैव कल्पना के रंग में रंग कर देखता है । इसलिए रोमांटिक प्रेम-पात्र कल्पना के रंग में रंगकर प्रस्तुत होने के कारण एक नई सृष्टि हो जाता है । जहाँगीर अपने हृदय की सुकुमार प्रेम-भावना कितनी कल्पनापूर्ण भाषा में मेहर के सम्मुख व्यक्त करता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा प्यारा स्वप्न बताओ,
कभी सत्य हो जाएगा ।
क्या सुख दो धाराओं का
कोई व्याह कराएगा ।।[29]

'नूरजहां' के चतुर्थ सर्ग में तो व्यथित अनार ने अपना सुकुमार हृदय ही खोल दिया है—

कुछ नहीं वासना मन में हां एक साध है बाकी ।
प्यासी आंखें कर लेतीं प्रियतम की
फिर इक झांकी ।।
... ...
तुम कुछ संदेह न करना मैं तुम्हें प्यार करती हूं ।
मैं तन मन धन से प्यारे तेरे ऊपर मरती हूं ।।
... ...
चिर निद्रा में सोने से पहले जब नयन बेचारे ।
हों ढूंढ रहे जब तुमको तब आ जाना प्यारे ।।[30]

विक्रमादित्य में ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त के सम्मुख अपना सुकुमार हृदय खोलकर रख दिया है—

दुख सरिता को आश्रय दो
अपने चरणों में सुखसागर,
एक बार मिल रास रचा दो,
राधा के हे नटनागर ।।[31]

ध्रुवदेवी का प्रेम चन्द्रगुप्त की उदासी पर विजय पाकर जब उसके हृदय में प्रेम की लहर उत्पन्न कर देता है, तो यह सारा संसार चन्द्रगुप्त की आंखों के सम्मुख ध्रुवदेवीमय हो जाता है—

कौन पुतली दृग पुतली बनी,
किए है लोचन में आवास ।
प्रकृति छवि में प्रतिबिम्बित हुआ,
बिखर जिसका सौंदर्य विलास ।[32]

रोमांटिक प्रेमियों की प्रेमिकाएं कल्पनालोक की सृष्टि हो जाती हैं । वे मानवी न रहकर देवी हो जाती हैं । प्रेम के सुकुमार हाथों में पड़कर कल्पना का वैभव और समृद्ध हो जाता है । चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी को कहता है—

तुम अमरलोक की देवी हो, मैं मानव हूं, कितना अंतर,
तुम बन प्रतीकिनी श्रद्धा की उठ गई प्रेम से भी ऊपर ।[33]

और इन पंक्तियों में चन्द्रगुप्त के प्रति वीणा के प्रेम की सुकुमारता कितनी मार्मिकता से व्यंजित हुई है :—

विनय और संकोच व्यर्थ है
आज छोड़िए शिष्टाचार,
आज सुरा की नदी बहाकर
डूब भुला दें सब संसार,
श्रम से भोरी शिथिल देह है
विजन मार्ग में काली रात,
पाहुन कोई इस अवसर पर
कहता है जाने की बात ।[34]

अंतिम पंक्ति की मार्मिकता कितनी व्यंजना-पूर्ण है, उसे तो कोई भी व्यक्ति अनुभव कर सकता है ।

इस प्रकार 'भक्त' जी के दोनों प्रणय-काव्यों में रोमांटिक प्रेम की व्यंजना बड़े ही ऊंचे स्तर पर काव्योचित गरिमा के साथ हुई है । हिन्दी काव्य में यह 'भक्त' जी को गौरव प्राप्त है कि उन्होंने पहली बार अपने प्रथम काव्य में रोमांटिक प्रेम को अत्यन्त सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति दी है । हिन्दी काव्य-साहित्य में कोई भी ऐसा साहित्यिक प्रयास उदाहृत नहीं किया जा सकता, जिसमें रोमांटिक प्रेम अपने मौलिक रूप में व्यक्त हुआ हो । वस्तुतः हिन्दी-काव्य साहित्य के इतिहास में 'भक्त' जी की बहुत बड़ी उपलब्धि है ।

१. धर्म, नैतिकता और विज्ञान, दिनकर, पृ० १६
२. उर्वशी : दिनकर, पृ० ६२
३. धर्म, नैतिकता और विज्ञान : दिनकर, पृ० १७
४. विवाह और नैतिकता : रसेल, पृ० ४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. वही : पृ० ४८
६. वही : पृ० ४९
७. वही : पृ० ५१
८. उर्वशी : दिनकर, पृ० ३५
९. विवाह और नैतिकता, पृ० ५०
१०. उर्वशी : उपलब्धि और सीमा : डा० विजेन्द्र नारायण सिंह, पृ० ८८
११. छायावाद : डा० नामवर सिंह, पृ० ८२
१२. वही : पृ० ६२
१३. उर्वशी : उपलब्धि और सीमा, पृ० ११९
१४. विवाह और नैतिकता, पृ० ५०
१५. विक्रमादित्य : भक्त
१६. नूरजहां : भक्त, पृ० २४
१७. वही : पृ० ५०
१८. नूरजहां, पृ० ५०
१९. नूरजहां, पृ० ३३
२०. वही, पृ० ४२
२१. नूरजहां, पृ० १४५
२२. विक्रमादित्य : भक्त, पृ० १२९
२३. विक्रमादित्य, पृ० २४
२४. वही : १३४
२५. विक्रमादित्य, पृ० ४८
२६. वही : पृ० ४९
२७. वही : पृ० ७१
२८. वही : पृ० २०९
२९. नूरजहां, पृ० १४४
३०. वही : पृ० २८-२९
३१. विक्रमादित्य, पृ० २
३२. वही : पृ० ७५
३३. वही : पृ० १२१
३४. वही : पृ० ४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमभूषण गोयल,
भाषा विभाग पंजाब,
पटियाला।

गुरु तेग बहादुर का जीवन और वाणी—एक अध्ययन

गुरु तेग बहादुर (१६२१-१६७५) मां भारती के उन सपूतों में से हैं जो देश-धर्म के लिए जिए और देश धर्म के लिए अपने प्राणों तक का सहर्ष उत्सर्ग कर गए। ऐसे महान वीर अपने प्राणों का दीपक बुझाकर आने वाली पीढ़ियों का राह रोशन करते हैं। गुरु तेगबहादुर जी ने मुगल साम्राज्य के अन्याय, जुल्म, अत्यचार, असहिष्णुता, साम्प्रदायिक कट्टरता एवं संकीर्णता को चुनौती दी। न उनके पास कोई तोप थी, न कोई सल्तनत। यदि कुछ था तो उनका आत्मिक बल, अपने आदर्शों के प्रति अडिग निष्ठा, और अपने मार्ग की सत्यता के प्रति विश्वास। उन्होंने अपनी अनूठी शहादत से अन्याय और अत्यचार को 'बालू की भीति' को ही खत्म नहीं किया वरन् उनकी शहादत ने सोए हुए मानव की मानवता को सदा सदा के लिए जगा दिया। जो लोग जुल्म और जबर को भगवान की देन या किस्मत का चक्कर मानकर निष्कर्मण्य हुए बैठे थे, ऐसे लोगों में उनकी शहादत ने एक चिंगारी फूंक डाली। वे वेदार हो उठे। उन्हें यह समझने में अब कोई कठिनाई न रही कि अत्याचार के विरुद्ध इस प्रकार भी जूझा जा सकता है, इस प्रकार अन्याय को खत्म किया जा सकता है, हमेशा हमेशा के लिए। गुरु तेगबहादुर जी ने अपने अनूठे व्यक्तित्व से भारत की सोई हुई आत्माको झकझोर कर जग दिया। उन्होंने धर्म, सत्य, और देश की रक्षा की। वे सचमुच हिन्द की चादर थे :—

प्रगट भए गुरु तेग बहादर।
सगल सृष्टि पै ढापी चादर।
करम धरम की जिन पति राखी।
अटल करी कलियुग में साखी।

(सेनापति, गुरु शोभा)

(गुरु) तेगबहादुर जी का जन्म गुरु हरि गोबिन्द, षष्ठम गुरु, के धर माता नानकी के उदर से १ अप्रैल १६२१ ई० (तदनुसार १६ मगहर १६७५) को अमृतसर में हुआ। उनके चार भाई और एक बहिन थी, बहिन का नाम (बीबी) वीरो था। इनका वंश वृक्ष नीचे दिया जा रहा है :—

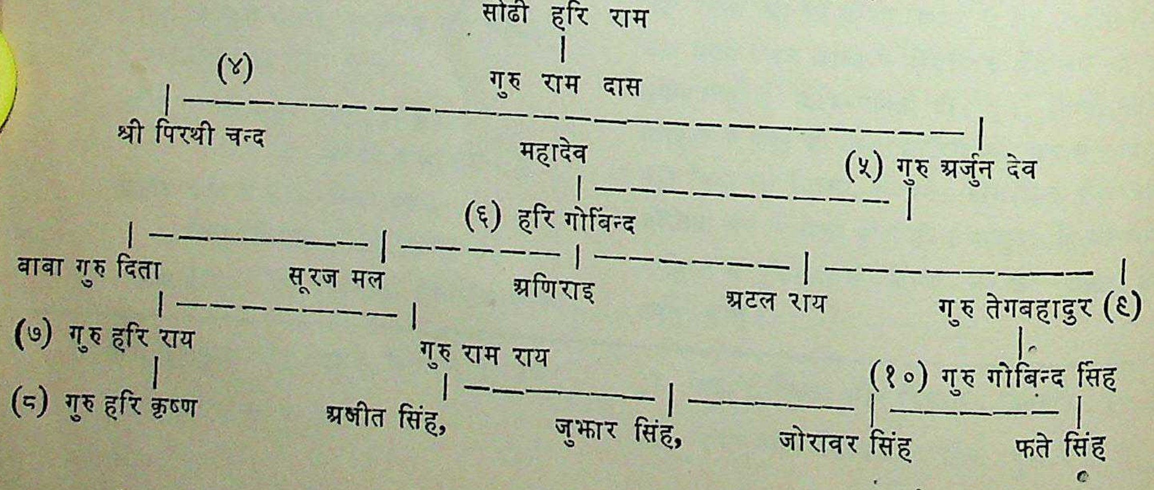

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु हरि गोबिन्द जी ने अपने गुरु-काल में ही दो तलवारें धारण करना शुरु कर दिया था। एक तलवार पीरी की थी, दूसरी मीरी की। इन्होंने समय की मांग के अनुसार ही, प्रतीक रूप में ऐसा करना शुरु किया था। उन्होंने मुगल साम्राज्य के सिखों के प्रति वैमनस्य पूर्ण रवैये को देख कर यह अनुभव कर लिया था कि अब दिन प्रतिदिन के बढ़ रहे अन्याय और अत्याचार को रोकने के लिए शस्त्रों का सहारा लेना ही होगा। सिख इतिहास में ही पंचम पातशाह गुरु अर्जुन देव जी के अमर बलिदान के कारण यह नया मोड़ आया था।[1] श्री सतवीर सिंह के अनुसार तो गुरु अर्जुन देव जी ही शस्त्रों के महत्त्व को उपदेश रूप में गुरु हरि गोबिन्द जी को समझा गए थे। वे लिखते हैं :—

"गुरु अर्जुन जी ने यह शहादत पहले ही देख ली थी और उनके हुकम पर अमल करना उनके पदचिन्हों पर चलना है। वे शहीद होने से पूर्व हुक्म के रूप में उपदेश कर गए थे, कि शस्त्र पहनने हैं और तब तक डटे रहना है जब तक ज़ालिम खत्म न हो जाएं या उनमें सुधार न हो जाए।"

श्री हरि गोबिन्द जी ने स्वयं मीरी और पीरी की तलवारें धारण कीं और अपने शिष्यों को घोड़े और शस्त्र ही उपहार स्वरुप लाने की आज्ञा भी की। उनकी अपनी ही देख-रेख में अपने सपुत्रों को शिक्षा प्रदान की गई। इस शस्त्र-शिक्षा में अपनी दक्षता को गुरु तेगबहादुर ने करतारपुर के युद्ध में भली भांति प्रदर्शित किया था। उस समय इनकी आयु लगभग १४ वर्ष थी। धर्मवीर पिता अपने पुत्र की रणभूमि में दिखाई बीरता को देखकर बहुत प्रसन्न हुए थे। और उन्होंने बड़े ही आनन्दित होते हुए कहा था- "त्याग मल तू तो खूब तेग चलाता है। तू त्यागी नहीं, तू तो तेगबहादुर है।"

बस उस दिन से गुरु-पुत्र त्यागी गुरु तेगबहादुर के नाम से जाना जाने लगा।

गुरु तेगबहादुर का विवाह करतारपुर में (माता) गूजरी जी से १५ आश्विन १६८९ को हुआ। माता गूजरी से ही दशम पातशाह साहिब श्री गोबिन्द सिंह जी का जन्म हुआ।

उस समय का राजा अपने कर्तव्य से विमुख, जनता के संत्रास का कारण हो गया था। राज्य के लिए प्रजा बराबर होती है, कोई किसी भी धर्म या मत को मानने वाला हो, कोई हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो या पारसी मगर राजा की दृष्टि में सब बराबर होते हैं, अपनी प्रजा होते हैं जिनके प्रति उसका प्रथम कर्तव्य है कि उनकी सुख सुविधा के साधन जुटाने में कोई कमी न रहने दे। मुगल सम्राट राज्य के इस उच्च आदर्श से भटक कर कुमार्ग की ठोकरें खाने लगे थे। असहिष्णुता एवं संकीर्णता के कुमार्ग को वे सन्मार्ग समझने का पूर्वाग्रह करने लगे थे। गुरु हरि गोबिन्द जी ने इस दुराग्रह और अन्याय के विरुद्ध लोगों को संगठित करना शुरु कर दिया था। लाहौर, करतारपुर, और नथाना के युद्ध बड़े पैमाने पर मुगल-सिख संघर्ष की शरूआत थी, करतारपुर नथाना इत्यादि के युद्धों में विजयी होने के पश्चात् श्री हरि गोबिन्द जी अमृतसर छोड़कर कीरतपुर में जा बसे थे। सैनिक दृष्टि से यह स्थान बहुत ही सुरक्षित और बढ़िया था। इस बीच गुरु हरि गोबिन्द जी ने सब से बड़े साहबजादे बाबा गुरु दित्ता जी के पुत्र हरि राइ जी को गुरु गद्दी का अधिकारी बनाया।

गुरु तेगबहादुर जी अपनी माता के साथ अपने ननिहाल, बाबा बकाला, चले गए। वहां उन्होंने खूब तपस्या की। मगर नवयुवक तेगबहादुर अपने देश और देश-वासियों की दुर्दशा को अपनी दिव्य दृष्टि से देख रहे थे। अन्याय और अत्याचार से पीड़ित लोगों के रुदन क्रन्दन को वे जब सुनते तो उनके मन में एक तूफान सा उठ खड़ा होता। वह सिंह की तरह वीर थे तो उनका हृदय सन्त का हृदय था जो माखन की तरह एक दम द्रवित हो जाता है।

ऊधर मुगल साम्राज्य में दिन प्रति दिन अत्याचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दमन चक्र तेज होता जा रहा था। भारतियों की यह स्वतन्त्रता कि वह अपनी इच्छा के धर्म का पालन करते रहें, अब छीनी जा रही थी। लोगों को बलात् धर्म-परिवर्तन पर मजबूर किया जा रहा था। सरमद जैसे सूफी फकीर पर भी उनकी तलवार उठी।

सिखों के गुरु और उनके शिष्यों पर भी मुगल सम्राट नाराज था। वह इस लहर को भी कुचल देना चाहता था। किसी भी तरह मुगल साम्राज्य की शह पर सिखों के अष्टम गुरु हरि कृष्ण जी के देहावसान के पश्चात् अमृतसर, कीरतपुर तथा कई अन्य गुरुद्वारों पर मसन्दों और सरकारी एजेन्टों ने बलात् कब्जा करना चाहा। इस मनोरथ के लिए सरकार ने कभी किसी को कभी किसी को कठपुतली बनाया। मगर इस षड्यंत्र में सिख नहीं फंसे। अन्य भारतियों की तरह उन पर भी जुल्म किए जा रहे थे। कदम कदम पर उन्हें सताया जा रहा था। इस से भी वे निरुत्साहित नहीं हुए। उन्हें इस अत्याचार में भी एक आशा की किरण दिखलाई दे रही थी। आठवें गुरु का फर्मान उन्हें याद था 'बाबा बकाला'। सिख श्रद्धालुओं को विश्वास था कि बाबा बकाला से एक सूर्य चमकेगा जो भूली भटकी मानवता के मार्ग को आलोकित करेगा, अत्याचार और का अन्याय अंधकर मिट जाएगा, सत्य का प्रकाश चतुर्दिक फैलेगा। पंजाब का जन-जन बकाला पहुंचने लगा। सूरज की तलाश में, प्रकाश की खोज के लिए। वहां लगभग २२ गद्दियां लगी हुई थीं। अर्थात् २२ लोग अपने आपको गुरु गद्दी का उत्तरधिकारी घोषित कर चुके थे। इस जमघट से सच्चे गुरु को ढूंढ निकालना एक विकट समस्या थी। परन्तु माखन शाह, बाबा द्वारकादास, भाई गढ़ीया आदि श्रद्धालुओं को सच्चा गुरु ढूंढने में कुछ भी देर न लगी। माखन शाह तो गुरु के दर्शन से विभोर ही उठे और छत पर चढ़ कर पुकारने लगे। "गुरु लाधो रे गुरु लाधोरे," (गुरु मिल गया है।) इस प्रकार गुरु तेगबहादुर जी २० मार्च १६५५ को गुरु-गद्दी पर विराजमान हुए।

गुरु लाधोरे की घोषणा सुन कर पाखंडी गद्दीदारों ने उपद्रव किये यहां तक कि मसन्दों ने तो गोली तक चला दी। मगर शान्ति सागर गुरु तेगबहादुर जी किंचित भी विचलत न हुए और उपद्रवियों को भूला हुआ जान कर क्षमा कर दिया। धीरे धीरे यह उपद्रव शान्त होते गए। इन घटनाओं से गुरु तेगबहादुर जी की क्षमाशीलता तथा उनके हृदय की विशालता और उदारता का पता चलता है। गुरु तेगबहादुर जी लगभग १० वर्ष ७ दिन गुरु-गद्दी पर रहे। गुरु बनते ही वे धर्म यात्रा पर निकल पड़े और जन-जन में सत्य धर्म का प्रचार करते रहे। उन्होंने जंगल, मालवा, पुआध, बांगर, बिहार, आदि की यात्रा की।

शहादत

इसी बीच औरंगजेब ने नई दमन नीति की घोषणा की जिस के फलस्वरूप देश के एक वर्ग विशेष पर अधिक जुल्म किया जाने लगा। काशमीर में इस नई नीति को कार्यान्वित किया जाने लगा। क्योंकि वहां का सूबेदार औरंगजेब से भी बढ़ कर साम्प्रदायिक कट्टरता एवं असहिणुता का रोगी था। केसर की क्यारी में उसने आग लगा दी। काशमीर का नवाब लोगों के प्रति बहुत ही निष्ठुर हो रहा था। गुरु तेगबहादुर जी उन दिनों असम की यात्रा पर थे। जब उन्होंने इस अत्याचार के विषय में सुना तो वे तुरन्त रास्ते से ही वापिस हो गए। आनन्दपुर पहुंचे तो काशमीरी पण्डित आनन्दपुर आए और अपनी करुण गाथा सुनाई:—

एक आसरा आप गुसाई।
गहहु बांहु डूबति सभि जाई।
निज करुना तरनी वर धरो।
करुनाधार बनि पारहि करो।
जुग ते विनसनि लगहि धरम जवि।
प्रभु अवितार सुधरि तुरंत तवि।
बनहि सहाइक लगहि उबार।
सुनी पति कथा पुरान मझार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसहु जवि हिन्दुन की टेक ।
नाहिन जग माहं रहे न एक ।
धरम भ्रिसट जवि सगरे होई ।
पुजहि सुर आदिक नहिं कोई ।
हीम जगय सगरे विनसैं के ।
वहुरे देव किभ बिरधा पे है ।
परहि महा दुरभिच्छ घनेरे ।
जग भी विनसि जाई तिस वेरे ।
यांते अवि हीं पनु सहाइ ।
हिन्दु धरम की लसेहु वचाइ ।
सुर आदिक की रछा होइ ।
रहे जगत मिरजादा जोइ ।

(श्री गुरुप्रताप सुरज ग्रंथ)

अति और दुखि होइ हिंदु सभ गरु ढिग
आइ पुकारे,
हुकम अकाल पुरख का तुम को राखो
धर्म हमारे ।[2]

(ज्ञानी ज्ञान सिंह पंथ प्रकाश)

गुरु साहिब का हृदय उनकी करुणा-कथा से द्रवित हो गया । वे गहरी सोच में डूब गए । वे सोचने लगे इनका दुख कैसे दूर हो ?" इसी बीच गुर'-पुत्र बालक गोविन्द बाहर से खेलते हुए उनके पास पहुंचे । अपने पिता और पण्डितों को उदास देखकर उन्होंने उनकी उदासी का कारण पूछा । गुरु तेगबहादुर जी ने काशमीरी पण्डितों की दशा बतलाई ।

(गुरु) गोबिंद जी ने उनके दुख निवारण का साधन पूछा तो तेगबहादुर जी ने कहा कि किसी महापुरुष के बलिदान देने से ही इनका दुख दूर हो सकता है ।

इस पर बालक गोबिन्द ने झट कहा "पिता जी, फिर आप से बढ़कर कौन महान हो सकता है ?"

ज्ञानी ज्ञान सिंह ने इन मनोभावों को इस प्रकार अपनी कविता द्वारा अभिव्यकत किया है:—

बोले गुरु सतपुरख जे कोई सीस वली देवे,
तथ इह धरम हिंद का ठहिरे ना तर जाइ
जावे अधवे ।

ऐसे समें सख जग में समरथ पर उपकारी ।
ना महातमा है धरमातमा पूरन पुरख अवतारी ।
जे सिर दीए परजा बचे तो बिन देरी देईए ।
नफे वार इसके सभ सौदा और न कोई पकीए ।

(पंथ प्रकाश)

बस उन्हें शहादत का रास्ता मिल गया । गुरु जी ने काशमीरियों को यह कह कर विदा कर दिया कि औरंगजेब से जाकर कह दो कि यदि तेगबहादुर अपना धर्म बदल ले तो हम सब भी अपना धर्म बदल लेंगे ।

गुरु तेगबहादुर जी स्वयं देशवासियों की हालत को देखने के लिए यात्रा पर निकल पड़े । शहीदी यात्रा पर उन्होंने लोगों को अभय रहने का उपदेश दिया :—

भै काहु कउ देत नहि, नहि भै मानत आनि ।

मगर अत्याचारी शासक यह कब सहन कर सकता था । औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर जी को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया ।

आखिर गुरु तेगबहादुर जी और उनके कुछ शिष्यों को पकड़ कर लोहे के पिंजरे में बन्द करके, दिल्ली पहुंचा दिया गया । उनके शिष्यों पर असह जुल्म किए गए । भाई मतिदास को आरे से जिन्दा चीर दिया गया । भाई दयाले को उबलते हुए तेल की देग में जला दिया गया । और भाई सतीदास का अंग अंग काटा गया । यह सब कुछ गुरु तेगबहादुर जी के सामने किया गया । उन्हें भी धर्म बदलने के लिए कहा गया । मगर सब का पालक सत्य-मार्ग पर चलता रहा । फिर उन्हें करामात दिखाने के लिए बाध्य किया जाने लगा मगर वह सत्य पर अडिग रहे ।

तदुपरान्त उन्हें कई दारुण कष्ट दिए गए । पर उन्हें प्रभु का अटूट विश्वास का नाम सिमरन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहारा फिर वह किसी प्रकार के शरीरिक कष्ट से कैसे विचलित होते। गुरु तेगबहादुर जी तो इस शरीर एवं जग को नश्वर मानते थे, फिर किसी नश्वर चीज के लिए मोह कैसा। वह अपने आदर्श से बिलकुल विचलित न हुए। मानवता, धार्मिक सहिष्णुता, धार्मिक स्वतन्त्रता और मानवीय भाईचारे के इस महान् क्रान्तिकारी युग-पुरुष को ११ नवम्बर, १६७५ को दिल्ली के चाँदनी चौक में औरंगजेब ने शहीद कर दिया। उनके बलिदान ने भारत के कण कण में क्रान्ति की चिंगारी फूंक दी। यह चिंगारी जल्दी ही ज्वाला का रुप धारण कर गई। इस ज्वाला ने इस अत्याचारी राज्य को जला कर राख कर दिया। चांदनी चौक दिल्ली में स्थित सीस गंज गुरुद्वारा आज भी उनके अमर बलिदान की गाथा को दोहराता है और भारत में धार्मिक स्वत्रन्त्रता का नया कीर्तिमान स्थापित करता है। देश धर्म के लिए शहीद होने वाले देश और धर्म को जीवन दान दे जाया करते हैं। उनका बलिदान कलियुग में सचमुच एक चमत्कार से कम न था। गुरु गोबिन्द सिंह जी फर्माते हैं:—

तिलक जंजु प्रभु राखा ताका,
कीनो बड़ो कलु महि साका,
साधन हेतु इति जिनु करी।
सीस दीआ पर सी न उचरी
(बचित्र नाटक पृ० १०)

श्री गुरु नानक देव जी ने भी इसी आदर्श को स्थापित होता देखना चाहा था:—

जउ तउ प्रेम खेलन का चाओ
सिर धरि तली गली मेरी आओ।
ऐते मारगि पैर धरीजै।
सिर दीजै, काण न कीजै।
(सलोक म० १ वारां ते सटीक पृ: १४१२)

मानवता के शहीद और दीन हीन के रक्षक, गुरु तेगबहादुर जी के शीश को भाई जैता जी ने उठा लिया और वे किसी प्रकार आनन्दपुर पहुंच गए।

भाई जैता सीस गुरु का लै अनंदपुर आइओ।
भाई उदे लखी सो मिल गुरु तब दाह कराइओ।
(पंथ प्रकाश)

भाई जैता जी गुरु के अनन्य शिष्य थे। ये उस जाति से थे जिसे अब स्वीपर कहा जाता है। गुरु गोबिन्द सिंह जी ने उन्हें गले से लगा लिया और रंगरेटे गुरु के बेटे का वरदान दिया।

गुरु तेगबहादुर जी की शहादत से समूचे भारत वर्ष में शोक छा गया। परन्तु सुरलोक में जय जयकार थी:—

तेगबहादुर के चलत भयो जगत महिं सोक,
है है है सभ जग भयो, जै जै जै सुरलोक।
ठीकरी फोरि दिलीस सिर,
प्रभु पुरि किया पयान,
तेगबहादुर सी क्रिया करीना
कीनहु आन।

सत्य, मानवीय-भाईचारे, देश और धर्म के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने वाले कभी मरते नहीं अमर हो जाते हैं। उनका नाम कभी मिटता नहीं वह तो हमेशा के लिए अमिट हो जाता है।

गुरु तेगबहादुर की शहादत अद्वितीय ही थी। अपनी स्वर्थ-सिद्धि के लिये तो सभी लड़ते हैं, अपने राज्य के विस्तार के लिए भी कई मरते हैं, मगर विरले हैं जो दीन-हीन, निरीह, निस्सहाय इन्सान के लिए लड़ता है—उन के लिए शहीद होता है। कबीर जी के निकट तो शूरबीरता की पहचान ही यही है—

गगन दमामा बाजिओ परिओ नीसाने घाउ,
खेत नु सढि जो सूरमा अब जूझन को दाउ।
सूरा सो पहिचानीऐ जु लरे दीन के हेतु,
पुरजा पुरजा कटि मरे कबहुं न छाडे खेतु।

गुरु तेगबहादुर जी ऐसे ही वीर थे। वे दीन हीन जनता के दुख दूर करने के लिए शहीद हुए:— उन्होंने कोई कवच नहीं पहना था। बस हृदय में प्रभु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की टेक थी, पैर सत्य मार्ग पर थे और मन अभय था। गुरु तेगबहादुर जी क्षमाशील थे, शक्ति के स्त्रोत थे, शान्त सागर थे, शायर थे, निरीह और निस्सहाय लोगों के एकमात्र आश्रय थे, कर्मवीर थे, धर्मवीर थे, सचमुच उन्होंने अपनी अद्वितीय शहादत से वीरता के नए मापदंड स्थापित किये है।

गुरु तेग बहादुर जी की वाणी

गुरु तेग बहादुर जी का व्यक्तित्व जितना ओजपूर्ण, सबल, सशक्त, एवं प्रभावशाली था उतनी ही उनकी वाणी का संदेश भी अलौकिक और रसपूर्ण है। उनकी वाणी श्री गुरु ग्रंथ साहिब में महला ९ के अन्तर्गत दर्ज है। इसे सिखों के इस धार्मिक ग्रंथ में गुरु गोबिन्द सिंह जी ने चढ़वाया था।

हर रचना से उसके रचियता की ही झलक मिलती है। जितना रचयिता शक्तिशाली होगा, आचरणधारी होगा उतना ही उस कविता का स्तर ऊंचा और नैतिक पथ-प्रदर्शन करने वाला होगा। गुरु तेगबहादुर जी के व्यक्तित्व की तरह उनका कृतित्व भी महान् है, अनूठा है। उनका काव्य अध्यात्मिक क्षेत्र का है और इस अभाव ग्रस्त संसार की सन्तप्त मानवता के लिए सुख शान्ति का संदेश लिए हुए है। उनका उनके कविता के भावों की अभिव्यक्ति में सरलता स्पष्टता एवं सादगी है और भावों की गहनना, उच्चता एवं आध्यत्मिकता मन को भाव विभोर और रस से प्लावित कर देती है। वह कोमल कान्त-पदावली के रचयिता और सरस्वती के वरद पुत्र सूरदास की भान्ति मानव को प्रभु भक्ति का मार्ग दरशाते हैं। वह भगवान चाहे निराकार हो चाहे साकार।

गुरु तेगबहादुर की वाणी वैराग्य एवं त्याग की वाणी है, मगर उनका त्याग या वैराग्य निराशा की उपज नहीं, किसी निर्बलता का संकेत नहीं है। उनका त्याग और वैराग्य तो शान्ति और सबलता का प्रमाण है। जिस प्रकार उन्होंने आहिंसात्मक राह को अपनाते हुए अपना अनूठा बलिदान देकर यह प्रमाणित कर दिया कि अहिंसा सचमुच शूरवीरों का अस्त्र है, कायरों का नहीं, उसी प्रकार उनकी वाणी त्याग और वैराग्य की कोटि में होती हुई भी हम में किसी भी प्रकार की निराशा नहीं भरती। वह तो हमें जीने की कला सिखाती है। उनके काव्य में निराशा को ढूंढना या उसे निराशावादी कहना, न उनके साथ न्याय करना है और न ही उनके काव्य के साथ जो महान व्यक्ति जुल्म और जबर के निवारणार्थ अनोखी शान से मौन रहते हुए इस प्रकार जूझ सकता है, जिसके मौन ने यह चमत्कार कर दिखलाया जो कई बार शब्दों से भी असंभव है, उनकी वाणी कितनी शौर्य पूर्ण होगी, इसकी कल्पना कर पाना भी साधारण सामाजिक के लिए संभव प्रतीत नहीं होता।

यह ठीक है कि उनकी वाणी का यथेष्ठ भाग संसार की क्षणभुंगरता की ओर इंगित करता है। मगर कोई कवि संसार की क्षणभुंगरता के दिखलाने के कारण ही निराशावादी नहीं ठहराया जा सकता, कम से कम उस महान आत्मा को जिसका पूर्ण व्यक्तित्व और उसके अनूठे बलिदान की कीर्तिपूर्ण गाथा हमारे सम्मुख हो। संसार की क्षणभुंगरता एक सच्चाई है। सौ सच्चाई की एक सच्चाई है। गुरु तेगबहादुर जी ने भी अपनी वाणी में प्राणी मात्र का ध्यान इस सच्चाई की ओर ही आकृष्ट किया है :—

राम गइओ रावनु गइओ जा कउ बहु परवार
कहु नानक थिरु कुछ नहीं, सुपने जिउ संसार। ५०१

जो उपजिउ सो बिनस है परो आजु के काल
नानक हरि गुन गाइले, छाडि सगल जंजाल। ५२१

चिंता तांकी कीजिए जो अनहोनी होई
इहु मारग संसार को, नानक थिर नहि कोइ। ५११

यह संसार रैन-बसेरा है, फिर भी उन्होंने कर्त्तव्य को त्याग कर वन वन भटकने या इस संसार के कर्म क्षेत्र का त्याग करने के लिए नहीं कहा। वे तो कहते हैं :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काहे रे वन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा तोहि संगि समाई। (रहाउ)
पहुप मधि जिउ बास वसतु है मुकर माहिं जैसे छाई।
तैसे ही हरि बसे निरंतरि घट ही खोजहु भाई।
बाहरि भीतरि एको जानहु इहु गुरु गिग्रानु बताई।
जन नानक बिनु आपा चीनै मिटै न भ्रम की काई। २।
(राग धनासरी महला ९)

वह जीवन पर्यन्त कर्मशील और संघर्षशील रहे तथा उनकी वाणी भी हमें कर्म का संदेश देती है। संसार की नश्वरता, क्षणभंगुरता की ओर तो भारत के क्रान्तिकारी सन्त कवि कबीर ने भी देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया था।

मगर जिस प्रकार कबीर संग्राम जीवन में जुटाने वाले थे उसी प्रकार गुरु तेगबहादुर जी भी जीवन संग्राम के अद्भुत कुशल सेनानी थे। वे संग्राम में जीवन पर्यन्त जूझते रहे। वे अपने मन, वचन और कर्म से भी प्राणी मात्र की अन्याय विरुद्ध जूढने की प्रेरणा देते हैं, देते रहेंगे। उन्होंने फर्माया :—

बल हो आ बंधन छुटे सब कुछ होत उपाय।
संसार नश्वर और क्षणभुंगर है हम सभी जानते हैं।

मगर ऐसा लगता है जैसे हम जान बूझ कर सत्यता से आंखे मूंदे रहते है।

कबीर नौबति आपनी, दिन दस लेहु बजाइ।
ऐ पुर पटन ऐ गली, बहुरि न देखै आइ॥
सातों सबद जु गाज ते, धरि धरि होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैसन लागे काग॥
हाड़ जलै यू लकड़ी केस जले ज्यू घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास।
यह तन काया कुम्भ है, लीयां फिरे था साथ।
डबका लगा फूट गया, कछु न आया हाथ।
(कबीर ग्रंथावली, माता प्रसाद गुप्त)

यही कारण है कि हम में से कोई भी अपने प्राणों का मोह त्याग नहीं सकता, और दिन प्रति दिन बीमारी से अभाव से ग्रस्त अन्यार्य को सहन करते हुए भी जैसे-तैसे जीते रहते हैं। हम बलिदान नहीं दे पाते, नेक काम के लिए मर नहीं सकते, दीन दुखियों का गम दूर नहीं कर सकते क्योंकि किसी न किसी कारण या किसी न किसी तरह हम यह भूल बैठे है कि हमने भी इस संसार से जाना है। मगर गुरु तेगबहादुर जैसे प्रभु भक्त अपनी देह का मोह त्याग कर दूसरों के दुख को अपना दुख मान कर बड़े से बड़ा बलिदान देने के लिए कटिबद्ध हो सकते हैं, कटिबद्ध ही नहीं, प्राणों को हथेली पर रख कर अन्याय को चुनौती दे सकते हैं। ऐसा चमत्कार पूर्ण बलिदान वही दे सकता है जिसने इस शरीर को नश्वर जाना हो, संसार को क्षणभंगुर माना हो। दुख सुख को सम मानने वाला ही महान है—

जो नर दुख में दुख नहीं मानै,
सुख सनेहु और भै नहीं जाके।
कंचन माटी मानै ॥ रहाउ ॥
नह निंदिआ नह उसतति जाके
लोभु मोहु अभिमाना ॥
हरख सोग ते रहे निआराऊ
नांह मान अपमाना ॥ । ॥
आसा मनसा सगल तिआगे
जग ते रहे निरासा ॥
कामु क्रोधु जिह परसे नांहनि
तिह घटि ब्रहमु निवासा ॥
गुर कृपा जिउ जिह मर कउ कीनी
तिह इह जुगति पछाना ॥
नानक लीन भइओ गोबिन्द सिउ
जिउ पानी संगि पानी ॥

सहज व्यक्तित्व ही धर्म के लिए प्राणों की बाजी लगा सकता है। इस संसार में कर्म करते हुए मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग उन्होंने मनुष्य मात्रा को दिखलाया है। कलियुग में कहते है नाम सुमिरन ही एक आधार है। उनका फर्मान है:—

मुकति नाम ते पावत गुर
यह भेदु बताने ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहु नानक सोई नर गरुआ
जो प्रभु के गुन गावै ॥ । ३ । ३

और :—

कल नै एक नामु कृपा निधि
जहि जपे गति पावै

इस लिए वह राम नाम के स्मरण पर बल देते है :—

रे मन राम सिउ करि प्रीति ॥
सवन गोबिन्द गुन सुनउ अरु
गाऊ रसना गीति ॥ १ रहाउ ॥
करि साध संगति सिमर माधो
होहि पतित पुनीत ॥
कालु बियालु जिउ परिओ
होलै प्रभु पसारे मीत ॥ १ ॥
आजु कालि फुनि तोहि ग्रसि
है समझि राखउ चीति ॥
कहे नानकु रामु भजि ले जातु
उसुर बीत ॥
(सोरठि महला ९)

जिस घाट सिमरन राम को,
सो नर मुकता जान ।

जब राम धन प्राप्त होता है तब सब धन धूरि समान हो जाते हैं। फिर मन की भटकन मिट जाती है :—

भाई मैं धनु पाइओ हरि नाम
मनु मेरो धावत से छूटो करि बैठओ बिसराम ।
हरि को नाम बड़ा सुख दाई,
जा कउ सिमर अजामल तरवो,
मनकहि मति पाई
पंचाली को राम सभा में
राम नाम सुधि आई ॥

मगर इस भुक्ति के लिए अन्य साधन यथा योगी होना, बन बन भटकना नाना प्रकार के भेष बनाना या संन्यासी हो जाना इत्यादि को गुरु महाराज नितान्त भ्रामक मानते हैं। प्रभु तो सदा सब के अंग-संग है उसकी तालाश के लिये बाहर भटकना व्यर्थ है। वन वन ढूंढना बेकार है और उसकी तलाश के लिए नाना भेष धारण करने से भी कुछ नहीं बनता :—

मन रे गहि उन गुर उपदेश,
तिह जोगी कउ जुगति न जानउ ।
लोभ मोह माइआ ममता कुनि
जिह घट माहि पछानउ
पर निंदा उस तति नहीं जाके,
कंचन लोह समानो ।

सिरू कंपिओ पग डगमगै नैन जोति ते हीन ।

कहु नानक इह विधि भई तऊ न हरिरस लीन

डा० हरिभजन सिंह के अनुसार—

"गुरु तेगबहादुर की शैली उनके विषय के अनुरूप ही सर्वथा संयत और संतुलित है। उनकी रचना हर प्रकार के चांचल्य एवं प्रदर्शन से बचने का व्रत सा लिए हुए है। 'चंचल मन' को नाना रूपामाया के आकर्षण से बरजने वाली उनकी रचना स्वयं भाषा की नानारूपा केलि–क्रीडा के मोह में नहीं पड़ी। उस में प्रदर्शन की तड़क-भड़क नहीं संयम की गरिमा है।

अलंकारों का प्रयोग अधिकतर भाव में अतिरेक एवं तीव्रता लाने के लिए, विचार को बिम्बित तथा स्पष्ट करने के लिए अथवा कवि के भाषाधिकार के प्रदर्शन के लिए किया जाता है। प्रदर्शन-विषयक उद्देश्य तो गुरु तेगबहादुर की रचना से स्वत: बहिष्कृत है। मायातिरेक उनके विषयानुकूल नहीं। तीव्रता भी वस्तुत: अतिरेक का ही अंग है। उसके दर्शन भी इस रचना में दुर्लभ-से हैं। विचारों को बिंबित करने के उद्देश्य से ही गुरु तेगबहादुर ने अलंकारों का प्रयोग किया है।

यह प्रयोग भी गुण और भाव दोनों दृष्टियों से बहुत संयत रहा है। अतिशयमूल तथा विरोधमूक अलंकारों का तो सर्वथा अभाव है, केवल सादृश्यमूलक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकारों को ही स्थान मिल पाया है। और यह कदाचित् आवश्यक भी था। मानवीय पात्रों एवं परिस्थितियों से रहित, सम्पूर्ण-सृष्टि की अभावात्मकता की प्रचारक यह रचना सादृश्य मूलक अलंकारों के बिना बिम्बभाव के कारण, कदाचित् काव्य की श्रेणी में आ ही न सकती।

तो भी, गुरु जी के अलंकार-प्रयोग में प्रयास का सर्वथा अभाव है। किसी नये उपमान के दर्शन तो उनकी रचना में होते ही नहीं, पुराने उपमानों में भी केवल उन्ही का प्रयोग किया है जो अपने सारल्य और नित्य प्रयोग के कारण जनसाधारण की भाषा का अभिन्न अंग बन गये हैं।"

जीवन की व्यर्थता की ओर गुरु साहब की वाणी में इस प्रकार संकेत किया है:—

काहे रे बन खोजन जाई
सर्व निवासी सदा अलेपा,
तोही संगि समाई
पुहप मधि जिउ वासु बसत है,
मुकर मांहि जैसे छाई
तैसे ही हरि बसै निरन्तर,
यह ही खोजहु भाई।
बाहरि भीतरि ढको तानहु,
इहु गुर ज्ञान बताई
जन नानक दिनु आपा चीनै,
मिटै न भ्रम की काई।

जैजावँती राग में तो सिख गुरुओं में से केवल गुरु तेगबहादुर जी ने ही रचना की है। इस शब्द का छन्द विघान भी अद्वितीय है:—

जगत सुख मानु मिथिआ,
झूठो सभ साजु है।
सुपने जिउ-धनु पछानु
काहे पर करत मानु
बारु की भीति जैसे.
बसुधा कउ राज है।
नानक जन कहत बात,
बिनसि जैहे तेरो गात
छिनु बिनु करि गइओ कालु
जैसे जात आज है।

सलोक अथवा श्लोक भारत का बहुत पुराना छन्द है। इन से पूर्व बाबा फरीद, गुरु नानक, कबीर, तुलसीदास आदि इस का सफलता पूर्वक प्रयोग कर चुके थे। संस्कृत कवियों ने भी अपनी काव्य कला के जौहर इसी में दिखलाये थे।

मगर गुरु तेगबहादुर जी के श्लोक अनुष्टप छन्द में नहीं वरन् दोहा छन्द में लिखे गए हैं। भाई काहन सिंह जी लिखते है:—श्री गुरु तेगबहादुर साहिब कबीर और फरीद जी के श्लोक सब दोहा हैं। दोहा बहुत छोटा छन्द है और कवि को अपने काव्य कौशल को इसी में प्रदर्शित करना होता है। कवि को अपने भावों को बड़े ही संकोच से सक्षिप्तता से बांधना पड़ता है। बाबू राम चन्द्र शुक्ल के अनुसार जिस कवि में कल्पना ही समाहार शक्ति के साथ भाषा को समास शक्ति जितनी भी अधिक होगी, उतना ही वह पुस्तक रचना में सफल होगा। गुरु तेगबहादुर जी को श्लोक रचना में सिद्हस्तता प्राप्त है। वे बड़ी से बड़ी बात को श्लोक के छोटे से बांचे में यांध सकते थे। उनका कौशल देखिए:—

गुन गोबिंद गाइओ नही जनमु अकारथ कीन॥
कहु नानक हरि भजु मना जिहि विधि जल को मीन॥
बाल जुवानी अरू बिरध फुनि तीनि अवस्था जानि॥
नर चाहत कछु अउर अउरै की अउरै भई॥
चितवत रहि ओ ठगउर नानक फासी गलि परी॥
गरबु करतु है देह को बिनसे छिन मैं मीति॥
जिहि प्रानी हरि जसु कहिजो नानक तिहि जगु जीति॥

पहले गुरु जी की भान्ति उनकी भाषा में न पंजाबी का पुट है और न उसे सधुक्कड़ी भाषा ही कहा जा सकता है। गुरु तेगबहादुर की भाषा सरल, एवं स्पष्ट है। इसे परिमार्जित एवं परिष्कृत ब्रज भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नमूना कहा जा सकता हैं। ब्रज भाषा उस समय के उत्तरीय भारत की साहित्यिक भाषा थी। इस दृष्टिकोण से उनकी भाषा में अरबी, फारसी, शब्दों का कम प्रयोग भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। केवल तीन शब्द ही गाफल, हैरान, गुमान उनकी वाणी में आए हैं।

'हरि का नाम बड़ा सुखदाई' वाला शब्द ब्रजभाषा की सरसता, मधुरता, एवं कोमलता के उत्कृष्ट नमूनों में से एक है। इस शब्द को पढ़ सुनकर सहसा सूरदास के भजनों की भाषा की याद हो आती है। श्री गुरु तेगबहादुर जी की तरह गुरु गोबिंद सिंह जी को भी ब्रज भाषा पर पूर्ण अधिकार था। अन्य गुणों के साथ साथ उन्हें कविता और ब्रज भाषा भी बपौती के रूप में ही प्राप्त हुए थे।

गुरु तेगबहादुर की वाणी में प्रयुक्त क्रियाएं, बिगारयो, बीतियो उरझियो, लपटानी, हावै, गावै, उपजावै, सर्वनाम यथा छाहे मो, बाहु, कर्म कारक यथा कउ, कु, महि, शारक सब ब्रज भाषा के हैं। सम्बोधन यथा 'रे' साधो भी ब्रज भाषा के हैं।

'ल' और 'ड' के स्थान पर यथा टरैं (टलैं) सगरे (सगले) बादर (बादल) परी (पड़ी) भी ब्रज भाषा के साहित्य को प्रकट करते हैं। कुछ शब्द पंजाबी के जरुर व्यवहृत हुए हैं। मगर उन्हें अपवाद ही समझा जाना चाहिए। मगर इन कुछ शब्दों के कारण ही इनकी भाषा को सधुक्कड़ी कहा जा सकता है, न ही हिन्दुस्तानी। उनकी भाषा के बारे डा० हरिभजन सिंह का मत अपनी निष्पक्षता के कारण दृष्टव्य है।

गुरु अर्जुन देव तक आते आते गुरुओं द्वारा शुद्ध हिन्दी में लिखने की परम्परा स्थिर हो चुकी थी। मिश्रितभाषा में लिखने की रुचि कम हो रही थी। शुद्धहिन्दी तथा ठेठ पंजाबी को ही काव्य रचना का माध्यम बनाया जा रहा था।

गुरु तेगबहादुर इसी शुद्ध भाषा परम्परा के अनुगामी हैं, उन्होंने न केवल मिश्रित भाषा में रचना नहीं की, बल्कि ठेठ पंजाबी को भी काव्य रचना का माध्यम नहीं बनाया। इस प्रकार ये प्रथम सिख गुरु हैं जिन्होंने विशुद्ध और केवल हिन्दी में रचना की है। पूर्ववर्ती गुरुओं से प्राप्त परम्परा को पुष्ट करने में उनके दीर्घकाल तक हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में निवास का भी निसंदेह हाथ रहा होगा।

गुरु तेग बहादुर की भाषा पूर्ववर्ती गुरुओं की अपेक्षा अधिक केन्द्रोन्मुख है। उसमें पंजाबियत का आग्रह नहीं है। उनकी भाषा तद्भव प्रधान होती हुई भी पूर्ववर्ती गुरुओं की अपेक्षा तत्सम की ओर अधिक झुकाव रखती है। पहले गुरुओं की भाषा की विशिष्टता है फारसी और देशज शब्दों का प्रचुर प्रयोग गुरु तेगबहादुर की सम्पूर्ण रचना में देशज और फारसी शब्दों का पूर्ण बहिष्कार है। देशज अथवा फारसी शब्द अपवाद रूप में भी दिखाई नहीं देते। एक और स्पष्ट अन्तर यह है कि किसी शब्द की रूप-विकृति नहीं हुई है। अत: उनकी भाषा में शब्दों का वह ग्राम्यीकृत रूप दिखाई नहीं देता जो पूर्ववर्ती गुरुओं की मुख्य विशेषता रही है। गुरु तेगबहादुर की भाषा स्पष्टत: अधिक नागरिक, अधिक केन्द्रमुख है।

शुद्ध भाषायी दृष्टि कोण से यह वाणी ब्रजभाषा की ही रचना ठहरती है। गुरु तेगबहादुर जी का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही महान् हैं। उन्होंने अपनी अमर वाणी और अद्वितीय शहादत से भारतीय इतिहास में क्रान्तिकारी युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके मूक बलिदान की प्रत्येक भारतीय के हृदय पर अमिट छाप है।

यह फिर कैसे हो सकता था कि भारत के कवि जिनका हृदय एक साधारण सामाजिक से ज्यादा कोमल होता है, उन से अभावित रहता। यदि केवल हिन्दी साहित्य को ही लें तो अनेक कवियों ने गुरु तेगबहादुर जी को अपने काव्य द्वारा भावभीनीं श्रद्धाजलियां अर्पित की हैं। गुरु गोबिन्द सिंह (बिचित्र नाटक) रत्न सिंह भंगु, (प्रचीन पंथ प्रकाश) ज्ञानी ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंह (पंथ प्रकाश) भाई संतोख सिंह (श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ) सरूप दास भल्ला, (महिमा प्रकाश) सेना पति (गुर सोभा) ने गुरु-स्तुति की है। यहां तक कि भारत के राष्ट्रीय कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने भी गुरु कुल में गुरु तेगबहादुर जी की याद में काव्य श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है :

तेगबहादुर, हां, ये ही थे गुरु-पदवी के पात, समरथ,
तेगबहादुर, हां, वे ही थे गुरु-पदवी थी जिनके वरथ।
तेगबहादुर हां वे ही थे पंचामृत-सर के अरविंद,
तेगबहादुर, हां वे ही थे जिनमें जनमे गुरु गोबिन्द।
तेगबहादुर, हां वे ही थे भारत की माई के लाल,
तेगबहादुर हां, वे ही थे जिनका कुछ कर सका न काल।
तेगबहादुर, हां वे ही थे मर कर जिला गए जो जाति,
तेगबहादुर, हां वे ही थे जिनके अमर नाम की ख्याति।

इस प्रकार गुरु तेगबहादुर जी अमर वाणी के रचयिता एवं कवियों के कवि ठहरते हैं।

आज का युग और वाणी

आज के युग-विशेष में गुरु तेगबहादुर जी की वाणी का क्या महत्त्व है। वह आज के मनुष्य के लिए क्या संदेश लिए हुए है? क्या आज के मनुष्य की समस्याओं का कोई समाधान उनकी वाणी में उपलब्ध है? इन प्रश्नों पर सहसा ही आधुनिक मानव या सजग पाठक विचार करने बैठ जाता है। आज जब मनुष्य प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता एवं समानता के लिए बराबर जूझ रहा है, उनकी वाणी उनकी कुर्बानी हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। उनका ज्वलन्त उदाहरण हमें सत्य का मार्ग अपनाने की प्रेरणा देता है, सत्य मार्ग का अविचल राही बनने का चाहे यह मार्ग पर चलते हुए अपने प्राणों तक को क्यों न न्योछावर करना पड़े। बस बात केवल यही देखने की है कि मार्ग जिस का अनुसरण किया जा रहा है, वह वस्तुतः सत्य का ही मार्ग है। फिर इस पर चलते हुए मरने का भय कैसा। यह शरीर तो नश्वर है, संसार क्षणभंगुर है फिर सत्य, मानवता, परोपकार, दुखियों का दुख हरने, निरीह, निस्सहाय लोगों का सहारा बन कर अन्याय और अत्यचार को चुनौती देने वाला तो मर कर भी इस संसार में अमर हो जाता है। ऐसा कोई बिरला ही महापुरुष कर सकता है। गुरु तेगबहादुर जी ऐसे ही महापुरुष थे। वे सचमुच मानवता के शहीद थे, कर्मवीर थे, धर्म वीर थे, शूरवीर थे।

यदि देखा जाए तो शासक को अपने शसितों पर जुल्म करना शोभा नहीं देता, क्योंकि यह शासक धर्म या उनके कर्त्तव्य के प्रतिकूल है। बाबर ने जब भारत पर हमला किया तो निरीह जनता पर अत्याचार को देखकर गुरु नानक परमात्मा को उलाहना देने के लिए कहा थे।

एति मार पई कुरलाण तै की दर्द न आइआ।

यह ठीक है अन्याय करना शासक के लिए बुरा है, पाप है। मगर कुछ उन लोगों की मनोवृति भी देखते बनती है जो इस जुल्म को सहते हैं।

साहिर लुध्यानवी तो अत्याचार को सहन करना अत्याचारी का साथ देना मानते हैं:—

ज़ालिम को जो न रोके,
वह शामिल है ज़ुल्म में।
कातिल को जो न टोके,
वह कातिल के साथ है।

(आओ कि कोई ख्वाब बुने पृ ६४)

तिलक महाराज ने कहा था अन्याय करना पाप है, अन्याय सहन करना महापाप है। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए? हमें गुरु तेगबहादुर जी रास्ता दिखा गए हैं। हम उसका डट कर विरोध कर सकते है, अहिंसात्मक ढंग से, मौन रोष प्रकट करके, अपने प्राणों की बलि देकर। यह अहिंसात्मक बलिदान रणभूमि में जूझते हुए बलिदान से कहीं ज्यादा क्रांतिकारी होता है। इसी मूल मन्त्र को लेकर तिलक, गांधी जी ने अंग्रेजों का विरोध किया और तेगबहादुर जी के जैसे महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए अंग्रेजों को यहां से चले जाने के लिए मजबूर कर दिया। अंग्रेज सारी ताकत होते हुए भी यहां टिक न पाए।

आज जब दुनियां में लड़ाई झगड़े का डर बना हुआ है, युद्ध के बादल हर समय मनुष्य के सिर पर मंडराते फिरते हैं, दीन-हीन लोग भय से संत्रस्त हैं, बड़े-छोटों को हड़प करना चाहते हैं, शस्त्रीकरण की दौड़ लगी है। इन सभी रोगों का उपचार क्या है। पारस्परिक वैमनस्य, मनुष्य का संत्रास तभी दूर हो सकते हैं यदि हम सभी को समान समझें। हमारा सभी का आदर्श हो जीने दो। यह तभी संभव हो सकता है जब हम किसी से न डरें। और इसके लिए यह भी लाज़िम हो जाता है कि हम किसी को डराये भी न। गुरु साहिब ने फर्माया है:—

भै काहु को देत नहि,
नहि भै मानत आन।
कहु नानक सुनि रे मना,
ज्ञानी ताहिं बखान।

आज की संत्रस्त और भयग्रस्त, जनता की राहत के लिए यह वाध्य मुक्ति का मूल मंत्र सिद्ध हो सकता है।

उपसंहार

गुरु तेगबहादुर जी अमर शहीद थे, अनूठे गुरु थे, शन्ति के सागर थे, शक्ति के पुंज थे, क्षमाशील और उदारचित थे। उन्होंने दीन-हीन जनता के लिए शहादत देकर शहादत और शूरवीरता के नए मान दण्ड स्थापित किये हैं।

---

1. Gordon, The Sikhs, PP. 31
२. गुरु हरि गोबिन्द (पंजाबी) पंजाबी यूनि० : पटियाला पृ० ६
३. देखिए, गुरु गोबिन्द सिंह मार्ग, भाषा विभाग, पटियाला पृ० १०
४. गुरु गोबिन्द मार्ग, पृ० १०
५. गुरमुखी लिपि में उपलब्ध हिंन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ५०
३. गुरु छन्द दिवाकर पृ० १८८
७. हिंन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २४७
८. गुरमुखी लिपि में हिंन्दी काव्य— डा० हरिभजन सिंह पृ० ५४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उषा शर्मा,
बी. एच. १७४,
गली–४, मजीठा रोड,
अमृतसर

रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' कृत 'चन्द्रकला भानु कुमार' नाटक में चरित्र योजना

आचार्य द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। साहित्य में मनुष्य की भावनाओं का ही चित्रण होता है। अतः चरित्र चित्रण का किसी भी नाटक में अत्यन्त महत्त्व है। अन्तर्द्वन्द्व और कार्य व्यापार, रूढ़ियों और अन्तर्विरोध, वर्गीय रूप और जातीय संस्कार, सामाजिक चेतना और वैयक्तिक अहं-भाव, नीति-अनीति का संघर्ष, प्रकृत जीवन और उसमें सामाजिक यथार्थ का अन्वेषण—ये सब अनेक रूप, व्यक्तियों के विविध रासायनिक द्रव्य हैं, जिनके सन्तुलित मिश्रण और कलात्मक प्रतिफलन से साहित्य के सजीव व्यक्तित्व की सृष्टि होती है। साहित्य व्यक्तित्व की रचना मानव जीवन के अनेक व्यक्तित्वों का समुच्चय ही है। आज साहित्य में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा—चाहे वह सामाजिक हो या एकांगी—का साधन—चरित्र चित्रण है। इसीलिए नाटक या उपन्यास के उद्दिष्ट प्रभाव की प्राप्ति के लिए चरित्र-चित्रण जहां एक साधन है, वहां सजीवता और स्वाभाविकता की प्राप्ति के लिए अपने में एक साध्य भी है।[1]

द्विवेदी युग की अन्यतम विभूति रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' की एक मात्र नाट्य कृति उनका नाटक 'चन्द्रकला भानुकुमार' है। इस नाटक में कुल मिला कर पुरुष पात्रों की संख्या १८ है। इनके इलावा तपस्वी, सैनिक, राजा, राजकुमार, भाट, पण्डित, पाण्डे, विरहा गाने वाले प्रजागण इत्यादि अन्य पात्रों की योजना भी की गई है। स्त्री पात्रों की संख्या छः है। पात्रों का संख्या विस्तार तो अधिक है फिर भी कुछ प्रमुख पात्र हैं और कुछ गौण। पुरुष पात्रों में भानु कुमार, प्रताप कुमार, इन्द्रबली और दिक्पाल सिंह प्रमुख हैं और नारी पात्रों में चन्द्रकला और उसकी चारों सखियां। शेष पात्र इनके सहायतार्थ नाटक में प्रयुक्त हुए हैं।

भानु कुमार विजयनगर के राजा अमरसिंह का बेटा है। नाटक में चित्रित रूप के अनुमार वह कवि, संगीतज्ञ, प्रेमी, मित्र और योद्धा है। धर्मशील राजकुमार और मदनाहत प्रेमी के रूप में उसका द्वन्द्व द्रष्टव्य है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के नायक के सभी गुण उसमें हैं। प्रतापकुमार विजयनगर के मंत्री का पुत्र और भानुकुमार का मित्र है। वह भी कवि है, संगीतज्ञ है, योद्धा है, सच्चा सैनिक और मित्र है। इन्द्रबली और दिक्पालसिंह दोनों की अवतारणा खलनायक के रूप में हुई है। इन्द्रबली ईर्ष्या द्वेषाग्नि से आद्यन्त अनुस्यूत है। चन्द्रकला भानुकुमार का प्रेम सम्बन्ध उसे सह्य नहीं है, अतः वह युद्ध करने की ठान लेता है। एक सच्चे और वीर सेनापति के कर्त्तव्य को वह अच्छी तरह निभाता है लेकिन राजा की कायरता उसे युद्ध में हरा देती है। दिक्पाल सिंह अमरावती का राजा है, वह विलासी है, कायर है, युद्ध के दौरान वन में छिप जाता है। इन्द्रबली के उकसाने पर ही उसने युद्ध किया वरन् वह तो शस्त्र विद्या से अनभिज्ञ है......'हम तो स्त्री के लहंगे में छिपना ही अपना कर्त्तव्य समझने हैं।'[2]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र० कु० में शब्दों वह कामी जीव और भीरू है, प्रजा भूखों मर रही है और वह विलास में निमग्न है। धीरज भानुकुमार का आदर्श सेवक है जो स्वामी रक्षा को ही अपना कर्त्तव्य समझता है। संक्षेप में प्रमुख पुरुष पात्रों का यही परिचय है।

स्त्री पात्रों में कञ्चनपुर की राजकुमारी चन्द्रकला और उसकी सखियां आती हैं। अद्वितीय सौन्दर्य गरिमा से मण्डित राजकुमारी चन्द्रकला समस्त हिन्दु नैतिक रूढ़ियों को अपने चरित्र का अंग बनाए बैठी है। प्रेम के प्रति उसका पवित्रतावादी दृष्टिकोण है। भानुकुमार को देखे बिना ही उसके गुणों पर मोहित हो जाती है। स्वप्न में भानुकुमार के दर्शन से वह प्रेम विकसित हो जाता है। राजकुमारी अपने प्रेम को सावित्री के प्रेम के समान दृढ़ समझती है। नाटककार ने विवाह से पूर्व ही उसे पतिव्रता दिखाया है। भानुकुमार के प्रति उसका प्रेम एकनिष्ठ है। काव्य में रुचि रखने वाली राजकुमारी संगीतज्ञ भी है। चन्द्रावली प्रतापकुमार की पत्नी है और चन्द्रकला की अनन्य सखी है। मालती, कालिन्दी और सुदेवी राजकुमारी की सखियां हैं। मित्रता के आदर्श हेतु वे राजकुमारी को धर्म की शिक्षा देती हैं इसीलिए भानुकुमार भी उनकी प्रशंसा करता है।

नाटक के पात्रों के इस संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट होता है कि 'पूर्ण' जी की पात्र योजना यान्त्रिक ढंग की है। परम्परा के अनुसार उसमें नायक, प्रतिनायक, विदूषक, पीठमर्द आदि की योजना की गई है। प्रधान पात्रों के गुण-कर्म प्रदर्शन पर ही उन्होंने जोर दिया है। शेष सभी पात्र उसके सहायक हैं। इस यान्त्रिक पात्र योजना का परिणाम यह हुआ कि उनका यह नाटक अभिजात वर्ग के कृत्रिम चित्रण का साधन मात्र रह गया है।

नाटक का कोई भी पात्र चरित्र-विकास की अपेक्षा नहीं करता। सभी पात्र स्थिर हैं। किसी के चरित्र में लेषमात्र परिवर्तन भी नहीं आता, ज्यों के त्यों निर्जीव से बने रहते हैं। केवल एक स्थल आता है जहां आंशिक रूप से चरित्र में विकास की स्थिति देखी जा सकती है। और वह है भानुकुमार के मानसिक द्वन्द्व की स्थिति। चन्द्रकला के रूप सौन्दर्य पर मुग्ध राजकुमार के मन में धर्म और काम का द्वन्द्व होता है। धर्मशील राजकुमार अन्तर में पैठे मदनाहत प्रेमी के सामने असफल हो जाता है। वह पूरा प्रयत्न करता है कि धर्म की रक्षा हो जाए— ऊहापोह की इस स्थिति में वह कुछ शक्ति अर्जित कर ही लेता है और कह उठता है, ... चन्द्रकला का पाणिग्रहण सुख मुझे यदि नीति की राह से न प्राप्त हो तो मैं भला, मेरा दारुण संताप भला, मेरे प्यारे जीवन का नाश भला।[3]

जहाँ तक चरित्र चित्रण के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रश्न है 'पूर्ण' जी ने परम्परा का ही पालन किया है। संस्कृत में हमारे यहाँ नायक विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष प्रियवंद, लोकप्रिय, शुचि, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतिवान्, प्रज्ञावान्, कलाज्ञान समन्वित, मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्र ज्ञाता, धार्मिक आदि गुणों से विभूषित होता है। 'चन्द्रकला भानुकुमार' का नायक धीर ललित नायकों की कोटि में आता है। खलनायक भी परम्परा को घोषित करता है। भँगेड़ी विदूषक का काम करते हैं। पात्रों का चरित्र चित्रण उनके संस्कारों के अनुरूप किया गया है। नायिका भी संस्कृत नाट्य परम्परा के सिद्धान्तों के अनुसार चित्रित है।

जहाँ तक चरित्रांकन की शिल्पविधि का प्रश्न है उन्होंने परम्परा का प्रयोग करने के साथ नवीन प्रयोग भी किए हैं। स्वगत, क्रियाव्यापार और संवादों के माध्यम से चरित्रांकन की शिल्पविधि उनके इस नाटक में पूर्णतया प्रयुक्त हुई है। स्वगतों की भरमार तो इस नाटक की अन्यतम विशेषता है। लगभग सात स्वगत कथनों की योजना इस नाटक में हुई है और यह स्वगत कहीं कहीं तो तीन पृष्ठों तक विस्तार पा गए हैं। इनके अतिरिक्त क्रिया-व्यापारों और संवादो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के माध्यम से भी चरित्रांकन किया गया है। भानुकुमार और चन्द्रकला की संगीत प्रियता उनके वीणावादन द्वारा और उनका कवित्व उनके द्वारा पढ़े गए काव्य-पदों से विदित होता है। भानुकुमार और प्रतापकुमार का वीरत्व युद्ध-भूमि में दर्शाया गया है। अतः अनेक कार्यव्यापारों द्वारा पात्रों का चरित्रांकन किया गया है।

संवादों के माध्यम से भी चरित्र-शिल्प की अभिव्यंजना हुई है। उदाहरण के लिए चन्द्रकला और भानुकुमार का प्रत्युत्पन्नमति सम्पन्न संवाद द्रष्टव्य हैं :

भा०— तो बताओ भला पहिले प्रेम किसे हुआ ?

चन्द्र०—जी नहीं ! पहिले प्रेमपत्र किसने लिखा ?

भा०—नहीं प्रिये। पहिले प्रेम कविता लिखकर किसने वृक्ष पर बांधी ?

चन्द्र०—नहीं प्राणनाथ ! पहिले दूती द्वारा प्रेम संवाद किसने भेजा ?

भा०—नहीं प्रेमस्वरूपे ! परस्पर धीरज रखने के लिए पहिले कपोती द्वारा पत्र व्यवहार का प्रबन्ध किसने किया ?

चन्द्र०—प्रेम व्यवहार के प्रचारक ! आप ही ने, परन्तु स्वामी, जंगल ही में दर्शन पाने के लिए उत्कंठित होकर पहिले घर से कौन निकल पड़ा ?

भा०—प्रेम वन विलासिनी ! मैं स्वीकार करता हूं। परन्तु श्री चन्द्रकलाधर जी के दर्शन के लिए पहले किसने यात्रा की ?

चन्द्र—स्वामी ! आप ही ने, क्या मैं आपसे जीत सकती हूं।

भानु और चन्द्र के इन संवादों से प्रेम की अनन्यता और पात्रों की वाग्विदग्धता की सफल अभिव्यक्ति हुई है। इसी तरह प्रतापकुमार और चन्द्रावली के संवादों से भी उनके चरित्र की सफल अवतारणा हुई है।

'पूर्ण' जी ने अपनी मेधावी प्रतिभा द्वारा नये प्रयोगों का भी साहस किया है जो चरित्रांकन पद्धति को चार चांद लगा देते हैं। भानुकुमार चन्द्रकला के बाग में छुप कर 'ललना-विहार' की लीला देख रहा है कि कौंधा बार बार लपकता है। भानुकुमार कौंधे के पुन: पुन: लपकने के कारणों पर विचार करता है और उसकी यह अवस्था अनगढ़ मनोवैज्ञानिक स्थिति का उद्घाटन करती है। अपने इस स्वगत में कभी तो वह चन्द्रकला के अपार सौन्दर्य का वर्णन करता है कभी अपनी विरह दशा का वर्णन करता है। यह चरित्र चित्रण की एक आरंभिक अकुशल प्रणाली है, जिसमें लेखक को इतनी सफलता नहीं मिली।[4] अपने धीर-ललित नायक भानु के चरित्र की रक्षा हेतु लेखक ने उस को छिपा हुआ दिखाया है और छिपे भानु के माध्यम से ही चन्द्रकला और स्वयं राजकुमार अपने चारित्रिक गुणों का उद्घाटन करता है। यद्यपि छिपा भानु हमें कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के दुष्यन्त की याद दिला देता है लेकिन 'पूर्ण' जी की मौलिकता इस नाटक में पूर्णरूपेण आच्छादित है। नवीनता के मोह ने नाटककार को कहीं कहीं असफलता भी दी है। युद्ध की सूचना सुनकर भानुकुमार का खून खौल उठता है तो वह कहता है कि वीर रस से उस का हृदय संक्षुब्ध हो रहा है।[5] चरित्रोद्घाटन की यह विधि अत्यन्त अकुशल है। चन्द्रावली कहती है, मेरे नेत्र सही लज्जा और आनन्द से झपक रहे हैं।[6]

अब प्रश्न उठता है कि पूर्ण जी की पात्र-परिकल्पना के पीछे उनका आधार क्या है ? उनकी पात्र परिकल्पना के पीछे उनका निजी दृष्टिकोण, विचार धारा, जीवन दर्शन और पूर्वाग्रह—इनमें से कौन सा तत्त्व अधिक क्रियाशील है। जहां तक मेरा विचार है 'पूर्ण' जी का निजी दृष्टिकोण ही उनकी पात्र संरचना का आधार है। सनातनी हिन्दु होने पर ही उन्होंने समस्त हिन्दु संस्कारों से अपने पात्रों को अनुप्राणित किया है। उनका विशेष प्रिय विषय श्रृंगार रस विवेचन है और इसी रस के अनुरूप उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रकला भानुकुमार जैसे सामन्ती पात्रों की अवतारणा की है। एक विलक्षण बात यह है कि 'पूर्ण' जी की पात्र संरचना न तो अपने पूर्ववर्ती और न परवर्ती नाटककारों से मेल खाती है। 'भारतेन्दु' जैसे नाटककारों ने अपने नाटकों का प्रमुख विषय समाज सुधार बनाया और द्विवेदी युगीन नाटककारों ने इतिहास को, लेकिन 'पूर्ण' जी ने अपने युग को वाणी देने की उपेक्षा कर साहित्यकार के कर्म को नहीं निभाया और न ही युगीन पात्रों की अवतारणा अपने इस नाटक में की है।

अतः स्पष्ट है कि उनके पात्र सजीव नहीं हैं। 'चन्द्रकला भानुकुमार' की चरित्र परिकल्पना गुण दोषों की कृत्रिम समष्टि पर आश्रृत है; सर्जन, संवहन और विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया से उद्भूत नहीं। चरित्र चित्रण की अपेक्षा 'रस' की अभिव्यक्ति का 'पूर्ण' जी ने अधिक ध्यान रखा है। नाटक से अभिव्यंजित होता है कि उनके पात्रों के आदर्श उनके भारतीय चिंतन से निर्मित हुए हैं। फिर भी कल्पित पात्र सृष्टि की स्पष्ट और ठोस मूर्ति गढ़ने के साथ साथ उनके वैविध्यपूर्ण मानसिक संस्कारों की झाँकी को प्रस्तुत करने में 'पूर्ण' जी पूर्णतः समर्थ हैं।

---

१ नाटककार अश्क, गोपालकृष्ण कौल, पृ० ७८

२ 'चन्द्रकला भानुकुमार,' पृष्ठ ११२

३ वही, पृष्ठ ३४

४ वही, पृष्ठ १२६—१२७

५ वही, पृष्ठ ९०

३ वही, पृष्ठ १३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सत्येन्द्र तनेजा,
८ टीचर्स फ्लैट्स,
हंसराज कालिज,
दिल्ली-११०००७

लहरों के राजहंस ; विविध आयाम*

अब समय आ गया है कि मोहन राकेश के नाट्य साहित्य का समुचित मूल्यांकन हो। इधर नाटककार राकेश पर दो-एक अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं परन्तु अलग-अलग नाटकों की स्वतंत्र एवं सर्वांगीण आलोचना नहीं मिलती। जयदेव की इस पुस्तक का प्रकाशन निश्चय ही एक प्रशंसनीय प्रयास है, परन्तु लेखक के सामने दो खतरे थे। पहला, रचना पाठ्य पुस्तक हो और उसका रचयिता प्राध्यापक हो तो सामान्य निष्कर्ष यही निकाला जाता है कि विद्यार्थी और परीक्षा को ही ध्यान में रखकर सुविधावादी दृष्टि से आलोचना की गई होगी। इस सिलसिले में मेरा अनुभव एवं मत यह है कि जयदेव ने शास्त्रीय या प्राध्यापकीय आग्रहों से बचते हुए गंभीर तथा संतुलित मूल्यांकन-पद्धति का आश्रय लिया। जयदेव हिन्दी रंगमंच के एक नियमित एवं प्रबुद्ध दर्शक तथा हिन्दी नाटक के गहन अध्येता तथा शोध-छात्र हैं। इससे उन्होंने एक ऐसी संतुलित मूल्यांकन दृष्टि अर्जित की है जिसे अब तक प्रचलित शब्दावली से 'साहित्यिक' और 'रंगमंचीय' खण्डों में अस्वाभाविक रूप से बांटा गया। असल में नाट्य दृष्टि और रंग दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में ही नाट्यानुभूति की सही पहचान और परख संभव है। जयदेव की यह उपलब्धि निश्चय ही उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण है जो हिन्दी नाट्यालोचन के लिए सही तथा स्वस्थ विकास की सूचना है। इसी वजह से जयदेव दूसरे खतरे से भी बच गए और उनकी आलोचना ६+३ तत्त्वों तक ही सीमित नहीं रही।

जयदेव ने 'लहरों के राजहंस' के विविध आयाम को समझने-पहचानने का प्रयास किया है। पुस्तक के १६ अध्यायों पर एक नजर डाली जाए तो उस के निम्न अध्याय—संरचना शिल्प, प्रतीकात्मकता, दीपाधार, भाषा, नाट्य-विडम्बना, रंगमंचीयता, मंच उपकरण, प्रस्तुतीकरण नाटक के रंग-अनुभव और रंग-प्रभाव को उजागर करते हैं। इस दिशा में लेखकों ने संवेदना के परिप्रेक्ष्य में नाटक की भाषा, संवाद, मंच-उपकरण, दीपाधार को देखा-परखा है। परिशिष्ट एक में विभिन्न प्रदर्शनों के सम्बन्ध में उपयुक्त जानकारी दी गई है। परिशिष्ट दो में संवाद-विश्लेषण, समग्र-विश्लेषण (संवाद संख्या तथा पंक्तियाँ) मंच-उपकरणों का उपयोग, बिंब तालिका का स्वतंत्र महत्त्व इस लिए है कि इनके माध्यम से कई निष्कर्षों की प्रामाणिकता पुष्ट होती है और कुछ सत्य नए प्रभाव से उजागर हुए हैं। जैसे, संवाद विश्लेषण से पता चला कि नाटक में सुन्दरी के कुल संवाद हैं २४६, पंक्तियां-६५६ जब कि नंद के कुल संवाद हैं १६१ तथा पंक्तियां-५३७। इन आंकड़ों के आधार पर यह अभिप्राय निकाला जा सकता है कि नाटक का प्रमुख पात्र नंद नहीं सुन्दरी है। खेद है कि पर्याप्त श्रम से तैय्यार की गई बिम्ब-तालिका के आधार पर नाटक की मूल संवेदना को समझने का यथेष्ट प्रयास नहीं किया गया। असल में ये आंकड़े पुनर्मूल्यांकन को नया वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं। जयदेव का यह प्रयास हिन्दी नाट्यालोचन को नया आयाम प्रदान करता है। इस प्रकार लेखक आंतरिक रंग तत्त्वों तथा बाह्य रंग तत्त्वों में व्याप्त अन्विति को समझने में, एक सीमा तक, सफल रहा है।

कथ्य के स्तर पर जयदेव ने 'लहरों के राजहंस' की सृजन-प्रक्रिया से लेकर चरित्रांकन, मनोविज्ञान,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता जैसे सभी पहलुओं पर विचार विमर्श किया है। इस संदर्भ में पुस्तक के दो अध्याय 'सम्बन्ध-विश्लेषण' तथा 'नाटय-विडम्बना' इस लिए उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनमें लेखक ने नये ढंग से सोचा-विचारा है। असल में 'नाट्य-विडम्बना' इस नाटक की खास-अलग विशेषता है जिसे सुन्दरी, नन्द, यशोधरा और गौतम के स्तर पर स्थापित करने में जैसे राकेश सफल रहे वैसे जयदेव सही समझाने में।

इस नाटक की मूल संवेदना को लेकर कुछ ऐसे सवाल जुड़े हुए हैं जिन पर अपेक्षित गहराई से नहीं सोचा गया। इस नाटक में राकेश संघर्ष को दो स्तरों पर निभाना चाहते थे, पहला ऐतिहासिक धरातल पर पार्थिव-अपार्थिव जीवन दृष्टि को लेकर तथा दूसरे ज़रा गहराई से आधुनिक धरातल पर, स्त्री-पुरुष के रिश्तों को लेकर। इस लिए यह स्थापित करने में आजकल जो अतिरिक्त गौरव महसूस किया जाता है कि नाटक का मूल द्वन्द्व केवल स्त्री-पुरुष को लेकर है, सही नहीं है। और सच यह है कि राकेश दोनों स्तरों पर संघर्ष के निर्वाह से तीव्र तथा सघन प्रभाव उत्पन्न करने में विफल रहे। तीसरे अंक में, विशेषत: चरम बिन्दु के अवसर पर सारी स्थिति हास्यास्पद हो गई। निश्चय ही इसका मूल कारण दोनों स्तरों पर संघर्ष निभाने का मोह है। यह विकट स्थिति पढ़ने पढ़ाने के समय इतनी उभर कर नहीं आती, इस बिखराव का पूरा एहसास नाटक-प्रदर्शन तथा रंग-प्रभाव के वक्त होता है।

राकेश के इस ऐतिहासिक प्रसंग को चुनने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह अवश्य रहा होगा कि बौद्ध धर्म और अस्तित्वादी जीवन दर्शन में कई समान विचार बिन्दु हैं। इन दोनों विचार धरातलों में व्यक्ति-अस्तित्व की स्वीकृति, दुःख एवं यातना का अभिशाप, गौतम से सिद्धार्थ की तलाश अपनी अस्मिता की तलाश है—ऐसे कई बिन्दु हैं जिन पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया। अस्तित्ववादी जीवन दृष्टि का सीधा और गहरा प्रभाव राकेश के व्यक्तित्व और चिंतन पर पड़ा। उसे केवल नंद तक जोड़ना सही नहीं। सच तो यह है कि भाषिक संरचना के आधार पर राकेश अस्तित्ववादी संवेदना व्यक्त करने में अधिक सफल रहे हैं।

जयदेव ने इस सवाल को कई बार उठाया है कि राकेश ने नारी को पार्थिव (भोगवादी) जीवन दृष्टि का प्रतीक बनाकर मध्ययुगीन मनोवृत्ति का परिचय दिया है। सांकेतिक और प्रतीकात्मक पात्र-व्यवस्था में नारी को धरती और प्रकृति तथा इस तरह पार्थिव दृष्टि से जोड़ना हमारी सांस्कृतिक-दार्शनिक चेतना के विपरीत नहीं है। इसी से सम्बंधित प्रश्न दीपाधारों का है जिसे भी व्यर्थ में उलझा दिया गया है। दोनों दीपाधार किसी पात्र विशेष से नहीं, पार्थिक-अपार्थिव जीवनदृष्टियों से जुड़े हुए हैं। यह आवश्यक नहीं कि सभी नारी पात्रों में पार्थिव दृष्टि हो और सभी पुरुष पात्रों में अपार्थिव। इधर यशोधरा और अलका तथा उधर श्वेतांग जैसे पात्र की कल्पना नाटककार के चिंतन की दृष्टि को स्पष्ट करती है। नाटककार केवल स्त्री-पुरुष तक नहीं, मनोवृत्तियों और जीवन दृष्टियों के द्वन्द्व तक पहुंचना चाहता है। प्रतीकात्मकता में 'झूला' के निहित अभिप्राय के सम्बन्ध में अलग मत रखता हूं। झूला उद्वेलन और उत्तेजना, विशेषत: काम भावनाओं का सूचक है। उसे मात्र द्वन्द्व तक नहीं सीमित किया जा सकता।

अपनी सीमाओं के बावजूद जयदेव ने बहुत परिश्रम से 'लहरों के राजहंस' के सभी पहलुओं पर साफ-सुलझे ढंग से सोचा-विचारा है। इस लिए यह अन्याय ही होगा अगर इस पुस्तक को केवल छात्रोपयोगी करार दिया जाए। जयदेव ने जिस संतुलित मूल्यांकन दृष्टि का परिचय यहां दिया है, वह निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

---

* **लहरों के राजहंस : विविध आयाम,** लेखक जयदेव तनेजा, : राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७५, मूल्य २२ रु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हस्तलेख-परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० हिम्मत सिंह जैन,
हिन्दी विभाग
गवर्नमैंट कालिज,
हिसार (हरियाणा)

अज्ञात कवि सुन्दर सिंह विरचित पंचाध्यायी

कवि परिचय:—सुन्दर कवि श्री नागरीदास जी महाराज के शिष्य थे।[1] ये गंगा के किनारे काशी में वास करते थे तथा साधु जीवन व्यतीत करते थे।[2] ये सं० १८७२ में विद्यमान थे। इसी काल में इस ग्रन्थ की रचना की गई।[3]

लेखक को संग्रहालय में इन के द्वारा रचित दो ग्रन्थ प्राप्त हुए (१) हुस्न चिमन (र० काल० सं० १८७०) (२) पंचाध्यायी (र० काल सं० १८७२)

स्वरूप तथा सामान्य परिचय :

पंचाध्यायी की हस्तलिखित प्रति श्री काशी नरेश का संग्रहालय, रामनगर में विद्यमान है। यह पुराने कागज़ पर लिखी गई प्रति है। यह प्रति स्वयं कवि द्वारा लिपिबद्ध की गई। इससे इस प्रति का महत्व बढ़ जाता है। इस प्रति का उल्लेख अभी तक किसी खोज विवरण में नहीं किया गया।

यह एक विस्तृत पुस्तक है। इसके आरम्भ में देव वन्दना तथा अन्त में फलश्रुति व संक्षिप्त कवि परिचय वर्णित है। ग्रन्थ पांच अध्यायों में विभाजित है। अध्यायों की समाप्ति की सूचना गद्य के स्थान पर पद्य में दी गई है।[4]

प्रबन्ध—सौष्ठव :

ग्रन्थ की कथा शृंखलाबद्ध तथा प्रवाहयुक्त है। कथा की गति कहीं भी धीमी नहीं पड़ती। इसमें प्रासंगिक घटनाओं का पूर्ण अभाव है। केवल मुख्य कथा ही आदि से अन्त तक वर्णित है।

कवि को गम्भीर तथा मार्मिक स्थलों की पहचान है। अतः उसने गोपी विरह वर्णन, रास वर्णन आदि स्थलों का जम कर वर्णन किया है तथा पतिव्रत धर्म के उपदेश के नीरस प्रसंग को केवल एक दो पंक्ति में ही वर्णन किया है।

कवि ने कथा की रूपरेखा भागवतपुराण से ग्रहण की है। अध्याय विभाजन भी उसी के अनुसार है। परन्तु कथा में स्थान २ पर परिवर्तन करके मौलिकता तथा कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। ग्रन्थ का आरम्भ ही नवीन ढंग से किया गया है। इस के आरम्भ में शरद् रात्रि के वर्णन के स्थान पर कृष्ण रूप वर्णन मिलता है। इसके पश्चात् वृन्दावन का वर्णन किया गया है। यह प्रसंग योजना श्रेष्ठतर है क्योंकि प्रेमिका को आकर्षित करने के लिए नायक का रूप तथा प्राकृतिक छटा दोनों की आवश्यकता होती है। भागवतपुराण में गोपियों द्वारा छोड़े गए गृह कार्यों की विस्तृत सूची है परन्तु हमारे कवि ने इन का किंचित मात्र भी वर्णन नहीं किया। भागवत के कृष्ण गोपियों के गर्व के कारण अन्तर्धान हुए परन्तु सुन्दर कवि ने इस का कारण प्रेम की उत्कंठा को बढ़ाना बताया है।[5] गोपियों द्वारा प्राकृतिक पदार्थों से कृष्ण का पता पूछने का प्रसंग वर्णन करके कवि ने भागवत पुराण का अनुकरण अवश्य किया है परन्तु इस वर्णन में भी कवि ने चमत्कार उत्पन्न करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। तथापि यह प्रसंग विस्तृत तथा एकरस होने के कारण सरस न बन सका। भागवत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराण में कृष्ण की सब लीलाओं की आवृति की गई है परन्तु सुन्दर कवि ने ऐसा नहीं किया।

चरित्र-अंकन :

कवि नायक तथा नायिकाओं के प्रेमपूर्ण हृदय का चित्र प्रस्तुत करने में पर्याप्त सफल रहा है।

कृष्ण—कृष्ण जी गोपियों से प्रेम करते थे तथा उन के रूप पर मोहित थे :—

चन्द्र मुखिन को रूप निहारैं,
हरि दोउ नयन की कोरैं।
ससि सो मनो लगाय रही,
टकटकी चकोरैं।[6]

उन का हृदय बहुत कोमल था। गोपियों की दशा देख कर तथा उन की विनती सुन कर शीघ्र ही उन का हृदय द्रवित हो गया :—

कोमल मधुर वयन वनितन के,
सुनि भयो चयन अयन हरि हियमें।
माखन चोर द्रवे माखन ज्यों,
प्रेम आँच लागी जब जिय में।।[7]

गोपियां:—इन के प्रेम की प्रशंसा में कवि के शब्द-हरि रस रंगी पगी हरि जस में भयो अति प्रेम रूंम रूंमन में"[8] द्रष्टव्य हैं। वे कृष्ण को देख कर प्रसन्न रहती हैं तथा उसके वियोग में वे कुम्हला जाती हैं। कृष्ण ही उन के सर्वस्व हैं :—

निरषि हरषि सुख से अति हियो,
सिरायो आनन्द पायो वनितन।
मनमथ को मनमथ मनमथ
जीत लियो रति को तन मन।[9]

कृष्ण के वियोग में वे विकल हो गईं। वे रुदन करती हुई विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों से अपने प्रेमी के विषय में पूछने लगीं :—

जलबुलबुला से अबला कहैं,
रहे तुम आंखि उघारे।
सुच्छ चक्रित भये चित्र कहू,
तुम लला निहारे।।[10]

वर्णन-कौशल :

कवि ने रास, जल विहार, प्रकृति तथा रूप का विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है। उसने अपनी कल्पना की सहायता से इन्हें सरस बना दिया है।

रास-वर्णन—इन के रास वर्णन में नृत्य तथा संगीत की प्रधानता है। इन्हों ने नीवी तथा कपोल स्पर्श आदि काम चेष्टाओं का किंचित मात्र भी वर्णन नहीं किया। कवि ने अनेक बार नृत्य करती हुई गोपियों का चित्र उपस्थित किया है :—

झूमि २ कर घूमि २ कर रूंम २ छवि सोहैं।
घूम २ कर भूम २ पर झूम २ मन मोहैं।।[11]

इन्होंने संगीत को भी शब्दों में बांधने का प्रयत्न किया है :—

तननन तननन तान तान लै अलापै।
दीमदी मदी मति लाने के सुरसों
ताल तान सुर भापै।।[12]

जल-विहार वर्णन:—कवि ने जलविहार का भी विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। जल में गोपियों के प्रतिबिम्ब का दृश्य द्रष्टव्य है :—

तिन के मुख अति सुख सोभा सैं,
जमुना जल के मांही।
जल में सोहैं अति मन मोहै,
मनो उडगण की छाही।।[13]

रूप-वर्णन:—इन का ग्रन्थ ही कृष्ण के रूप-वर्णन से आरम्भ होता है। कवि ने कृष्ण के सब अंगों की सुन्दरता का विस्तृत वर्णन किया है।

सुभ कानन की छांह सोंहाही
गंड कपोलनंमाही।
अति अचरज अद्भुत सोभा से
मंद मंद मुसकाहीं।[14]

प्रकृति-चित्रण:—कवि ने रास के उपयुक्त वृन्दावन का प्राकृतिक दृश्य उपस्थित किया है। इसमें उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है :—

कुसुम रेनु धूँधरि गुलाल ज्यों
वन २ बनन में छाई ।
गूंजैं मधुप मनो कुंजन में
बजैं बीन सहनाई ।।[15]

रस-परिपाक :

ग्रन्थ में शृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्ष चित्रित हैं।

संयोग:—रास में कृष्ण को निकट पाकर गोपियां प्रसन्न होती हैं। उन्हें कृष्ण ही सर्वाधिक प्रिय हैं।

कोउ हरि की भर नयन चयन
जिय में उपजावत ।
लपटानी सानी मधु सों,
मधुमाखी ज्यों सुखपावत ।।[16]

वियोग:—कवि ने गोपियों का विरह वर्णन दो प्रकार से किया है—भागवत पुराण का अनुकरण करके तथा स्वच्छन्द कल्पना द्वारा। पहले प्रकार के विरह वर्णन में केवल भागवत पुराण के शब्दों को चमत्कारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है—

सुनु सेवती देवती सेवती पग पत्र तुम्हारे ।
सेवती बदन मदन के,
सदन कहूं स्याम निहारे ।।[17]

दूसरे प्रकार के विरह वर्णन में कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इसमें गोपियों की विरह भावना को भली भाँति स्पष्ट किया गया है :

अमृत सानी वानी विनु,
जरत वरत हैं हिये हमारे ।
वरष सुधारस हम को पियावो,
हिय जुड़ावो पियारे ।।[18]

भाषा-शैली :

कवि ने परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इन की भाषा सरस, सरल, सजीव तथा रमणीय है। इस में भाव व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। इसमें माधुर्य गुण की प्रधानता है। इन की भाषा में गन्ने की भाँति रग २ में मिठास व्याप्त है।

कलप कोटि तक जो उपकार करों
तुम्हरो जनजनियां ।
सुनो सुखदनियां, मन की मनियां,
होहुं न कबहूं अरिनियां ।।[19]

उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने 'मन की मनियां' शब्दों को प्रयुक्त करके कृष्ण के प्रेमी हृदय को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है।

सुन्दर सिंह की भाषा साफ सुथरी तथा मंजी हुई है। इस में न तो प्रान्तीय बोलियों के शब्दों का बोल बाला है न ही उर्दू भाषा के शब्दों का प्रयोग। केवल एक स्थान पर कहिवो, लहिवो, सहिवो, दहिवो आदि बुन्देलखण्डी क्रियाओं का प्रयोग किया गया है[20] तथा दो पंजाबी भाषा के शब्द—हेठ तथा आखैं, प्रयुक्त है।[21]

कवि ने कई स्थानों पर शब्द-चित्र उपस्थित किए हैं, जिन से उन के भाषा अधिकार तथा कल्पना शक्ति का परिचय मिलता है—

ललित द्रुमन से लता,
प्रफुलित झुकि २ जल में रहियां ।
फूले कमल हंस लखि भूले
देखि ज्यों की त्यों छहियाँ ।।[22]

एक स्थान पर कवि ने अपने भाषाधिकार का दुरुपयोग भी किया है। निम्न प्रश्न गोपियों ने कृष्ण से पूछा। वह भी इस का उत्तर न दे सका। बेचारा पाठक इसमें उलझ जाए तो क्या आश्चर्य—

एक भजे की भजैं कोऊ,
एक भजे सो भाजैं ।
तजैं कोऊ दोउ को,
जेते कौन बिराजैं ।।[23]

छन्द-विधान :

कवि ने अपने ग्रन्थ में केवल एक ही छन्द का प्रयोग किया है। उस ने इसका नाम तोटक लिखा है परन्तु इस के किसी चरण में भी चार सगण नहीं मिलते, अत: यह तोटक छन्द नहीं हो सकता। इस के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकतर चरणों में २६ मात्राएं हैं। सम्भव है कवि ने मरहटा छन्द के प्रयोग का प्रयास किया हो। अनेक स्थानों पर मात्रा संख्या की बहुत न्यूनाधिकता मिलती है, जिस से लय में भी व्याघात पहुंचता है।

अलंकार-योजना :

कवि की अलंकरण के प्रति पर्याप्त रुचि है। अतः उस ने ग्रन्थ में स्थान २ पर अलंकारों का प्रयोग किया है। परन्तु इन से न तो कथा प्रवाह में कोई व्याघात पहुंचा है और न ही भाव-प्रेषण में। अपितु ये काव्य सौंदर्य की वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

काव्य में वर्णों की आवृति उत्पन्न करने का कवि ने अत्यधिक प्रयास किया। अतः उन के ग्रन्थ में अनुप्रास की छटा द्रष्टव्य है :

बोलन चलन हलन औ छलन हरि कैसो।
भलन मिलन दरसन उर परसन
हरस रस रसन जैसो ।।[24]
इत तुलसी विलसी हुलसी की
अतिहि सुगंध सोहाई।
उत्त कमोद अति मोद बढावत जाकी
वास सब के मन भाई ।।[25]

यमक के प्रयोग में भी कवि पर्याप्त सिद्धहस्त है। अनेक स्थानों पर यमक का मेल अनायास ही बन गया है :—

कमल वदन घन स्याम वरन
अति तरुन तरुन छवि छाजै।
भृकुटि मटक औ अलक लटक
दोउ छिटकि २ सुभ राजै ।।[26]
मनमथ को मन मथ मनमथ
जीत लियो रति को तन मन ।[27]

इसी प्रकार पुनरुक्ति प्रकाश के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं :—

संग २ फिरै अंग २ धरै
रंग २ भरै वनितन को।
उमंग २ रति पंगु २ दर्ग २ करै
जुवतिन को ।।[28]

कवि को उत्प्रेक्षा अलंकार अत्यधिक प्रिय है। उस ने कई नवीन उत्प्रेक्षाओं का भी प्रयोग किया है।

नंदलाला सुख पावत, लखि २
फूल २ गुलाला।
मनो फूली भूल तरुनाई,
अति सोभित नव वाला ।।[29]
नैनां खोल निमेख को भूल भूल २
हार ही को निहारै।
मनो वुलवुला टकटकी लाई,
जमुना कूल किनारे ।।[30]

इस प्रकार कवि को रूपक अलंकार भी प्रिय है, अतः इस का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है :—

दृग खंजन जल मिल पोछैं
अपने २ अंचल सों।
अधर पीकरद लीक लाल की
कपोल लगी चंचल सों ।।[31]

एक दो स्थानों पर प्रतीप भी प्रयुक्त है—

नासा अद्भुत छवि लखि शुक की
शुक अति गयो लजाई।
मसि भीनी २ छवि केर
उपै वर्नन जाई ।।[32]

कुछ स्थानों पर उदाहरण अलंकार का प्रयोग भी प्राप्त होता है :—

ज्यों विनु चन्द अति मंद २
उडगन मुरझैयां।
त्यों नंद नन्द गोबिंद विना व्याकुल
हो गैयां ।।[33]

अनुप्रास तथा दृष्टाँन्त की शोभा नि[illegible]
पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

पारस सरस परस तुरतहि,
लोहा कंचन[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान में हरि के दरश परस ते,
कहा अचरज जो मुक्ति को पावै ।[34]

निम्न पंक्तियों में रूपक तथा उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है :—

चन्दमुखी मुख चन्द चन्दनी,
ससि सी विकसी मानो ।
ताके परकास चलैं वहु चन्द
मनो निकसे जानो ।।[35]

निम्न पंक्तियों में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा प्रतीप एकत्रित हो कर काव्य सौंदर्य में वृद्धि करने के लिए उपस्थित हुए हैं:

सौ चन्द सहस चन्द से ताके
अंग अंग की सोभा ।
चन्द को मंद करैं निकसे,
विकसे मनोचन्द के गोभा ।।[36]

इसी प्रकार रूपक, उदाहरण तथा प्रतीप अलंकारों का प्रयोग भी एक साथ प्राप्त होता है :—

चन्द मुखिन के जोति के आगे,
जल के कमल मुरझाने ।
पूरन चन्द की जोति के सन्मुख,
ज्यों उड़गन सकुचाने ।।[37]

अत: कवि को अलंकारों के प्रयोग में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है ।

---

१ हरि गुरु मैं पल वलिजाऊँ, तिन किरपाते हरि गुन गाऊँ ।
श्री नागरी दास महाराज, हरि भक्तन और कवित्त सिरताज (हुस्न चिमन)

२ गंगा तीर के नीरे २ संत समागम भीरैं २ तामधि वैठि कै रस वरषाये, सुन्दर दोउ की सरस जस गाये ।
श्री काशी में अति परकासी, उजियासी रस जस अविनासी (पंचाध्यायी)

३ संवत अठारह सै वनत्तर, लिखी गई पोथी यह पवित्तर फागुन मास चौदस उजियारी लिखी दो दिन में [illegible] सारी वही, अन्तिम पद

४ तीसवों भयो सुभग, अध्याय रास को रन ।
व्रजवनि[illegible] की विलास, कथा तामें सपूंरन २/९९

५ मधुर अति मधुर जो खात निरन्तर यदपि स्वाद उपजावत ।
मधिर २ कछू तिक्त खाये ते, अधिक सवाद वढावत ।। (२/१)

६ प[illegible]ी १/७०

७ [illegible] पृ० १/८९

८ [illegible] पृ० १/५४

९ वही, पृ० १/१३०

१० वही, पृ० २/२२

११ वही, पृ० ५/१६

१२ वही, पृ० ५/२९

१३ वही, पृ० ५/७८

१४ वही, पृ० १/५

१५ वही, पृ० १/९६

१६ वही, पृ० ४/२५

१७ वही, पृ० २/९

१८ वही, पृ० ३/१३

१९ वही, पृ० ३/४२

२० वही, पृ० १/८४

२१ वही, पृ० २/८७ तथा ५/२८

२२ वही, पृ० ५/६७

२३ वही, पृ० ५/३६

२४ वही, पृ० २/६५

२५ वही, पृ० १/९९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६ वही, पृ० १/३

२७ वही, पृ० २/१०३

२८ वही, पृ० ४/२०

२९ वही, पृ० १/४३

३० वही, पृ० ५/८०

३१ वही, पृ० १/९७

३२ वही, पृ० १/७

३३ वही, पृ० २/८

३४ वही, पृ० १/५७

३५ वही, पृ० २/२६

३६ वही, पृ० २/९०

३७ वही, पृ० ५/७०।

पुस्तकालय
111502
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-विषय
जनवरी १९७६ से सितम्बर १९७६ तक

संख्या	नाम	विषय
१.	सरोज बंसल	हिन्दी नाटकों के नारी पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन १९७४ से १९७५ तक
२.	उमा रानी	बदलते सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में हिन्दी नाटक : प्रसाद से मोहन राकेश तक
३.	सुदेश सहगल	हिन्दी और अंग्रेजी के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन
४.	इन्द्रा रानी	राज कवि शम्भू एवं उनका काव्य
५.	वीणा नरुला	प्राणनाथ के साहित्य का अध्ययन : मध्यकालीन हिन्दी भक्ति काव्य के संदर्भ में
६.	कान्ता अरोड़ा	हिन्दी कहानी का मूल्यांकन विशिष्ट : बोध और समष्टि बोध के सन्दर्भ में (१९५० से १९७५ तक)
७.	प्रेम कोटिया	१९६० उत्तरी हिन्दी कहानी, 'स्व' के अनुसन्धान के विशिष्ट सन्दर्भ में
८.	किरण सहगल	आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावादेत्तर स्वच्छन्दतामूलक प्रवृत्तियां
९.	ईश्वरीदत्त	भघाटी बोली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-(प्रबन्ध) जनवरी से सितम्बर १९७९ तक

संख्या	शोधक का नाम	विषय
१.	प्रेम प्रकाश शर्मा	हिन्दी तथा उर्दू मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन
२.	सुरेन्द्र गुप्ता	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति
३.	चन्द्र कुमारी	Intelligence reports of the British and other species as available in Hindi (19th century) (with special reference to the hitherto unknown and unpublished Hindi works and papers such as "Akhbar Dourhi Ka" (Ms) etc.
४.	दर्शन कुमार	A descriptive study of the Western Pahari Dialect Kandiali as spoken in the North East Hills of District Gurdaspur
५.	रंजना खेत्रपाल	छायावाद काव्य में लाक्षणिकता
६.	कृष्णा जोशी	कश्मीरी और हिन्दी गीति काव्य का तुलनात्मक अध्ययन (१५०० से १९०० तक)
७.	रविन्द्र कौर वालिया	महादेवी के काव्य में सामाजिक चेतना का स्वरूप (इनके गद्य के सन्दर्भ में)
८.	भूपेन्द्र सिंह	आनन्दघन: व्यक्तित्व एवं कृतित्व (गुरुवाणी व्याख्या की परम्परा के विशिष्ट सन्दर्भ में)
९.	हरचरण कौर	जयशंकर प्रसाद के साहित्य में प्रेम और सौन्दर्य का स्वरूप
		डी० लिट्० उपाधि
	त्रिलोक चन्द तुलसी	परिवेश, मन और साहित्य

चौबीसवां अंक नवम्बर १९७९

मूल्य : पांच रुपया

प्रकाशक तथा वितरक

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

डॉ० धर्मपाल मैनी द्वारा सम्पादित और रंगशाला प्रिन्टर्स २०१७, १५-सी, चण्डीगढ़ द्वारा मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

111502

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri